जागरण

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का १६१वाँ पुष्प

जागरण

साहस, सनसनी, दर्द और प्रेम से लबालब भरा
राष्ट्रीय उपन्यास

लेखक

श्रीनाथसिंह

(भूतपूर्व संपादक सरस्वती, बाल-सखा, देश-दूत और
हल एवं वर्तमान संपादक दीदी)

मिलने का पता—

भारती(भाषा)-भवन

चर्खेवालाँ, दिल्ली

सं० २०१२ वि० | पंचमावृत्ति | मूल्य ५)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ
२. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ टोली, पटना
३. सुधा-प्रकाशन, भारत-आश्रम, राजा बाज़ार, लखनऊ
४. वेस्टर्न बुकडिपो, रेज़िडेंसी रोड, नागपुर—१
५. राजस्थान पुस्तक-मंदिर, त्रिपोलिया, जयपुर

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
अर्जुनसिंह बी० ए०
राजस्थान आर्ट प्रिंटर्स, अजमेर

अपनी स्वर्गीया माता
की
स्मृति
में

वक्तव्य

(पंचमावृत्ति पर)

ठाकुर श्रीनाथसिंह हिंदी के श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक, कहानी-लेखक, आलोचक, कवि और पत्रकार हैं। सरस्वती, बाल-सखा, हल, देश-दूत और दीदी का वह सफलता के साथ संपादन कर चुके हैं। हमारे अनुरोध पर उन्होंने गंगा-पुस्तकमाला के लिये यह सुंदर उपन्यास लिखा था। हर्ष की बात है, हमें इसकी पंचमावृत्ति ९ वर्ष के अंदर ही छापनी पड़ी।

हम प्रयत्नशील हैं कि उनसे लिखाकर और भी पुस्तकें पाठकों की भेंट करें। 'सोमनाथ' और 'कवि और क्रांतिकारी' नाम के दो श्रेष्ठ उपन्यास उन्होंने अभी हाल में हमारे लिये लिखे हैं, जो प्रकाशित हो गए हैं।

कवि-कुटीर, लखनऊ
दशहरा, २०१२

दुलारेलाल

भूमिका

कहते हैं, जब हमारे पूर्वज ऋषियों को ईश्वरीय ज्ञान का पहलेपहल बोध हुआ, तब उन्होंने वेदों की रचना की। जब हज़रत मुहम्मद को ईश्वरीय प्रेरणा हुई, तब उन्होंने क़ुरान शरीफ़ का सृजन किया, और जब ईसा को अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई, तब हमारे सामने वह उपदेश आया, जो संसार में 'बाइबिल' के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपन्यास भी एक ऐसा ही स्वप्न है, जो आज से तीन वर्ष पूर्व एक दिन मेरे मस्तिष्क में एकाएक उदय हुआ। यद्यपि मैं इसे कोई ईश्वरीय ज्ञान, दैवी प्रेरणा या अंतर्बोध न कहूँगा, तथापि मैं इसे वेद, क़ुरान या बाइबिल से कम महत्त्व नहीं देना चाहता। उस युग में उनका जो स्थान था, वही इस युग में उपन्यासों को मिलना चाहिए। यह उपन्यासों का ही युग है।

इस उपन्यास को एक सुंदर स्वप्न की भाँति देख तो मैंने एक क्षण में लिया, पर इसका रूप स्थिर करने में मुझे लगभग तीन वर्ष लगे। इसकी सारी कथा, इसके सब पात्र, इसके समस्त विचार तब तक मेरे मस्तिष्क में लहराते रहे, जब तक मैंने इसे लिख नहीं डाला। यदि मेरा सारा समय अपना होता, देवताओं की भाँति मुझे भूख, प्यास, थकान आदि का अनुभव न होता, तो मैं इसे जब तक समाप्त न कर लेता, अपनी मेज़ न छोड़ता; पर स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताओं के कारण मैं ऐसा न कर सका, और थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिन लिखता रहा। लगभग ढाई महीने तक रात को जब मैं सोता, तब इस उपन्यास के पात्र और इसकी साहस, सनसनी, दर्द और प्रेम से भरी घटनाएँ मेरे सामने सजीव होकर आतीं, और प्रातःकाल

उठने पर मैं उन्हें लिख डालता। इस प्रकार जब तक मैं इसे लिखता रहा, एक नवीन संसार में विचरण करता रहा, और मुझ पर एक विचित्र प्रकार का नशा छाया रहा।

तात्पर्य यह कि जैसे ऋतुएँ आती हैं, जैसे फूल खिलते हैं, जैसे उनसे प्रभावित होकर पक्षी गाते हैं, वैसे ही यह उपन्यास भी भारत की आधुनिक समस्याओं को छूनेवाला एक स्वाभाविक आवेग है। मुझे विश्वास है, जो इसे पढ़ेंगे, वे इस पर मुग्ध हुए बिना न रहेंगे।

इलाहाबाद
२१-३-३७

श्रीनाथसिंह

---

[१]

सर कृपाशंकर शर्मा में एकाएक एक अजीब परिवर्तन हो गया था। उनकी गिनती संसार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों में की जाती थी, और उनका जीवन-चरित्र स्कूलों में लड़कों को ख़ास तौर से पढ़ाया जाता था, जिससे वह उनके चरित्र-निर्माण में सहायक हो। उन्होंने चार बार सारे संसार की यात्रा की थी, और भारतीय दर्शन-शास्त्र के संबंध में अपने व्याख्यानों से सारे संसार को चकित कर दिया था। पेरिस, रोम, लंदन, न्यूयार्क, मास्को, टोकियो, सर्वत्र उनकी चर्चा थी। यह सब होते हुए भी इधर कई दिन से वह बहुत चिंतित हो उठे थे। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा था, जैसे उनका सारा जीवन व्यर्थ गया। अफ़सोस कि यह अनुभव उन्हें तब हुआ, जब उनकी दाढ़ी का एक-एक बाल सफ़ेद हो गया था, और विश्व के लिये वह अपना अंतिम संदेश तैयार कर चुके थे।

इसी उधेड़-बुन में वह अपने सदा के बैठने के कमरे में एक गद्दीदार कुर्सी पर बैठे हुए थे। सामने की खिड़की खुली थी। उसके बाहर स्वच्छ बालुका-राशि के बीच से बहती हुई यमुना की पतली धार मानो इस नीरस संसार में उनके सरस विचारों की तस्वीर-सी खींच रही थी, और पार की हरियाली के ऊपर से उठता हुआ बाल रवि मानो उनके तेज की उन्हें याद दिला रहा था। और दिन होता, तो इस प्रकार की कल्पना उन्हें परम सुख प्रदान करती, पर आज इस प्राकृतिक दृश्य को देखकर वह और भी अशांत हो उठे। यमुना तृषितों के लिये शीतल जल लिए जा रही थी। हरियाली पल्लवित और कुसुमित हो रही थी, तथा सूर्य प्रकाश फैलाता हुआ ऊपर उठ रहा था। तीनो अपना परिचय अपने कार्यों द्वारा दे रहे थे। पर

कृपाशंकर ने संसार को अपना परिचय केवल अपनी वाणी द्वारा दिया। ओह! वह कितने दंभी और पाखंडी हैं। उन्हें अपनी सारी ख्याति खोखली जान पड़ी। उन्होंने अपनी आँखें बंद कर लीं, और ऐसा जान पड़ा, जैसे वह छिपने के लिये संसार का कोई अत्यंत अंधकारमय कोना तलाशने में लीन हों।

इसी समय उनकी एकमात्र पुत्री रुक्मिणी ने चाय और टोस्ट लेकर कमरे में प्रवेश किया। सामने की पड़ी छोटी मेज पर जल-पान का यह सामान रखते हुए उसने ज़ोर से पुकारा—"पिताजी!"

सर कृपाशंकर ने आँखें खोल दीं। रुक्मिणी ने एक खाली प्याले में उनके लिये चाय डालते हुए कहा—"समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि बहुत देर से बैठे हैं। आपका अंतिम संदेश माँग रहे हैं।"

"उनके पास ले जाकर उसमें दियासलाई लगा दो, और कहो कि पिताजी का यही अंतिम संदेश है। और, यह भी कहो कि मैं आज की तारीख से कभी किसी पत्र-प्रतिनिधि से नहीं मिलूंगा।"

सिर से खिसकती हुई साड़ी ठीक करते हुए और कलाई पर बँधी घड़ी में समय देखते हुए रुक्मिणी ने कहा—"आपको क्या हो गया है।"

"ज्ञान।"

लगभग एक सप्ताह पहले उनके अंतिम संदेश की पांडुलिपि पर विवाद छिड़ने पर रुक्मिणी ने कहा था—"यह जीवित साहित्य का रूप कदापि नहीं ले सकता। यह सुंदर है, आकर्षक है, लोगों को चमत्कृत कर सकता है, पर वैसे ही, जैसे रंगमंच पर किसी अभिनेता का नाट्य या जिमखाने में किसी पहलवान का शारीरिक बल-प्रदर्शन।" उस दिन से उसने देखा था कि उसके पिता में कुछ परिवर्तन हो गया है। उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे उसने अपने प्यारे पिता को व्यर्थ कष्ट पहुँचाया है। उसने अपने लिये भी दूसरे प्याले में चाय उँडेलते हुए कहा—"जान पड़ता है, मेरी उस दिन की बात से आपको कष्ट पहुँचा है। मेरा तात्पर्य............"

सर कृपाशंकर ने एक आधा खाया हुआ टोस्ट मुंह के पास ले जाते हुए कहा—"नहीं-नहीं, पगली! तू परेशान मत हो। मैं स्वयं इधर बहुत दिनों से सोच रहा हूँ कि वास्तविक विचार वह है, जिसे मनुष्य अपने कार्यों द्वारा प्रकट करता है। परंतु अपने जीवन में ऐसा प्रयोग करने से पहले मैं तेरी ओर से निश्चिंत हो जाना चाहता था। अब वह समय ज्यों-ज्यों क़रीब आता जाता है, एक नया जीवन आरंभ करने की मेरी इच्छा भी प्रबल होती जाती है। पिछले दिनों की मेरी मानसिक स्थिति का यही कारण है।"

"मेरी ओर से आप निश्चिंत हो जाना चाहते थे।" रुक्मिणी ने पिता के इस वाक्य को दोहराया, और इस पर आश्चर्य-सा प्रकट किया।

सर कृपाशंकर ने चाय का एक घूंट पीने के पश्चात् कहा—"हाँ, इसमें आश्चर्य की क्या बात है।"

"क्या आप समझते हैं कि मैं अपनी जीवन-नौका अपने आप चलाने में असमर्थ हूँ? क्या प्राचीन आदर्श के अनुसार आपका भी यह मत है कि पिता, पति और पुत्र के रूप में स्त्री का कोई-न-कोई सहायक अवश्य होना चाहिए?"

"सिद्धांत के रूप में मैं इस बात को नहीं मानता।"

"परंतु मेरे संबंध में?"

"तू अभी बिलकुल भोली है। तुझे अकेला छोड़ने में मुझे भय लगता है।"

रुक्मिणी कुछ उत्तेजित-सी हो गई। वह कमरे में इधर-उधर टहलने लगी। सामने की खिड़की से यमुना की ओर दृष्टिपात करने के बाद घूम-कर उसने कहा—"मेरे मार्ग में भी एक बहुत बड़ी बाधा है।"

सर कृपाशंकर ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा। रुक्मिणी ने आगे कहना शुरू किया—"आपके इस प्यार से मैं ऊब उठी हूँ। जान पड़ता है, आप मुझे स्वाधीनता-पूर्वक कुछ करने ही न देंगे।"

रुक्मिणी ने सामने की खिड़की से फिर यमुना और दूर तक फैली हुई शून्य प्रकृति की ओर देखा। जैसे वह उस शून्य से अपनी स्वर्गीया माता का आह्वान कर रही हो, जिसका यह विश्वास था कि लड़कियाँ लड़कों से किसी बात में कम नहीं होतीं, जो रुक्मिणी को प्रत्येक कार्य स्वाधीनता-पूर्वक करने देती थी, और जो कहा करती थी—"मेरी रुक्मिन बड़ी समझदार है। बड़े-बड़े कार्यों की जिम्मेदारी इसके ऊपर सौंपी जा सकती है।"

फिर उसने उस दिन का ध्यान किया, जब उसकी माता ने शरीर त्याग करने से पूर्व सर कृपाशंकर को और उसे अपने बिस्तर के पास बुलाकर कहा था—"रुक्मिन! मैं तेरे बाप को तेरे हाथों में सौंपती हूँ। इन्हें यह नहीं मालूम कि कब सोना चाहिए, कब जगना और कब खाना चाहिए, कब नहाना। कहने को यह तेरे बाप हैं, पर इन्हें उतना भी शऊर नहीं, जितना तेरे छोटे भाई को था, जो स्वर्ग पहुँच गया, और जिसके पास मैं जा रही हूँ। इन्हें देखना। यह भूखे न रहने पावें। मैले कपड़े पहनकर कहीं न जाने पावें।"

रुक्मिणी की आँखों में आँसू आ गए। उसने घूमकर कहा—"यदि अम्मा जीवित होतीं।"

सर कृपाशंकर के सामने भी वह दृश्य नाच गया। उन्होंने लड़की को अपने पास बुलाया। जब वह उनके नजदीक आई, तब उन्होंने उसका हाथ पकड़कर उसे अपने और भी निकट खींचा, और उसके गाल पर पिता के पूर्ण स्नेह के साथ एक हलकी थपत जमाते हुए कहा—"पगली! तेरी मा ने मुझे तेरे हाथों में और तुझे मेरे हाथों में सौंपा था। तूने मुझे कोई तकलीफ़ नहीं होने दी। तूने अपना कर्तव्य निबाहा, पर मेरा भी तो कर्तव्य है? क्या तेरी मा जीवित होती, तो वह तेरे ब्याह की बात न सोचती। साठ वर्ष के इस सफ़ेद दाढ़ीवाले आदमी को जो तू बिलकुल बच्चा समझे हुए है, यह क्या तेरा अत्याचार नहीं? क्या तू समझती है कि तू ससुराल चली जायगी, तो मैं भूखों मर जाऊँगा?"

"आप यह कैसे समझते हैं कि मैं आपके कारण ब्याह नहीं करना चाहती। आप यह क्यों नहीं सोचते कि स्त्री को भी अपने इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। मुझे आपके पास रहने, आपके कार्यों में योग देने में सुख मिलता है। आप मुझे उस सुख से वंचित क्यों करना चाहते हैं?"

"इसलिये कि मैं अब ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ, जिसमें मुझे तेरी जरूरत बिलकुल न पड़ेगी। अब जीवन के जो क्षण बाक़ी हैं, उनमें मैं अपनी देख-भाल अपने आप करना चाहता हूँ। इसलिये यदि मैं तेरी ओर से निश्चिंत होकर नवीन जीवन आरंभ करने की बात सोचूँ, तो उसमें तुझे क्यों आपत्ति हो।"

रुक्मिणी जैसे और भी उत्तेजित हो उठी। उसने नाश्ते के थाल को छोटी मेज से उठाकर नीचे फ़र्श पर रखते हुए कहा—"फिर वही बात! आप कहें, तो मैं इस खिड़की से कूदकर प्राण दे दूँ, और आप निश्चित हो जायँ। मैं कम-से-कम वर्तमान परिस्थिति में अपने ही लिये नहीं, किसी भी युवती के लिये ब्याह करना आत्महत्या समझती हूँ। सच बात यह है कि मुझे ब्याह करने की फ़ुरसत नहीं। मैंने बड़े-बड़े काम सोच रक्खे हैं।"

इसी बीच में एक नौकर आया। उसने बड़े अदब से सर कृपाशंकर के सामने एक चिट रक्खी, और फ़र्श पर रक्खा थाल उठाकर दबे पावों चला गया।

रुक्मिणी ने चिट देखते हुए उस नौकर को पुकारकर कहा—"उनसे कहो, थोड़ी देर अभी और ठहरें।"

नौकर दूसरे कमरे में जा चुका था। उसने वहीं से कहा—"बहुत अच्छा बीबी।" परंतु सर कृपाशंकर ने उसे और भी जोर से पुकारकर कहा—"नहीं, उनसे कहो, जायँ। मैं किसी से नहीं मिलूँगा।"

रुक्मिणी ने नौकर को फिर डाटकर कहा—"अभी ठहर।"

इसके बाद वह सर कृपाशंकर से बोली—"मैंने सबको आज आने के लिये समय दिया था। मेरा ख़याल था, आपका संदेश आज पत्र-प्रतिनिधियों को दिया जा सकेगा।"

"परंतु बेटी! ज़रा सोच। अंतिम संदेश अब यह कैसे हो सकता है? मेरा अंतिम संदेश वह होगा, जिसे मैं अपने कार्यों द्वारा प्रकट करूँगा।"

"यह तो ठीक है। लेकिन जब एक चीज़ आपने तैयार कर ली है, तब उसे प्रकाशित करने में हर्ज ही क्या है? आख़िर लोगों को कुछ-न-कुछ पढ़ने को तो चाहिए ही। जिन मस्तिष्कों से विचार निकलकर जन-साधारण का पथ-प्रदर्शन करते हैं, वे सब अक्रिय हो जायँ, तो संसार फिर वहीं पहुँच जाय, जहाँ से आरंभ हुआ था।" सर कृपाशंकर की आँखें जैसे एक विचित्र आनंद से चमक उठीं। वह बोले—"और वह समय कितना सुंदर हो। शताब्दियों से एक ग़लत मार्ग पर चलते-चलते मनुष्य को जो कटु अनुभव हुए हैं, उनसे वह लाभ उठावे, और एक नए संसार की रचना आरंभ हो।"

इसी बीच में बग़ल के कमरे में टेलीफ़ोन की घंटी बज उठी। रुक्मिणी दौड़कर वहाँ गई।

"कौन, श्रीमती रुक्मिणीदेवी?"

"हाँ।"

"सर कृपाशंकर का अंतिम संदेश क्या हो सकता है, इसका अनुमान हमारे एक सहायक ने लगाया है, और वह आज के पत्र में छपने जा रहा है। मैं चाहता हूँ, आप उसे सुन लें।"

"इससे लाभ?"

"कोई भद्दी भूल होगी, तो निकल जायगी।"

"आपका यह कार्य बहुत उपहास-जनक होगा, क्योंकि पिताजी का अंतिम संदेश अब निबंध-रूप में नहीं, कार्य-रूप में जनता के सामने पहुँचेगा।"

रुक्मिणी ने टेलीफ़ोन रख दिया, और अपने पिता के पास पहुँचकर उन्हें संक्षेप में इस बातचीत का आशय सुना दिया।

सर कृपाशंकर अत्यंत गंभीर हो उठे। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् बोले—"बेटी! यह असत्य है। मैं इस कृत्रिम जीवन से अब ऊब उठा हूँ। मैं छिपकर यहाँ से भाग जाना चाहता हूँ, और ऐसी जगह जाकर अपना नूतन प्रयोग करना चाहता हूँ, जहाँ इनकी पहुँच न हो। परंतु ...."

रुक्मिणी ने बीच में बात काटकर कहा—"परंतु मैं पहले इस खिड़की से कूदकर प्राण दे दूँ, जिससे आप मेरी ओर से निश्चिंत हो जायँ। क्यों? पर ऐसा न होगा। मैं अभी जीवित रहना चाहती हूँ। जैसे आज तक मैं आपके साथ रही हूँ, वैसे ही आगे भी रहूँगी। आप अपने आदर्शों को कार्यों द्वारा प्रकट करेंगे, तो उसमें मैं आपकी और भी सफल सहायिका सिद्ध होऊँगी।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"यह ठीक है। पर तुम तो नवयुवक सेठ लक्ष्मीचंद को वचन दे चुकी हो कि उसके साथ विवाह करोगी। वह कल आ रहा है। वह लिखता है, उसे तुम्हारी अनुमति मिल चुकी है। वह सिर्फ़ मेरी स्वीकृति चाहता है।"

रुक्मिणी के सामने वे दिन नाच गए, जब सर कृपाशंकर उसे इँगलैंड के एक गाँव में, एक अँगरेज़ी परिवार में, छोड़कर जेनेवा की एक महत्त्व-पूर्ण सभा में भाग लेने चले गए थे, और उसी गाँव में छुट्टी मनाने के लिये बहुत-से भारतीय नवयुवक आए थे, जिनमें लक्ष्मीचंद भी था। दोनो की भेंट एक बोट-रेस की समाप्ति पर हुई थी। और, उसके बाद उसे वह घड़ी याद आई, जब समुद्र-तट, दूर तक फैली हुई फेनिल जल-राशि, स्वच्छ चाँदनी और मादक संगीत तथा नृत्य के बीच वह अपने जीवन का समस्त उद्देश्य, तर्क और विवेक खो बैठी थी।

रुक्मिणी एक विचित्र प्रकार के गंभीर चिंतन में लीन हो गई। उसे जान पड़ा, जैसे वही समुद्र का किनारा और वही फेनिल जल-राशि लिए

लक्ष्मीचंद चला आ रहा है, और उसके कान के पास मुँह ले जाकर अत्यंत मंद स्वर में कह रहा है—"मुझे भूलोगी तो नहीं।" रुक्मिणी सिर हिलाती है। जिसका कदाचित् यह अर्थ है कि क्या यह संभव हो सकता है। दूसरे ही क्षण उसने अपने पिता की देव-समान आकृति देखी, और उसके हृदय का समस्त बिकार पवित्र श्रद्धा के रूप में परिणत होकर पिता के चरणों में निछावर हो गया। उसने कहा—"हाँ, उस समय मुझे कोई काम नहीं था, लक्ष्मीचंद के पास भी कोई काम नहीं था। हम आनंद की खोज में निकले थे, और वह मादक घड़ी थी। हम दोनों अपना विवेक खो बैठे। परंतु अब मैंने अपने जीवन का उद्देश्य स्थिर कर लिया है, और लक्ष्मीचंद के भी हृदय में महत्त्वाकांक्षाएँ हैं। मैं उसे समझा दूँगी।"

रुक्मिणी यह कहने को तो कह गई, पर उसे जान पड़ा, जैसे लक्ष्मीचंद को जीवन से सर्वथा निकाल फेंकना वैसा आसान नहीं, जैसा उसने सोच रक्खा था। फिर भी वह और न बोली, और दृढ़ता-पूर्वक उसने मुख्य विवाद पर आने की चेष्टा की।

सर कृपाशंकर ने संक्षेप में अपनी पुत्री से बतलाया कि वह किस प्रकार किसी ऐसे गाँव में—जिसके निवासी अपढ़, दरिद्र, पीड़ित और जीवन से हताश हो बैठे हों—अज्ञात रूप से बस जाना चाहते हैं, और उनकी सब कठिनाइयाँ अपने ऊपर ओढ़कर उन्हें बता देना चाहते हैं कि इन कठिनाइयों से वे किस प्रकार ऊपर उठ सकते हैं।

रुक्मिणी प्रेम, करुणा और सेवा की साक्षात् मूर्ति थी। दूसरों की दुःख-कथा सुनते ही वह द्रवित हो उठती थी। उसने विलायत के गाँव तो देखे थे, पर भारत के गाँव न देखे थे। जैसे विलायत में शहरों के लोग गाँवों में आमोद-प्रमोद के लिये जाते हैं, वैसे ही भारत में नहीं जाते, क्योंकि यहाँ के गाँवों की वैसी स्थिति नहीं। न रहने के लिये अच्छे मकान, न पीने के लिये साफ़ पानी, न खाने के लिये स्वच्छ और ताजी वस्तुएँ। गंदगी, ग़रीबी और बीमारी का इतना जोर कि गाँवों के निवासी, जो थोड़ा भी

धनी होते हैं, शहरों में आकर रहते हैं, और गाँव उजाड़ होते जाते हैं। गाँवों के संबंध में इन सब बातों को उसने सुन रक्खा था, पर अपनी आँख से देखने का अवसर उसे कभी नहीं मिला था। उसने सोचा, नरक में परिणत होते हुए भारतीय गाँवों में से किसी एक में बसकर उसे स्वर्ग बना देना कितना सुंदर होगा। और एक गाँव के स्वर्ग बन जाने पर उसकी देखा-देखी और भी गाँव अपने आप सुधर जा सकते हैं। उसने कहा—"पिताजी, बेशक! इससे बढ़कर इस समय देश और राष्ट्र की सेवा का दूसरा काम नहीं हो सकता। पर मुझे आप साथ न लेंगे, तो आपका काम पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि गाँवों में स्त्रियाँ भी तो रहती हैं। उनकी हालत और भी खराब है। मुझे देखकर वे जानेंगी कि स्त्री का जीवन निरा क़ैदी का जीवन नहीं है। वह भी अपने दिल और दिमाग़ से काम ले सकती है।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"अच्छी बात है। मैं इस पर विचार करूँगा।"

रुक्मिणी प्रसन्नता से चंचल-सी हो उठी। वह कमरे में इधर-उधर फिरने लगी। इसी बीच में नौकर फिर वहाँ एक चिट लेकर उपस्थित हुआ।

सर कृपाशंकर ने कहा—"इन पत्र-प्रतिनिधियों से बचकर निकल जाना मुश्किल है। इनसे कैसे पिंड छूटेगा?"

रुक्मिणी ने कहा—"ये आते हैं, क्योंकि हम लोग इन्हें बुलाते रहे हैं। जब हम अपने कार्य-क्षेत्र को संकुचित बना लेंगे, तब ये स्वयं ही हमारे पास न आवेंगे, क्योंकि ये कहाँ समाएँगे। मैं अभी जाकर इन्हें समझाए देती हूँ।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"देखो, मेरे गाँव में बसने की बात इनसे बिलकुल न कहना। इन्हें उसका जरा भी न सुराग़ लगे, नहीं तो ये कदापि न मानेंगे। इनका दल-का-दल हमारे साथ चलेगा। इनकी देखा-देखी

और भी सैकड़ों तमाशबीन चलेंगे। इस प्रकार हमारा किसी गाँव में बसना और कुछ कर सकना संभव न होगा।"

"नहीं-नहीं, मैं कुछ नहीं कहूँगी।"

रुक्मिणी जाने लगी। सर कृपाशंकर ने कहा—"ज़रा मेरा वह संदेश ले जाकर इनके सामने जला दे, और कह दे कि अब वे मुझे मरा हुआ समझें।"

"उसे जलाऊँगी नहीं। आपका यह नया कार्य समाप्त होने पर उसे प्रकाशित करूँगी, क्योंकि तब लोग उसे वास्तव में समझ सकेंगे।"

सर कृपाशंकर ने बेटी से और बहस करना उचित न समझा, क्योंकि वह जानते थे कि वह हठी लड़की है। रुक्मिणी एक कमरे से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में होती हुई उस स्थान पर पहुँची, जहाँ पत्र-प्रतिनिधि लोग क़तार-की-क़तार कुर्सियों पर बैठे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जैसे कोई चिड़िया जब बाहर से चारा लेकर आती है, और घोंसले में बैठे उसके बच्चे अपनी चोंच खोलकर चूँ-चूँ करके उसकी ओर दौड़ते हैं, वैसे ही ये पत्र-प्रतिनिधिगण उसे चारो तरफ़ से घेरकर खड़े हो गए, और तरह-तरह के प्रश्न करने लगे। रुक्मिणी ने किसी के प्रश्न का उत्तर न देकर मुस्किराते हुए केवल इतना कहा—"पिताजी का अंतिम संदेश वह होगा, जिसे वह अपने कार्यों द्वारा प्रकट करेंगे। अरे, वह संदेश समाचार-पत्रों के पाठकों के लिये नहीं, बल्कि उनके लिये होगा, जिन्होंने कभी समाचार-पत्र नहीं पढ़े, न पढ़ ही सकते हैं।"

पत्र-प्रतिनिधिगण अवाक्-से रह गए। उन्होंने फिर नए-नए प्रश्न शुरू किए। क्या वह गृह-त्यागी हो जायँगे, और गाँवों का भ्रमण करेंगे? क्या शहर में जो इक्कों, ताँगों, मेहतरों और धोबियों आदि की हड़ताल हो रही है, उसका वह नेतृत्व ग्रहण करेंगे? क्या वह मजदूरों और किसानों का कोई संघ स्थापित करेंगे? ये और ऐसे ही बहुत-से प्रश्नों के उत्तर में रुक्मिणी ने मुस्किरा दिया और कहा—"मैं कुछ नहीं कह सकती। अधिक-से-अधिक आप समझ सकते हैं कि अब वह सार्वजनिक जीवन से विश्राम ग्रहण करने जा रहे हैं।"

रुक्मिणी उन्हें नमस्कार करके जाने को हुई कि एक पत्र-प्रतिनिधि ने चिल्लाकर कहा—"श्रीमतीजी, यदि गुस्ताख़ी माफ़ हो, तो एक बात और पूछ लूँ, जो आपके पिता से नहीं, बल्कि आपसे संबंध रखती है।"

"पिता के जीवन से भिन्न मेरा कोई जीवन नहीं है।"

"तो न पूछूँ?"

"पूछिए।"

"ख़बर है कि पिछली बार जब आप विलायत में थीं, तब सेठ लक्ष्मी-चंद ने आपसे विवाह का प्रस्ताव किया था, और आपने उसे स्वीकार कर लिया था, पर अपने पिता की स्वीकृति पर अंतिम निर्णय छोड़ दिया था। क्या यह सच है कि कल वह इसी संबंध में आ रहे हैं? यह भी ख़बर है कि इससे आपकी और उनकी बिरादरी में बड़ी हलचल मची है, क्योंकि यह आपकी और उनकी जाति में प्रथम अंतरजातीय विवाह होगा।"

रुक्मिणी के चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की लज्जा की लाली दौड़ गई। पर अपने मनोभावों को दबाने की चेष्टा करते हुए उसने कहा—"मेरे लिये यह बिलकुल नया समाचार है।" उसने जोर से हँसने की चेष्टा की। सब पत्र-प्रतिनिधि भी हँस पड़े। इसके बाद वे उसका अभिवादन करके आपस में बहुत-सी बातें करते हुए चले गए। रुक्मिणी अपने पिता के कमरे की ओर चली, और उसे जान पड़ा, जैसे लक्ष्मीचंद अनंत फेनिल जल-राशि और मादक संगीत लिए उसे पकड़ने चला आ रहा है। पर उसने अपने मन को समझाया कि वह एक स्वप्न था, जो अब दुबारा नहीं दिखाई पड़ेगा।

---

[२]

स्नान के पश्चात् कंधे से एँड़ी तक मलमल का एक महीन चोग़ा पहने हुए रुक्मिणी ने अपने शृंगार के कमरे में प्रवेश किया। कमरे में चारो ओर लगे बड़े दर्पणों ने उसकी विविध आकृतियाँ दिखाकर उसका स्वागत किया। उसने एक मेज़ के सामने खड़ी होकर उस पर रक्खी घंटी बजाई। एक साथ दो सेविकाएँ वहाँ दौड़ती हुई आईं। अभी कमरे में कुछ अँधेरा था। एक सेविका ने बटन दबाया, और विद्युत्-प्रकाश के रूप में कमरा खिलखिलाकर हँस-सा पड़ा। दूसरी सेविका ने उसके पीछे एक कुर्सी रख दी, जिस पर बैठते हुए उसने कहा—"आध घंटे के अंदर मुझे तैयार हो जाना चाहिए।"

सेविकाएँ उसके केश दुरुस्त करने में लग गईं। वह स्वयं अपने सुंदर चेहरे पर सुगंधित और त्वचा को स्पर्श करते ही अदृश्य हो जानेवाले लेप लगाने लगी। उसने भौंहों और बरौनियों पर काला ब्रुश चलाया, और ओठों पर लाली दौड़ाई। एक-एक करके उसने अपने समस्त नाख़ूनों को देखा, और उन पर भी लाल और श्वेत ब्रुश चलाया। इसी बीच में सेविकाएँ केश सँवारकर उसे एक दिव्य पोशाक पहना चुकी थीं। क्या-क्या पहनना है, यह वह पिछली रात को ही तय कर चुकी थी, और सेविकाओं को हिदायत कर चुकी थी, इसलिये उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। जब कुछ पहनने को बाक़ी न रह गया, तब उसने कमरे में इधर-उधर घूमने के बाद एक अपने बराबर दर्पण में अपने आपको देखा। हलके पीले रंग की रेशमी साड़ी—जिस पर गहरे काले रंग की अगणित तितलियाँ अंकित थीं, जिनके पंखों पर चाँदी के महीन तारों की बिंदियाँ उसके उज्ज्वल दाँतों की उसे याद दिला रही थीं—उसे बहुत ही भली प्रतीत हुई। काले और पीले रंग

का यह बड़ा ही मनोमोहक मिश्रण था। आधी बाहों तक आकर उसकी रोमावली में अदृश्य-सा हो जाता हुआ जंफर भी बिलकुल उसी वस्त्र का था, जिसकी साड़ी थी। उसके पैरों में ऊँची एँड़ी के न्यूयार्क से हाल ही में ख़ास तौर से मँगाए गए काले बूट शोभायमान थे। और, ऐसा जान पड़ता था, मानो साड़ी से ये काली तितलियाँ उतर-उतरकर उसका चरण-स्पर्श करने के लिये इन्हीं बूटों में समाती जाती हों, और उन्हें और भी काला बना रही हों। उसका शरीर तो साड़ी में छिप गया था, पर शरीर का सौंदर्य इस पोशाक से उतना ही स्पष्ट हो उठा था, जितना साड़ी के अंदर के वस्त्र। उसकी एक उँगली में अँगूठी, कानों में सरसों के समान महीन मोतियों की तीन लड़ियोंवाले इयररिंग और गले में बड़े-बड़े मोतियों की एक माला थी, जिसकी सफ़ेदी उसकी साड़ी पर अंकित तितलियों की श्वेत बिंदियों से कुछ भिन्न थी।

दर्पण में अपने आपको इस प्रकार देखने और नाख़ूनों को फिर से ठीक करने के बाद रुक्मिणी ने एक सेविका को नहाने के कमरे से घड़ी लाने और दूसरी को कार निकलवाने के लिये भेजा।

वह अपने चिर-परिचित मित्र कराची के नवयुवक सेठ लक्ष्मीचंद को लेने जा रही थी। दिल्ली में उनके आने का यह प्रथम अवसर था। पहले रुक्मिणी ने सोचा था कि वह सर्वथा सादी पोशाक में जायगी, और पोशाक के संबंध में उसने सेविकाओं को कोई हिदायत नहीं की थी, पर लेटते समय न-जाने एकाएक क्या सूझा कि उसने उन्हें बुलाकर हिदायतें दे दीं। उसके हृदय में दो स्वर्ग बन और बिगड़ रहे थे। एक ओर नर-कंकालों, ढही दीवारों और सड़े फूस के झोपड़ों में परिणत हुए वे गाँव थे, जिनमें किसी समय कृष्ण की वंशी बजी थी, जिन्होंने किसी समय राम का, उनके वन-गमन के समय, स्वागत किया था, और जिन्होंने गौतम बुद्ध को इतना आकृष्ट किया था कि वह महलों का सुख छोड़कर उनमें चले गए थे। दूसरी ओर सेठ लक्ष्मीचंद और उनकी अपार संपत्ति थी। दोनो उसे एक-से सुंदर और

विमुग्धकारी प्रतीत हुए। वह किधर जाय? पिता के साथ जाकर इन उजड़े गाँवों को फिर बसावे, जिससे भारत के भावी राम, कृष्ण और बुद्ध वहाँ फिर दिखाई पड़ने लगें, या इस कवि-कल्पना को जहाँ-की-तहाँ छोड़कर साक्षात् कृष्ण के रूप में आए हुए लक्ष्मीचंद के हाथों में आत्मसमर्पण कर दे, और उनके साथ इस संसार के सुखों का उपभोग करे।

अपने हृदय में विचारों का द्वंद्व लिए हुए वह अपने पिता के कमरे की ओर बढ़ी। एक सेविका ने घड़ी लाकर दी, जिसे उसने कलाई पर बाँध लिया, और दूसरी ने आकर कहा—"कार तैयार है।"

दोनों कुछ दूर उसके साथ जाकर लौट आईं।

सर कृपाशंकर सदा की भाँति अपने कमरे में पहुँच चुके थे, और भारत के एक विशाल मानचित्र को एक ओर से खोल और दूसरी ओर से बंद करके वह गाँव ढूँढ़ने में लगे थे, जिसमें उन्होंने अपना शेष जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया था। सामने की खिड़की खुली थी, और उसके पार से यमुना उनका अभिवादन कर रही थी। पिता को देखते ही सेठ लक्ष्मीचंद और उनकी अपार संपत्ति उसके हृदय से निकलकर, उसी खिड़की से, जैसे यमुना में जा गिरी, और उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे खिड़की के नीचे उसकी ओर हाथ बढ़ाए असंख्य नर-कंकाल खड़े हैं, जिन्हें दोनों हाथों से पकड़े वह परी के समान स्वर्गलोक को उड़ी चली जा रही है। उसने अपने आपसे कहा—"यही जीवन है, और लोग जिसे विवाह कहते हैं, वह वास्तव में मृत्यु है।"

उसने यह बात यद्यपि अपने आपसे कही थी, तथापि उसके पिता के कानों में पड़ गई। उस समय अपनी कल्पना के सहारे वह एक गाँव में पहुँच चुके थे। उन्होंने घूमकर पुत्री की ओर देखा, और मुस्किराकर कहा—"जान पड़ता है, तू पागल हो जायगी। अरे भाई, मत ब्याह करना, बस।"

रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे उसने यह पोशाक पहनकर कोई बड़ी भूल कर डाली है, पर उसके पिता का ध्यान इधर नहीं था। वह उसे अच्छी

ही पोशाक में देखने के आदी थे। उन्होंने कहा—"लक्ष्मीचंद को लेने जा रही हो?"

"हाँ। पर आपके लिये चाय ला दूँ।"

"नहीं, मैं मँगाकर पी लूँगा।"

"तब हमारा इंतिजार कीजिएगा। मैं शीघ्र ही उन्हें लेकर आऊँगी।"

"मुझे बंधन में मत डाल। ऐसा ही है, तो मैं दुबारा चाय पी लूंगा।"

सर कृपाशंकर ने रुक्मिणी को अपने पास खींचकर, उसके गाल पर एक चपत जमाई, उसे अपने हृदय से लगाकर उसका सिर सूंघा, और मुस्किराते हुए उसे बिदा किया।

खट-पट करती हुई रुक्मिणी वहाँ से चली। सेविकाएँ उसके पीछे दौड़ीं। नौकर जो जहाँ मिले, वहीं मुस्तैद होकर खड़े हो गए कि शायद कोई आज्ञा मिले। बाहर शोफ़र कार झाड़-पोंछकर दुरुस्त कर चुका था। रुक्मिणी को देखते ही उसने आगे की बैठक के लिये द्वार खोल दिया। रुक्मिणी ने कार में बैठकर हैंडिल पर हाथ रक्खा। बसंत-ऋतु का आरंभ था। अभी कुछ सर्दी थी। रुक्मिणी ने ज़ोर से कहा—"कोट।"

सेविकाएँ, जो पास ही खड़ी थीं, दौड़ पड़ीं, और आस्ट्रेलिया का बना हुआ काँगरू के रोओं का उसका प्यारा हाफ़ कोट ले आईं। रुक्मिणी ने उसे धारण किया।

ड्राइवर ने पूछा—"मैं भी चलूं?"

"कोई जरूरत नहीं।" कहते हुए रुक्मिणी ने मोटर चला दी, और उनकी नजरों से ओझल हो गई।

सर कृपाशंकर ने रुक्मिणी को बहुत उच्च कोटि की शिक्षा दिलाई थी। इसके अतिरिक्त संसार के विभिन्न भागों का भ्रमण करने और विभिन्न समाजों का उनमें घुल-मिलकर अनुभव करने से उसका ज्ञान

बहुत बढ़ गया था। अभी उसकी अवस्था बीस वर्ष की भी न हुई थी। इस अल्प काल में ही उसने अपने ज्ञान से विद्वानों को चमत्कृत कर दिया था। पर दिल्ली में वह अपने अपार सौंदर्य के लिये विख्यात थी। और आज, जब वह प्रातःकालीन कमल के समान खिली हुई अपने घर से निकली, मार्ग में जिसने भी उसे देखा, वह क्षण-भर को देखता ही रह गया। कतिपय पुलिस के सिपाही, जिनका काम सवारियों के आवागमन का नियंत्रण करना होता है, उसे देखते ही अपने कार्य में चूक-से गए।

दिल्ली के विशाल स्टेशन पर पहुँचते ही उसने कार निश्चित स्थान पर खड़ी कर दी, और तुरंत उसके बाहर निकलकर अपनी घड़ी की ओर देखा। गाड़ी आने में अभी दो मिनट की देर थी, द्रुत गति से वह स्टेशन के अंदर बढ़ी। देखनेवालों को ऐसा जान पड़ा, जैसे एक नवविकसित लतिका, जिस पर अगणित तितलियाँ मँडरा रही हों, हवा में कहीं से उड़ी चली आ रही है। जैसे ही वह प्लेटफ़ार्म पर पहुँची, पश्चिम की ओर से गाड़ी भी आ गई, मानो उसे देखते ही एंजिन अपना काम भूल गया, जिससे गाड़ी की गति मंद हो गई। प्लेटफ़ार्म पर खड़ी क़ुलियों की क़तार रेल के डिब्बों में रक्खे हुए माल-असबाब की ओर झपटी, और मुसाफ़िर चढ़ने-उतरने का उपक्रम करने लगे।

लक्ष्मीचंद गौर वर्ण का शिष्ट, सुंदर और साहसी नवयुवक था। उसकी अवस्था २५ वर्ष के लगभग थी। व्यायाम द्वारा उसने अपना शरीर बहुत मोटा होने से बचाया था। जिस फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे में वह बैठा था, उसी में एक भारतीय डॉक्टर अपनी तीन युवा पुत्रियों, एक छोटे पुत्र और पत्नी के साथ दिल्ली आ रहे थे। लक्ष्मीचंद मार्ग में इस मंडली का मनोरंजन करता हुआ आ रहा था। उसने उन तीनो युवती बहनों को अपनी ओर अत्यधिक आकृष्ट कर लिया था। वे मंत्र-मुग्ध-सी उसकी विनोद-भरी बातें सुन और समझ रही थीं। स्टेशन अभी बहुत दूर है। इस बातचीत के बीच में ही एकाएक उसे कोट पहनकर प्लेटफ़ार्म पर कूदते देख-

कर वे चौंक-सी पड़ीं। खिड़कियों से सिर निकालकर उन्होंने देखा, प्लेटफ़ार्म पर एक परम सुंदरी युवती ने अपने सौंदर्य का प्रकाश फैला रक्खा है। उनका मार्ग का साथी नव-आविष्कृत मृत्यु-किरण के सम्मुख पड़े हुए वायुयान की भाँति आकाश से पृथ्वी पर पहुँचकर निश्चेष्ट खड़ा है। वे प्रातःकालीन चाँद-तारों की भाँति अप्रतिभ होती हुई इस जोड़े से दूर निकल गईं, और बिदा होते समय लक्ष्मीचंद से कहने के लिये जो सुंदर वाक्य उन्होंने हृदयों में बना रक्खे थे, वे उनके मन ही में रह गए।

इकहरे बदन की दुबली-पतली नारी होते हुए भी रुक्मिणी ने अपने अपार सौंदर्य से प्लेटफ़ार्म की भीड़ को दहलाकर मछली के सत्रास चंचल और हंस के समान मंद गति से लक्ष्मीचंद के मानस-सर में प्रवेश किया। लक्ष्मीचंद ने उसके अपनी ओर बढ़े हुए हाथ को अपने हाथ में लेकर उसकी कोमल उँगलियों को मृदुल भाव से चूमते हुए कहा—"आज जीवन में यह पहला अवसर है, जब तुम मेरा इस प्रकार स्वागत करने आई हो!"

"पहला और अंतिम।" रुक्मिणी ने मुस्किराने की चेष्टा की।

कुछ क्षण उसकी मनोहर छवि देखने और कुछ सोचने के बाद लक्ष्मीचंद ने कहा—"पहला तो ठीक है, पर अंतिम क्यों? क्या वर्तमान की भाँति भविष्य को भी स्पष्ट देखना संभव है?"

"क्यों नहीं, दोनो अपने हाथ में हैं।"

"या यह कहो कि दोनो अपने हाथ में नहीं हैं।"

"मनुष्य की प्रवृत्ति और प्रयत्न के अनुसार दोनो बातें ठीक हो सकती हैं।"

"प्रयत्न का फल कभी-कभी बिलकुल उल्टा होता है।" लक्ष्मीचंद ने अत्यंत जिज्ञासा-भाव से इसका उत्तर पाने के लिये रुक्मिणी के अरुण अधरों की ओर देखा। उसके मन में आया कि उन पर एक मृदुल चुंबन अंकित कर दे, पर वह स्थान और अवसर उपयुक्त न था।

रुक्मिणी उसके मन का भाव समझ गई। उसकी आँखों के सामने स्निग्ध चाँदनी-युक्त वह फेनिल जल-राशि नाच गई, जिसे साक्षी बनाकर लक्ष्मीचंद ने अपने भविष्य को, बनाने या बिगाड़ने के लिये, उसके हाथों में सौंप दिया था। उसकी इस मानसिक परवशता पर उसे दया आई, और स्टेशन से बाहर निकलते हुए कहा—"प्रेम का उद्देश्य एक दूसरे को स्वकर्तव्य-पालन में सहायता देना है।"

"धन्य है उपदेशकजी! धन्य है!!" कहते हुए लक्ष्मीचंद ने हँसने की चेष्टा की।

क़ुलियों ने लक्ष्मीचंद का चमड़े के दो बक्सों में बंद असबाब और बिस्तर मोटर कार के पीछे बाँधा, और फुटकर वस्तुएँ उसके अंदर रख दीं। रुक्मिणी के हाथ से मुँह-माँगी मजदूरी पाकर बरसाती रात में विद्युत् की टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों से प्रकाशित बादलों की भाँति क्षणभर को प्रफुल्लित होकर वे फिर गंभीर हो गए, और वापस लौट गए।

रुक्मिणी ने कार चलाना शुरू किया, और लक्ष्मीचंद आगे की ही सीट पर उसके बग़ल में बैठा हुआ उस दिन की कल्पना करने लगा, जब रुक्मिणी के साथ उसे इसी प्रकार देश के विविध भागों में बिखरे हुए कल-कारख़ानों के बीच से चलने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

पर उसे ऐसा दिन असंभव-सा प्रतीत हुआ, क्योंकि रुक्मिणी ने उसके इस सुखद स्वप्न को भंग करते हुए कहा—"मिस्टर सेठ! मुझे दुःख है, पर दुःख का साहस के साथ सामना करने का ही नाम सुख है, कि मेरा और आपका यह अंतिम मिलन है। अंतिम इसलिये कि मैं अपने पिता के एक नूतन प्रयोग में उनकी सहायता करने के लिये एक अज्ञात स्थान में, अज्ञात रूप से, निवास करने जा रही हूँ। वहाँ आप न पहुँच सकेंगे, और मैं आपको न देख सकूँगी। मेरी सहायता कीजिए, जिससे मैं आपके वियोग को धैर्य-पूर्वक सह सकूँ।"

लक्ष्मीचंद इधर-उधर देखने लगा। रुक्मिणी के मुख से ऐसी बातें सुनने के इरादे से वह नहीं आया था। उसका हृदय बैठ-सा गया। फिर भी शक्ति-संचय करके उसने गंभीरता-पूर्वक कहा—"रुक्मिणी! तुम एक महापुरुष की पुत्री हो। तुम्हारा निर्माण एक बलिष्ठ आत्मा के उच्च विचारों से हुआ है। मैं एक साधारण व्यापारी का पुत्र हूँ, जिसने कभी मस्तिष्क से काम लेना नहीं जाना। मैं केवल हाड़-मांस से बना हूँ। मैं तुम्हारी दृष्टि से संसार को कैसे देख सकूँगा।"

रुक्मिणी सामने का मार्ग देखने का बहाना करती हुई चुप रही। स्टेशन के द्वार से पश्चिम की ओर चलकर अब ये लोग उत्तर को मुड़े थे, और उस पुल पर से गुज़र रहे थे, जिसके नीचे रेल की दर्जनों लाइनें बिछी थीं, और कई एंजिन गतिमान् थे। पूर्व की ओर दूर वह डाक गाड़ी अब भी खड़ी थी, जिस पर लक्ष्मीचंद आया था। प्लेटफ़ार्म ख़ाली था। केवल ख़ोंचे-वाले इधर-उधर घूम रहे थे। लक्ष्मीचंद ने रुक्मिणी के मुख की ओर देखा, और दूर प्लेटफ़ार्म पर खड़ी उस गाड़ी की ओर। दोनो उसे छोड़कर दो दिशाओं की ओर जाती हुई प्रतीत हुईं। क्या अच्छा होता, वह दिल्ली न आता, और यदि आया भी था, तो उस गाड़ी से न उतरता। उस पुल और स्टेशन के बीच में क़तार-के-क़तार खड़े सिगनल मानो उसकी इस मुसीबत का उपहास कर रहे थे, और बाहें उठाए कह रहे थे—"वह जा रहा है वह आदमी, जिसे एक युवती ने निराश किया है।"

लक्ष्मीचंद ने आगे कहना आरंभ किया—"मैं जानता हूँ, सर शंकर संयम और अखंड ब्रह्मचर्य के प्रचारक हैं। इस संबंध में तुमने उनसे सलाह ली होगी, और उन्होंने तुम्हारे सामने अपना सिद्धांत रक्खा होगा।"

"क्या अच्छा होता, यदि बात ऐसी ही होती।"

"तब क्या मैं समझूँ कि तुम्हें तुम्हारी ही आदर्श कल्पना बहा ले गई है?"

"स्त्री को भी अपने सामने एक आदर्श रखने और उस पर चलने का अधिकार है।"

"बेशक है। पर रुक्मिणी! एक दूसरा पहलू भी है, जो इतना उपेक्षणीय नहीं।"

"हो सकता है।"

"हाँ, मैं इस बात को नहीं मानता कि शरीर को कष्ट देने, सांसारिक सुखों का त्याग करने से ही आत्मा को आनंद मिलता है। आत्मा शरीर से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है।"

"ठीक है। परंतु जो लोक-कल्याण की बात सोचता है, उसे तो सर्व-साधारण के सुख-दुख को अपना सुख-दुख बनाना ही होगा। मनुष्य के इस साधारण और स्वाभाविक काम को आप त्याग, तप, शारीरिक कष्ट-सहन, चाहे जिस नाम से पुकार सकते हैं।"

"रुक्मिणी! मेरे और तुम्हारे बीच में आदर्शों की यह जो नवीन दीवार उठ रही है, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था। यह तो मैं समझ सका था कि तुम ब्राह्मण की कन्या हो, और मैं वैश्य का पुत्र। मेरा-तुम्हारा एक गृहस्थी बनाकर रहना कदापि संभव नहीं। इसीलिये मैंने अपने अंदर की आग सामाजिक बेबसी की राख के नीचे दबा रक्खी थी। तुमने अपनी अनुकूल चितवन से उस राख को उड़ा दिया, और जब आग भड़क उठी, तब मुझे उस पर फिर राख रखने का उपदेश देती हो। अनेक प्रेमियों के साथ नव-युवतियों को मैंने यह खेल खेलते देखा है, पर मैं समझता था, तुम सर्वथा भिन्न हो।"

लक्ष्मीचंद रुक्मिणी के जितना निकट पहुँच सकता था, पहुँच गया। उसने अपने दोनो हाथों से उसकी कोमल बाहुओं के ऊपर से कार का हैंडिल पकड़ लिया। उसके शरीर-स्पर्श की मदिरा से उन्मत्त होकर बोला—"रुक्मिणी! इस जीवन की गाड़ी को हम-तुम मिलकर चलाएँ। यदि हमारे भाग्य में साफ़-सुथरा मार्ग न हो, तो ऊबड़-खाबड़ खेतों से ही सही। बस, एक अज्ञात दिशा की ओर चलने दो। ओहो! सामने का विशाल वृक्ष देखो, जान पड़ता है, मार्ग रोके खड़ा है। हमारे-तुम्हारे जीवन के मार्ग में इसकी स्थिति सर शंकर की-सी है। जिस प्रकार यह कार इस वृक्ष से टकराकर चूर-चूर हो जा सकती है, उसी तरह हमारे-तुम्हारे जीवन की गाड़ी सर शंकर के उच्च आदर्श से टकराकर चूर-चूर हो जायगी। रुक्मिणी बचकर किसी तरह निकल चलो। यह जीवन यों ही नष्ट कर देने की वस्तु नहीं है।"

लज्जा से रक्ताभ हुए रुक्मिणी के कपोल पर उसने बल-पूर्वक एक चुंबन अंकित करने का प्रयत्न किया, जिसका रुक्मिणी ने दृढ़ता के साथ विरोध किया। कार को उत्तर-पूर्व की ओर, यमुना के किनारे बने सर कृपाशंकर के बँगले, जाना था। चुंबन द्वारा रुक्मिणी के प्रति अपना आंतरिक अनुराग प्रकट करने में असमर्थ होने पर लक्ष्मीचंद ने कार को विपरीत दिशा में घुमाने का यत्न किया। इसमें उसे सफलता मिली। कदाचित् रुक्मिणी ने भी इसका बहुत विरोध नहीं किया।

अब वे कई सड़कों पर चलने के बाद उस पहाड़ी पर चढ़े, जो मैदान से ज़रा ही ऊँची थी, और वसंत के आगमन से विकसित असंख्य वन-झाड़ियों और वृक्षों से ढकी थी। यह अत्यंत निर्जन मार्ग था। कार क्रमशः ऊपर चढ़ती हुई उस स्थान पर पहुँची, जहाँ एक चबूतरे पर कहीं से लाकर अशोक की एक लाट के प्रस्तर-खंड फिर से जोड़कर खड़े किए गए थे। लक्ष्मीचंद ने उसे देखने की इच्छा प्रकट की। इससे कार कुछ पीछे ही रोककर वे दोनो पैदल वहाँ गए।

रुक्मिणी ने कहा—'आइए, सम्राट् अशोक की इस लाट के नीचे हम यह प्रतिज्ञा करें कि हम भी अपना जीवन उसी सम्राट् की भाँति लोक-सेवा में लगाएँगे।"

लक्ष्मीचंद ने कहा—"यहाँ हम अपने प्रेम को ऐसा ही अमिट बनाने की शपथ क्यों न लें।" उसने रुक्मिणी की ओर अत्यंत विनीत भाव से देखा।

विकसित पहाड़ी-झाड़ियों से भीनी सुगंध आ रही थी। दूर पर कोयल बोल रही थी। रुक्मिणी के मन में आया कि वह एक बार लक्ष्मीचंद से कह दे कि मैं तुम्हारी हूँ, पर दूसरे ही क्षण उसे अपने पिता और उनके नूतन प्रयोगों का ध्यान आया। वह सूर्य की ओर पीठ करके लाट की छाया में चबूतरे पर बैठ गई। उसने एक दीर्घ निःश्वास ली। लक्ष्मीचंद ने उसके बग़ल में बैठते हुए कहा—"रुक्मिणी, ज़रा सोचो। यह मधु-मास, यह निर्जन स्थान और तुम्हारा यह उपेक्षा-भाव!"

रुक्मिणी ने अपने मनोभाव को दबाते हुए कहा—"मिस्टर सेठ! जिसे आप प्रेम कहते हैं, वह उन लोगों का विनोद है, जिन्हें कमाने की चिंता नहीं, और जिनके पास खाने-पीने की कमी नहीं। मैंने माना, हम लोग भी इसी वर्ग के प्राणी हैं, पर हमने अपने जीवन का एक उद्देश्य बना दिया है। यदि हमारा-तुम्हारा प्रेम उस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक होगा, तो वास्तविक प्रेम न होगा, और उसका नशा उतर जाने पर हम दोनों एक दूसरे से घृणा करेंगे।"

"रुक्मिणी! घृणा!! तुम और मैं!!!" लक्ष्मीचंद ने अत्यंत आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"तुम स्त्री नहीं हो, इसलिये स्त्री की दृष्टि से प्रेमी नवयुवक की मनः-स्थिति देख नहीं सकते। कितने ही नवयुवक मेरी ओर आकृष्ट हुए, पर सबने मुझसे यही अनुरोध किया कि मैं जल्दी-से-जल्दी उनकी पत्नी बन जाऊँ, नहीं तो वह प्राण दे देंगे। और किसी रूप में उन्हें मेरा अस्तित्व सह्य न था। पर मुझे पत्नी न बना सकने पर उन्होंने किसी-न-किसी अन्य युवती को, प्राण देने की धमकी देकर, अपने क़ाबू में कर लिया है, और मैं देखती हूँ, मेरे बिना उन्हें कोई कष्ट नहीं है।"

"तो तुम यह समझती हो कि मैं भी उन्हीं नवयुवकों में से एक हूँ, और मेरे हृदय में वास्तविक प्रेम नहीं?"

"ओह! आप समझे नहीं। मेरा तात्पर्य यह है कि प्रेम का लक्ष्य विवाह ही क्यों हो।"

"रुक्मिणी! मैं तुम्हें किस प्रकार समझाऊँ कि तुम्हारे बग़ैर जीवित न रह सकूँगा।"

"फिर वही बात! मुझे तुम्हारे हाथ से छीन कौन लिए जा रहा है। बात असल में यह है कि मैं विवाह करना ही नहीं चाहती। मैं अपने लिये इसकी आवश्यकता नहीं समझती। मैंने जो काम सोच रक्खे हैं, मुझे उन्हीं से फ़ुरसत न मिलेगी।"

"रुक्मिणी! मैं तुम्हारे बिना जीवित रहूँ, यह हो सकता है, पर वह जीवन व्यर्थ होगा, निर्जीव होगा।"

रुक्मिणी ने उसके और पास जाते हुए तथा उसके ऊपर कुछ दया-सी दर्शाते हुए कहा—"तो तुम्हारा प्रेम और भी भयानक है। ज़रा सोचो, तुम पुरुष हो, पुरुष को तर्क और ज्ञान से शासित होना चाहिए।"

लक्ष्मीचंद आँखें फाड़-फाड़कर शून्य की ओर देखने लगा। रुक्मिणी ने कहा—"अधिक-से-अधिक मैं यह कह सकती हूँ कि यदि मेरे पिता का प्रयोग सफल हो गया, और उसके बाद मैंने देखा कि अब मेरे लिये संसार में दूसरा काम नहीं है, तो मैं प्रसन्नता-पूर्वक तुम्हारे पास चली आऊँगी, और तुम्हारी होकर रहूँगी।"

"ख़ैर, मेरे लिये यह भी बहुत है।" कहते हुए लक्ष्मीचंद ने रुक्मिणी को अपनी भुजाओं में आबद्ध कर लिया; और रुक्मिणी ने भी अपना सिर अनायास उसके वक्षःस्थल पर रख दिया। लक्ष्मीचंद ने कहा—"अशोक के इस अमर स्तंभ के सामने की गई तुम्हारी यह प्रतिज्ञा तुम्हें याद रहेगी?"

रुक्मिणी कुछ बोली नहीं। उसने एक दीर्घ निःश्वास ली, और उसकी आहट लक्ष्मीचंद को मिली। उसने कहा—"अच्छी बात है। तो मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा, और तुम्हारे स्वागत का सामान जुटाता रहूँगा।"

एक लोमड़ी एक ओर से दौड़ती हुई आई, और उनकी ओर विचित्र भाव से देखती हुई दूसरी ओर निकल गई। दोनो प्रेमी जैसे चिर-निद्रा से जागे, और कार में पूर्ववत् सवार होकर आगे बढ़े।

मार्ग में उन्हें एक मंदिर का खँडहर मिला, जिसके बाहर बैठा हुआ एक साधु अपनी आत्मा को गाँजे के धुएँ में परिणत करके अनंत प्रकृति में विलीन कर रहा था।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"कौन जाने, किसी स्त्री के निराश प्रेम ने ही उसे इस दशा को पहुँचाया हो।"

रुक्मिणी मुस्किराई।

साधु ने आवाज लगाई—"जोड़ी अखंड रहे।"

उसका उद्देश्य इनसे कुछ पैसे प्राप्त करना था, पर ये बहुत आगे निकल आए थे। लक्ष्मीचंद ने भी मुस्किराते हुए कहा—"ओह! ये निकम्मे साधु भी पाषाण-हृदया प्रेमिकाओं से उनके प्रेमियों की कैसी सुंदर वकालत करते हैं।"

रुक्मिणी ने मुस्किराते हुए कहा—"प्रेम भी एक नशा है।"

"बेशक, और नशे में किसी का विवेक क़ायम नहीं रहता।" लक्ष्मीचंद ने रुक्मिणी को फिर अपनी बाहुओं में आबद्ध करने की चेष्टा की।

एक चौरस्ते पर खड़े एक पुलिस-मैन ने हाथ के इशारे से कार को रोक दिया। सामने की सड़क से दूसरी सवारियाँ निकल रही थीं। लक्ष्मीचंद का यह प्रयत्न भी विफल गया।

पुलिस-मैन का इशारा पाने पर रुक्मिणी ने कार को फिर बढ़ाते हुए कहा—"बस, अब आ गए। मेरा ग़रीबखाना वह रहा। पिता आपका स्वागत करने के लिये घर से बाहर फाटक पर खड़े हैं।"

लक्ष्मीचंद की मुख-मुद्रा गंभीर हो उठी। रुक्मिणी ने घड़ी की ओर देखते हुए कहा—"ओहो! काफ़ी देर हो गई है?"

---

[३]

सर कृपाशंकर का यह स्वभाव था कि वह अकेले भोजन करने नहीं बैठते थे। अपने किसी-न-किसी मित्र को अपने साथ भोजन करने के लिये अवश्य राज़ी कर लेते थे। इधर दो-तीन दिन से सेठ लक्ष्मीचंद के कारण इन मित्रों की संख्या बढ़ गई थी। सर कृपाशंकर प्रत्येक बार भोजन के समय अपने नए-नए मित्रों को बुलाते और लक्ष्मीचंद से उनका परिचय कराते थे। लक्ष्मीचंद यद्यपि अभी नवयुवक ही थे, पर पिछले कई महीने से बहुत ही महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति हो गए थे, क्योंकि अपने पिता के स्वर्गवासी हो जाने के बाद वह उनकी अपार संपत्ति और देश-विदेश में फैले उनके विविध कल-कारखानों के स्वामी हुए थे। और, अपनी विशाल पूंजी को और भी नए-नए कार्यों में लगाने की बात सोच रहे थे। दिल्ली आने में उनका उद्देश्य रुक्मिनी के साथ अपने विवाह की बात ही पक्की करना न था, वह पूँजी को नए-नए कामों में लगाने के संबंध में सर कृपाशंकर से भी लेने आए थे। ऐसे धनी सेठ से परिचय प्राप्त करने की इच्छा से सर कृपाशंकर के कतिपय मित्र भोजन के समय विना बुलाए भी आ जाते थे, क्योंकि वे जानते थे कि उनके यहाँ गप-शप का वही सर्वोत्तम समय होता है।

सर कृपाशंकर ने यह बँगला लाल क़िले से करीब डेढ़ मील उत्तर, यमुना के किनारे, पुरानी सिविल लाइंस के उस भाग में बनवाया था, जहाँ नई दिल्ली के आबाद होने से पहले सरकारी अफ़सर रहा करते थे। यह स्थान बहुत एकांत था, इसीलिए सर कृपाशंकर ने इसे पसंद किया था। फूल-पत्तियों और खुली जगहों के वह बड़े प्रेमी थे, इसलिये विशेष आव-

श्यकता न होते हुए भी उन्होंने क़रीब डेढ़ एकड़ भूमि में अपने इस निर्जन निवास को घेर रक्खा था। बँगले के तीन ओर सड़कें थीं, एक ओर यमुना; और प्रत्येक ओर से उसमें आने के लिये विस्तृत सड़कें बनी थीं। बँगले के पच्छिम आधुनिक ढंग का सुंदर उद्यान था, और उत्तर में कई छोटे-छोटे खेत थे, जिन में वह अपने काम के फल और तरकारियाँ स्वयं उत्पन्न करते थे। दक्खिन के हिस्से में बँगले की सीमा पर नीम के दो बड़े-बड़े वृक्ष थे। इन वृक्षों और बँगले के बीच में हरी घास का सुंदर फ़र्श बिछा था। इसी फ़र्श पर कई बड़ी-बड़ी मेजें एक दूसरे से मिलाकर रक्खी गई थीं, और उनके चारो तरफ़ कुर्सियाँ डालकर सेठ लक्ष्मीचंद के साथ मित्रों की अंतिम दावत का प्रबंध किया गया था। भोजन का सारा प्रबंध योरपियन ढंग से किया गया था, पर भोजन के सब पदार्थ भारतीय थे, और रुक्मिणी ने नीम के पेड़ों के नीचे बने अपने रसोईघर में सब वस्तुओं को अपनी देख-रेख में तैयार कराया था। इस कार्य में उसने अपनी तीन सहेलियों की भी सहायता ली थी।

खानेवाले जब इस स्थान पर बुलाए गए, उसके पहले ही अलग-अलग थालियों में सारा भोजन परोसकर रख दिया गया था। जो वस्तुएँ बच रही थीं, वे बड़ी-बड़ी तश्तरियों में बीच में रख दी गई थीं, ताकि जिसे जो ज़रूरत पड़े वह ले ले।

सब स्त्री-पुरुष मिलाकर लगभग बीस व्यक्ति खाने बैठे। चार जगहें बच रही थीं, उन पर रुक्मिणी अपनी सहेलियों के साथ बैठी। लोगों के कपड़ों में लगे विविध इत्रों, नीम और वाटिका के फूलों तथा विविध पकवानों की सुगंध एक में मिलाकर खानेवालों को एक विचित्र आनंद दे रही थी। स्वच्छ, श्वेत वस्त्रधारी सेवक और सेविकाएँ इधर-उधर घूम रही थीं कि कोई कुछ कहे, तो उसकी आज्ञा का तुरंत पालन करें।

विविध विषयों पर वार्तालाप के साथ जब भोजन आरंभ हुआ, तब आठ बजा था। भोजन में सम्मिलित स्त्रियों का सौंदर्य अवलोकन कर

चाँद और भी सुंदर हो उठा था, और वह नीम के पेड़ों के ऊपर से इस मंडली का अतिथि-सत्कार करता हुआ प्रतीत हो रहा था। मुख्य मेहमान सेठ लक्ष्मीचंद थे, इसलिये वह बीच में बैठे थे। उनके दाहने हाथ की ओर पुरुषों की क़तार थी, और बाएँ हाथ की ओर स्त्रियों की। पुरुषों की क़तार में पहला नंबर सर कृपाशंकर का था, और स्त्रियों की क़तार में पहले रुक्मिणी उसके बाद उसकी सहेलियाँ थीं।

सर कृपाशंकर ने सब मेहमानों का सेठजी से परिचय करा दिया था, पर वह तुरंत ही उन सबको भूल भी गए थे। उन्हें सिर्फ़ इतना याद रह गया था कि पुरुषों में कतिपय वकील और प्रोफ़ेसर हैं, तथा स्त्रियों में उनकी पत्नियाँ, जिनमें एक किसी महिला-विद्यालय की प्रधान अध्यापिका हैं, और दो सार्वजनिक आंदोलनों में भाग लेनेवाली नगर की प्रमुख देवियाँ।

पिछले दो दिनों की भाँति आज भी सबके सामने लक्ष्मीचंद का यह प्रश्न था—"पूँजी किस काम में लगाई जाय कि देश का अधिक-से-अधिक हित हो, और उसमें खूब वृद्धि भी हो?"

सार्वजनिक आंदोलनों में भाग लेनेवाली देवियों में से एक ने कहा—"गुलाम देश में पूँजी का इससे अधिक उपयोग और क्या हो सकता है कि वह देश को स्वाधीन करने में लगाई जाय।"

रुक्मिणी की सहेलियों में से एक तत्काल बोल उठी—"और यदि देश स्वाधीन न हुआ, तो पूँजी भी गई।"

दूसरी सहेली ने कहा—"यदि, किंतु, परंतु, अगर, मगर तो हरएक बात के पीछे लगे रहते हैं। साहस के साथ प्रत्येक अज्ञात दिशा में आगे बढ़ने का नाम जीवन है।"

दूसरी देशसेविका महिला ने कहा—"यदि ठोस और पर्याप्त पूँजी है, तो ऐसा कोई भी काम नहीं, जो संभव न हो सके। इस युग में रुपया ही शक्ति है।"

रुक्मिणी की तीसरी सहेली बोल उठी—"बेशक, यदि रुपया हो, तो स्वाधीनता के लिये लड़ने की भी जरूरत न पड़े। आखिर अँगरेज़ लोग रुपये के ही लिये तो इस देश को ग़ुलाम बनाए हैं। यथेष्ट रुपया पाते ही वे इस देश को छोड़ कर आप जहाँ कहेंगे, वहाँ चले जायँगे।"

प्रोफ़ेसरों में एक अर्थ-शास्त्री थे। उनसे न रहा गया, वह बोल उठे—"देश में अब रुपया है कहाँ। भारत इस समय संसार में सबसे ग़रीब देश है।

एक वकील की पत्नी ने कहा—"जिस देश में लक्ष्मीचंद जैसे सेठ मौजूद हों, उसे ग़रीब कहना उसका अपमान करना है। मैं आशा करती हूँ, प्रोफ़ेसर साहब अपने इस वाक्य को वापस ले लेंगे।"

इन देवीजी के पति वकील साहब भी बोल उठे—"मेरा स्वयं अनुभव है कि जो व्यक्ति ऊपर से अत्यंत ग़रीब दिखाई पड़ता है, वह भी जरूरत पड़ने पर सैकड़ों ख़र्च कर सकता है। यदि देश में ग़रीबी होती, तो मुकदमेबाजी न होती।"

रुक्मिणी की तीसरी सहेली ने कहा—"बेशक, वकील साहब ठीक कहते हैं। हमारे यहाँ कितने देशी राजे हैं, और सबके खजानों में इतने हीरे-मोती-लाल भरे हैं कि यदि सब निकालकर इँगलैंड पहुँचा दिए जायँ, तो वहाँ की ज़मीन उनका बोझ सँभाल न सके, और समुद्र के नीचे पहुँच जाय।"

रुक्मिणी की दूसरी सहेली ने कहा—"और तब देश अपने आप स्वाधीन हो जाय।"

प्रोफ़ेसर साहब ने कहा—"आप लोग राजनीति की ओर चले जा रहे हैं। यह सर्वथा आर्थिक प्रश्न है। इसका उत्तर हमीं लोग दे सकते हैं, जिन्होंने इस विषय में वर्षों दिमाग़ खपाया है।"

"अच्छी बात है, कहिए, आपकी भी सुनें।"

प्रोफ़ेसर साहब ने कहा—"भारत कृषि-प्रधान और अत्यंत उपजाऊ देश है। यहाँ की सुंदर भूमि को सड़कें और क़बरिस्तान हड़प करते चले जा रहे हैं। यदि सेठजी इतनी पूँजी व्यय कर सकें कि जितनी रेलें हैं, वे सब पृथ्वी के अंदर चलने लगें, तो आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि खेती के लिये कितनी भूमि निकल सकती है। रुक्मिणी देवी! क्या आप कृपा-पूर्वक सिलेट-पेंसिल लाएँगी, मैं अभी हिसाब लगाकर बता सकता हूँ कि कितनी भूमि बेकार हो गई है। प्रत्येक रेल का मार्ग कम-से-कम ५० गज चौड़ा और हजारों मील लंबा है। लबाई-चौड़ाई का गुणा करके देखिए कितना क्षेत्रफल होता है। फिर क़बरिस्तान कितने हैं। यदि क़बरिस्तानों की बाढ़ न रोकी गई, तो अगले सौ वर्षों में सारा देश क़बरिस्तान हो जायगा। यदि पूँजी हो, तो उसके जोर से ये क़बरिस्तान भी पृथ्वी के नीचे बनाए जा सकते हैं।"

"ओह! कितने सुंदर विचार हैं। यह बात तो मुझे पहले कभी सूझी ही न थी।" रुक्मिणी की एक सहेली ने कहा।

दूसरे प्रोफ़ेसर साहब ने कहा—"मुझे इसमें सिर्फ़ एक संशोधन करना है। सेठ लक्ष्मीचंद थोड़ी सी पूँजी मुर्दे खरीदने के लिये अलग कर दें। जितने मुर्दे हैं, वे सब खरीद लिये जायँ, और उनकी खाद बनाकर किसानों के हाथ बेच दी जाय। इससे पूँजी की वृद्धि भी होगी, और क़बरिस्तान भी कम होंगे, साथ ही उपज अच्छी होने से देश खुशहाल हो जायगा।"

रुक्मिणी की एक सहेली ने पूछा—"भला, मुर्दों की खाद कैसे बनाई जायगी?"

"वे बड़े-बड़े बंद तालाबों में सड़ाए जाएँगे, और बड़ी-बड़ी कलों में पी ......"

प्रथम वकील साहब की पत्नी उत्तेजित होकर खड़ी हो गईं—"भोजन के समय ऐसी बात बंद होनी चाहिए। मेरा जी घिनाता है।"

प्रोफ़ेसर साहब ने कहा—"बहन ! वे मुर्दे आपको खिलाए थोड़े ही जायँगे।"

वकील की पत्नी ने ऐसी मुख-मुद्रा बनाई, मानो उनका जी मिचला रहा है। उन्होंने उच्च स्वर से कहा—"आपको शौक़ है, तो जाइए, क़बरें खोद-खोदकर खाना शुरू कर दीजिए। पर यहाँ कृपा करके खामोश रहिए।"

प्रोफ़ेसर साहब ने कहा—"जिस देश में हमारे भाई-बहन ही हमें बोलने की स्वाधीनता नहीं देते, वह स्वाधीन हो चुका।"

सर कृपाशंकर ने विषय बदलते हुए कहा—"प्रोफ़ेसर साहब की इस बात से मैं सहमत हूँ कि रेल की सड़कें हमारे देश में न रहने पावें। सड़कें ही नहीं, कोई भी असुंदर या देश को असुंदर बनानेवाली वस्तुएँ न रहनी चाहिए, जैसे कल-कारखाने और शहर भी। प्राचीन भारत की भाँति मनुष्य स्वच्छ-सलिला सरिताओं के किनारे बसें, और वन की कुसुमित हरियाली से भोजन प्राप्त करें, तो हमारे बहुत से प्रश्न अपने आप हल हो जायँ।"

रुक्मिणी की एक सहेली ने कहा—"पर पिताजी, पूँजी लगाने और उसे बढ़ाने के संबंध में आप क्या कहते हैं ?"

प्रोफ़ेसर साहब ने कुछ कहने के लिये अपना मुह खोला ही था कि वकील साहब की पत्नी, जो पानी के घूँट से अपने मुँह का कौर नीगलने का प्रयत्न कर रही थीं, बोलीं—"आप कृपा करके चुप रहिए।"

"अच्छी बात है।"

सर कृपाशंकर ने कहना शुरू किया—"उसी विषय पर आ रहा हूँ। मिस्टर सेठ ! बहुत-से ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें बड़े पैमाने पर करके आप अपार धन और यश के स्वामी बन सकते हैं। प्राचीन काल में हमारे देश में अनेक धंधे प्रचलित थे, जिन्हें अब लोग भूल गए हैं। उनमें से आप किसी

एक को करके यश और धन अर्जन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए आप हाथ से काते और बुने वस्त्र का व्यवसाय करें, तो देश का जो धन विदेशों को जा रहा है, वह तो बचे ही, साथ ही देश के किसानों की बेकारी और ग़रीबी भी दूर हो जाय। इस व्यवसाय को आप यों शुरू कर सकते हैं। किसानों को कपास बोने के लिये उत्साहित करें, उन्हें उधार चर्खे बनवाकर दें, और उनके काते सूत को खरीद लें। प्रत्येक आठ या दस गाँव के बीच में एक बुनाई का केंद्र खोलें। इस प्रकार सारे देश में शुद्ध स्वदेशी वस्त्र के प्रचारक बनें। इधर आपकी रुचि न हो, तो शुद्ध और उत्तम खाद्य सामग्री के विक्रेता बनें। भारतवासियों का स्वास्थ्य गिर रहा है, क्योंकि मशीनों से तैयार होने के कारण उन खाद्य वस्तुओं का पोषक अंश नष्ट हो जाता है। धान मशीन से कुटता है, आटा मशीन से बनता है, गुड़ की जगह लोग चीनी सेवन करते हैं, जिसमें सिवा मिठास के और कोई तत्त्व नहीं रह जाता। यदि आप डॉक्टरों की सहायता से शहरों में इस बात का प्रचार करें कि लोगों को हाथ की ही कुटी-पिसी और बनी वस्तुओं का सेवन करना चाहिए, गाँवों को ये वस्तुएँ तैयार करने के लिये प्रोत्साहित करें, और इन्हें उनसे खरीदकर शहरों में बेचें, तो भी आप देश की बहुत बड़ी भलाई और अपनी पूँजी की वृद्धि कर सकते हैं। इसी तरह के और भी बहुत-से काम हैं, जिन्हें आप स्वयं सोच और कर सकते हैं। कोई भी काम करें, प्रत्येक अवस्था में इस दृष्टिकोण को सामने रखना चाहिए कि हमारे प्राचीन गृह-उद्योग-धंधों को पुनर्जीवन और प्रोत्साहन मिले।"

सर कृपाशंकर के मुँह से इस प्रकार की बातें सुनकर सेठ लक्ष्मीचंद का उत्साह फीका पड़ गया। वह उनके मुँह से यह सुनने नहीं आए थे। उनका ख़याल था कि सर कृपाशंकर, जो दुनिया देखे हैं, उन्हें कोई ऐसा व्यवसाय बतावेंगे, जिसमें करोड़ों की पूँजी की आवश्यकता होगी, और बड़ी-बड़ी मशीनों से सब काम होगा। उन्होंने उनके चेहरे की ओर फिर ध्यान से देखा, मानो उन्हें पहचानने की कोशिश की। क्या यह वही कृपाशंकर हैं, जिनकी लिखी पुस्तकें बेचकर देश-विदेश के प्रकाशक मालामाल

हो रहे हैं? क्या उन पुस्तकों में ये ही बातें लिखी हैं? क्या इन्हीं से उनके स्वर्गीय पिता सलाह लिया करते थे? क्या यही इनका वह दिव्य संदेश है, जिसे सुनने के लिए अखिल विश्व उत्सुक है?

लक्ष्मीचंद ने कहा—"माफ़ कीजिएगा, मैं आपके मुंह से यह सुनने नहीं आया था। यह तो मेरा रसोइया मुझे कराची में ही बता सकता था।"

सर कृपाशंकर ने मुस्किराते हुए कहा—"बुद्धि मेरे ही हिस्से में नहीं पड़ी। आपका रसोईया भी बुद्धिमान् हो सकता है।"

"और, शायद विलायत जा सकता और सभाओं में व्याख्यान दे सकता तो आपकी ही भाँति नाम भी पैदा करता।"

"इसमें क्या शक है।"

"और, उसकी चलती, तो सारे कलकत्ते के लोग हुगली नदी या गड्ढों का पानी पीते होते, और शहर में स्वच्छ जल पहुँचाने की जो वैज्ञानिक व्यवस्था है, उसका कहीं निशान तक न होता?"

"यह क्यों कहते हैं, यह कहिए कि कलकत्ता शहर ही न होता, और जो लोग वहाँ आकर जमा हुए हैं, वे वहीं सुख से निवास करते होते, जहाँ से वे वहाँ गए हैं।"

"और रेल जहाज, तार, बिजली, ट्राम आदि सब फ़िजूल की चीजें होतीं, क्यों?"

"बेशक।"

"और वे छापेखाने भी व्यर्थ होते, जिनमें आपकी पुस्तकें लाखों की संख्या में छपकर सारे विश्व में बिकती हैं?"

"उनको किसी को जरूरत ही न पड़ती।"

लक्ष्मीचंद ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—"मैं उस दिन की कल्पना कर रहा था, जब अखिल विश्व एक बड़ा शहर बन जायगा, और हम सब

एक बड़े कारखाने के कल-पूर्जे। मैं सोच रहा था, आप अपने ग्रंथों द्वारा उस दिन को क़रीब लाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

सर कृपाशंकर ने उसी सिलसिले में कहा—"बिलकुल इसका उल्टा प्यारे! बिलकुल उल्टा! मैं उस दिन की कल्पना कर रहा हूँ, जब संसार में एक भी शहर न रह जायगा, और लोग छोटे-छोटे गाँवों में उसी प्रकार सुख से रहने लगेंगे, जैसे प्राचीन काल में हमारे ऋषि तपोवनों में रहते थे।"

"और आपकी पुस्तकें शहरों की बड़ी-बड़ी इमारतों, रेल-गाड़ियों, जहाजों, पुतलीघरों, सिनेमाघरों और बड़े-बड़े कॉलेजों पर बम-गोलों के समान गिर रही और सबको नष्ट-भ्रष्ट कर रही हैं।"

"यदि मेरी पुस्तकों में यह जोर होता, तो आज मुझ-सा सुखी दूसरा व्यक्ति न होता। मुझे ये सब चीजें नापसंद हैं।"

रुक्मिणी की एक सहेली ने कहा—"आप रेलगाड़ी में बैठकर चलते हैं। आपको तो बैलगाड़ी में बैठकर चलना चाहिए।"

"बैलगाड़ी मुझे बेशक रेलगाड़ी के मुक़ाबले में अधिक प्रिय है। शीघ्रता के साथ आधुनिक सवारियों और मशीनों के नाश के पक्ष में मैं नहीं हूँ। पर जब तक वे हैं, उनसे मैं काम लेना चाहता हूँ। मैं उन्हें उन्हीं की सहायता से नष्ट करना चाहता हूँ। और कोई उपाय भी तो नहीं है।"

"माफ़ कीजिएगा, मैंने आपसे ऐसी बातें कीं, जो एक ऐसे व्यक्ति के मुँह से न निकलनी चाहिए, जो आपका आदर करना चाहता है।"

सर कृपाशंकर ने पानी का गिलास मुंह के निकट लेजाते हुए कहा—"उँह! मैं बुरा नहीं मानता। नौजवानों के मुंह से ऐसी बातें सुनने का मैं आदी हो गया हूँ। मेरे लिये इतना ही जानना काफ़ी है कि देश की भलाई की जैसी लगन मुझे है, वैसी ही उन्हें भी है। उद्देश्य एक है, मार्ग भिन्न-

भिन्न । मैं यह दावा नहीं करता कि मेरा ही मत ठीक है । जो तुम लोग सोचते हो, वह भी ठीक हो सकता है । इसलिये मेरी तुमसे लड़ाई नहीं ।"

उन्होंने गिलास रखकर लक्ष्मीचंद की ओर देखा । लक्ष्मीचंद ने मुस्किराते हुए कहा—"आज योरप की जो उन्नति है, वह क्या कभी हुई होती, यदि वहाँ के लोग नित्य नए आविष्कार न करते रहते ।

"पर भारतवर्ष योरप नहीं है । यहाँ इन चीज़ों की आवश्यकता होती, तो ये चीजें यहाँ की भूमि में भी उत्पन्न हो गई होतीं । जो दिमाग़ वेद-जैसे अमर ग्रंथों की सृष्टि कर सकते हैं, जिनमें उपनिषदों के रूप में प्रस्फुटित हुए सुंदर विचार उत्पन्न हो सकते हैं, वे वैज्ञानिक आविष्कार न कर सकें, यह मैं नहीं मानता । सच बात यह है कि हमारे पूर्वजों का उधर ध्यान ही नहीं गया । उन्होंने उन वस्तुओं की आवश्यकता ही नहीं समझी । हमारी सभ्यता शरीर की नहीं, आत्मा की थी । इसीलिये हमने आध्यात्मिक उन्नति की । योरोप की सभ्यता आत्मा की सभ्यता नहीं, शरीर की है । उसका बल आत्मिक नहीं, पाशविक है । सारे विश्व का रक्त शोषण करने के बाद वह अपने आपको खा जायगी ।"

सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"मैं चीज़ों को भिन्न दृष्टि से देखता हूँ । मेरे सामने जो समस्या है, वह आर्थिक है । योरप ने आधुनिक आविष्कारों के बल पर अपनी अभूतपूर्व आर्थिक उन्नति कर ली है । मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि बिना उन तरीक़ों को अपनाए भारत की ग़रीबी दूर नहीं हो सकती । मैं दावे के सा ...."

एकाएक रुक्मिणी ने अपनी कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखा । लक्ष्मीचंद कुछ चौंक-से पड़े । उन्हें ध्यान हो आया कि जाना है । वह विषय बदलते हुए बोले—"मुझे दुःख है कि जैसे व्यवसायों की ओर मैं झुकना चाहता हूँ, वे आपको पसंद नहीं । मुझे आज्ञा दें, मैं कहूँ कि मुझे आपके तरीक़े क़तई पसंद नहीं ।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"मतभेद स्वाभाविक है । पर इसके होते हुए भी क्या कभी हमारी मैत्री में फ़र्क़ पड़ सकता है ।"

लक्ष्मीचंद उठ खड़े हुए । उनके साथ ही सब लोग भी उठे । मुँह-हाथ धोने के बाद उन्होंने सबसे हाथ मिलाया, और बिदा ली । रुक्मिणी उन्हें पहुँचाने के लिये स्टेशन ले गई । मार्ग में उन्होंने रुक्मिणी से कहा—"क्या यंत्रों के संबंध में तुम्हारे भी वे ही विचार हैं, जो तुम्हारे पिता के हैं ?"

"उनसे भिन्न मैं अपना कोई अस्तित्व नहीं मानती ।"

लक्ष्मीचंद चुप हो रहे । उन्हें रुक्मिणी से भी वैसी ही निराशा हुई, जैसी उसके पिता से हुई थी । वह गंभीर हो उठे, और चुप हो गए । रुक्मिणी भी चुप हो रही । पर उसके हृदय की वेदना आँसुओं के रूप में बह निकली, और वह सिसकने लगी ।

लक्ष्मीचंद को उसके ऊपर दया आई । उन्हें जान पड़ा, जैसे उसके पिता ने उसे ग़ुलाम बना रक्खा है, और वह इतने अनुदार हैं कि जब तक जीवित रहेंगे, लड़की को विवाह न करने देंगे । वह बोले—"रुक्मिनी, मैं तुम्हारी स्थिति समझता हूँ । मुझे खेद है, तुम्हारे पिता इतने स्वार्थी हैं !"

रुक्मिणी और भी अधिक सिसकने लगी । उसने कहा—"आप मेरी स्थिति नहीं समझते । यदि समझने का प्रयत्न भी करते, तो इतने निर्दय न बनते । पिताजी तो जी-जान से चाहते हैं कि मैं विवाह कर लूँ, पर मैं स्वयं अभी इसके लिये तैयार नहीं हूँ । जब तक आप मेरे जीवन में नहीं आए थे, मैंने इस प्रश्न को सोचा भी न था । इसमें संदेह नहीं कि आपने मेरे जीवन में उथल-पुथल मचा दी है । पर मैं...पर मैं..." रुक्मिनी का गला रुँध गया, वह आगे बोल न सकी ।

लक्ष्मीचंद ने उस वाक्य को पूरा किया—"पर मैं अपने पिता को अकेला एक मिनट के लिये भी नहीं छोड़ सकती ।"

रुक्मिणी ने रूमाल से अपने आँसू पोंछते हुए कहा—"यदि इस प्रकार सोचने में आपको सुख मिलता है, तो आप ऐसा ही सोच सकते हैं।"

लक्ष्मीचंद को जान पड़ा, जैसे वह इस युवती के प्रति आवश्यकता से अधिक कठोर हो गए हैं। वह उसके और जितना निकट जा सके, पहुँच गए, और बोले—"रुक्मिणी!"

रुक्मिणी अब भी सिसक रही थी। उसकी आँखों की कोरों पर बड़े-बड़े मोती बन और बिगड़ रहे थे। लक्ष्मीचंद ने फिर कहा—"रुक्मिणी, क्या मैंने कोई ऐसी बात कही है, जिसके लिये तुम्हें इतना दुखी होना पड़ा?"

"आपने मेरे पिता को स्वार्थी कहा है।" रुक्मिणी यह कहने को तो कह गई, पर उसके एकाएक इतना दुखी हो उठने का कारण कुछ और भी था। वह अपनी स्वर्गीया माता के ध्यान में लीन थी। यदि उसकी मां जीवित होती, तो उसके विवाह न करने के संबंध में अपनी मधुर वाणी में लक्ष्मीचंद के सामने वे सब अकाट्य तर्क रखती, जो उसके स्वयं के हृदय में तो घर किए हुए हैं,और जिन्हें शब्दों द्वारा व्यक्त करने में वह असमर्थ है। या यदि वह यह नहीं करती, तो फिर उसी को यह समझा देती कि विवाह ही स्त्री के लिये सर्वोत्तम कार्य है। एक विचित्र प्रकार के अभाव से वह अंदर ही-अंदर बेचैन-सी हो उठी और क्षण-भर को उसकी आँखें झप-सी गईं। उसी एक क्षण की झपकी में उसने अपनी माता की स्पष्ट सूरत देखी। उसने देखा, जैसे वह लड़कियों और लड़कों की एक सम्मिलित दौड़ में बाजी जीतकर लौटी है, और उसकी मां उसे अपने हृदय से लगाकर, बार-बार उसका मुँह चूमकर अपनी सहेलियों से कह रही है—मुझे इस लड़की का गर्व है। यदि मैं सैकड़ों अच्छे लड़कों की भी होती, मां पर यदि मुझे यह लड़की न मिली होती, तो मैं समझती कि मेरी माता होना व्यर्थ गया। मैं इसका ब्याह न करूँगी। यह देश और समाज की सेवा करेगी, अपने पिता के बाद उनका कार्य जारी रक्खेगी, और संसार में भारत-माता का मुख उज्ज्वल करेगी।

इस पर मानो सहेलियों ने कुछ आश्चर्य प्रकट किया है, और उसकी माता द्विगुणित उत्साह से कह रही है—पराधीन देशके निवासियों का सिर्फ एक कर्त्तव्य है। अपने आपको उसकी सेवा में मिटा देना। हम लोगों ने विवाह करके जो भूल की है, वह मेरी रुक्मिणी नहीं करेगी।

इसी क्षण-भर की झपकी और कल्पना में रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे उसकी माता उसकी पीठ थपथपा रही है, और वह मुस्किरा रही है, जिसका मौन, प्रतिज्ञा के सिवा और कोई अर्थ नहीं हो सकता।

उसके उदास और अश्रु-पूर्ण मुख पर सचमुच एक मुस्कान की रेखा खिंच गई, और इस ध्यानावस्था में वह इतनी लीन हो गई कि यदि लक्ष्मी-चंद शीघ्रता से हैंडिल न पकड़ लेते, तो कार सामने से आती हुई एक कार से टकरा जाती, और दुर्घटना हो जाती। रुक्मिणी ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोल दीं, और अपने सामने अंधकार तथा प्रकाशमय वास्तविक संसार देखा।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी, क्षण-क्षण पर तुम्हारी मनःस्थिति बदल रही है। तुम कभी रोती हो, कभी हँसती हो। यह उन्माद का लक्षण है। मैं चाहता हूँ तुम सदैव प्रसन्न रहो। जिसमें तुम्हें प्रसन्नता हो, मैं वही करने के लिये तैयार हूँ; क्योंकि उसमें मुझे भी प्रसन्नता होगी। मेरे जिस वाक्य से तुम्हें कष्ट पहुँचा है, उसे मैं वापस लेता हूँ।"

रुक्मिणी ने कहा—"बेशक! मेरा चित्त इस समय ठिकाने नहीं है। क्या आप मुझे थोड़ा और सोचने का मौक़ा न देंगे?"

"अब मैं अपनी ओर से इस प्रश्न को नहीं उठाऊँगा। पर मैं तुम्हें भूल भी न सकूँगा, इसलिये बराबर उस दिन की प्रतीक्षा में रहूँगा, जब तुम निश्चिंत होकर मुझसे कह सकोगी कि तुम मेरी हो।"

रुक्मिणी ने कोई उत्तर न दिया। केवल अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से लक्ष्मीचंद की ओर देखा। उसके मूक चेहरे से लक्ष्मीचंद उसके हृदय की

बात न जान सके, पर यह अनुमान उन्होंने अवश्य किया कि रुक्मिणी उनके इस प्रस्ताव से असंतुष्ट नहीं है। उन्होंने कहा—"वह दिन भले ही न आए, पर तुम मुझसे साफ़ इनकार न करो। मुझे आशा में जीने दो।"

रुक्मिणी फिर भी चुप रही। उसके इस मौन को लक्ष्मीचंद ने अपने पक्ष में सहायक ही समझा। अब स्टेशन क़रीब आ गया था। उसकी चहल-पहल अधिकाधिक इंद्रियगोचर होती जाती थी। चहारदीवारी के भीतर समुद्रगर्जन की-सी आवाज़ के साथ छाया और प्रकाश की गतिमान् चादरें सक्रिय एंजिनों और गाड़ियों का परिचय दे रही थीं।

लाहौर होकर कराची जानेवाली डाकगाड़ी तैयार खड़ी थी। स्टेशन के बाहर कार रोककर भावी के हाथ के ये दोनो खिलौने स्टेशन के भीतर गए। उनके पीछे क़ुली लोग असबाब लेकर आए, और उसे उन्होंने लेजाकर गाड़ी में एक अच्छा, साफ़-सुथरा ख़ाली डिब्बा तलाश कर उसमें रख दिया।

कुछ देर तक दोनो प्लेटफ़ार्म पर टहलते और अन्य विविध विषयों पर बातें करते रहे। एकाएक गार्ड ने हरी झंडी दिखाई, एंजिन ने सीटी दी, और गाड़ी चल पड़ी। लक्ष्मीचंद रुक्मिणी के हाथ को अपने हाथ में लेकर और उसकी कोमल उँगलियों को मृदुलता-पूर्वक चूमने के बाद, गाड़ी में चढ़ गए, और रुक्मिणी की ओर देखकर अंतिम बार मुस्किराए। रुक्मिणी भी मुस्किराई, और हवा में रूमाल हिलाकर उसने उन्हें बिदा दी।

———

[४]

सेठ लक्ष्मीचंद दिल्ली से बहुत निराश लौटे। उन्होंने बहुत चेष्टा की कि वह रुक्मिणी को भूल जायँ, पर उन्हें सफलता न मिली। उसके बिना उन्हें अपना सारा जीवन और सारी संपत्ति व्यर्थ प्रतीत होने लगी। फिर भी उन्होंने अपना कारबार देखना न छोड़ा, क्योंकि वक़्त काटने का उससे अच्छा कोई तरीक़ा भी उन्हें न सूझ पड़ा।

इस प्रकार लगभग तीन मास व्यतीत करने के बाद एक दिन जब वह सोकर प्रातःकाल जागे, तब एकाएक बहुत चंचल हो उठे। उन्होंने स्वप्न में देखा कि वह कावेरी से एक छोटी नौका में मित्रों के साथ बैठकर पास ही के उस टापू में गए हैं, जहाँ एक छोटा-सा मंदिर बना है, और प्रतिदिन सैकड़ों लोग आमोद-प्रमोद के लिये जाते हैं। मंदिर में उन्होंने देखा कि अनेक सुंदरी स्त्रियाँ देव-पूजन के लिये जमा हुई हैं। वे आपस में एक छोटे बच्चे से कह रही हैं—जा, रुक्मिणीदेवी को बुला ला। वह कब तक नहाएँगी। बच्चा दौड़ पड़ा। लक्ष्मीचंद को भी दूर से जान पड़ा, जैसे रुक्मिणी समुद्र में नहा रही है, और इन स्त्रियों को ठहरने के लिये पुकार रही है। पहले उनके मन में जैसे आया कि वह उसे आगे बढ़कर देख लें, और उससे दो बातें कर लें। फिर उन्होंने तर्क किया—नहीं, मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि अपनी ओर से...। एकाएक उन्हें जान पड़ा, जैसे रुक्मिणी समुद्र में डूब रही है, और बचाने के लिये नाम लेकर उन्हें पुकार रही है। वह तुरंत पानी में कूद पड़े। लहरों को चीरते हुए उसके पास गए। जैसे ही उन्होंने उसे पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया, वह अदृश्य हो गई। उनकी नींद खुल गई। उन्होंने देखा, समुद्र की हवा उनके कमरे में आकर काग़ज़ों को

इधर-उधर उड़ा रही है, और सबेरा हुआ चाहता है। भय का कोई कारण न था, फिर भी उनका हृदय धड़क रहा था, शरीर पसीने-पसीने हुआ जा रहा था, और साँस तीव्र गति से चल रही थी।

"ओह! कैसा भयानक स्वप्न था।" कहते हुए वह उठे, और नित्य की तरह अपने काम में लग जाने की चेष्टा की।

खा-पीकर ठीक समय पर वह अपने दफ्तर जाने के लिये कार में बैठे। यह दफ्तर समुद्र के किनारे बनी एक भव्य इमारत की तीसरी मंजिल में था। बिजली के लिफ्ट पर वह तत्काल ऊपर गए। इमारत में बड़े-बड़े कमरे थे, और प्रत्येक कमरे से होकर दूसरे में जाने का रास्ता था। प्रत्येक कमरा उम्दा मेज़-कुर्सियों और फ़ाइलें रखने की बिना किवाड़े की आलमारियों से भली भाँति सुसज्जित था। छतों से लटके क़तार-के-क़तार बिजली के पंखे गतिमान् थे। कर्मचारी अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ अपने-अपने कार्य में लीन थे। लक्ष्मीचंद के आने का आभास पाकर वे और भी तल्लीनता का परिचय दे रहे थे। प्रत्येक विशाल कमरे में दर्जनों टाइप-राइटर खड़खड़ा रहे थे। वह चुपचाप, इन सब कमरों से होते हुए, अपने दफ्तर में गए। चपरासियों ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। उन्होंने हैट उतारकर एक को पकड़ाया, और कोट उतारकर दूसरे को। पर बिना किसी से कोई बात किए हुए वह अपनी जगह पर चुपचाप बैठ गए। उनका जी किसी काम में न लगा। मेज़ पर हस्ताक्षर के लिये आए काग़ज़ों पर उन्होंने ज्यों-त्यों करके हस्ताक्षर किए, और आँखें बंद करके, मेज़ पर दोनों हाथों के सहारे सिर रखकर, फिर उस भयावने स्वप्न पर विचार करने लगे।

एकाएक टेलीफ़ोन की घंटी बोल उठी। उन्होंने अत्यंत उदासीन भाव से उसे उठाया। उनके कान में उनके सहयोगी एक दूसरे धनी व्यापारी का शब्द सुनाई पड़ा—"फ्रांस के एक विद्वान् वैज्ञानिक मेरे पास बैठे हुए हैं। उन्होंने एक हवाई कुएँ का आविष्कर किया है। वह कहते हैं, यदि पूँजी

लगाई जाय, तो सिंध और राजपूताना के संपूर्ण रेगिस्तान को इन कुओं की बदौलत सरसब्ज़ बनाया जा सकता है। वायुमंडल से इस प्रकार पानी उत्पन्न करके, इन प्रांतों में बेचकर, हम अच्छी रक़म पैदा कर सकते हैं। आपको फ़ुर्सत हो, तो मैं उन्हें लेकर आऊँ, और इस संबंध में बातें हो जायँ।"

सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"इससे पहले कि मैं उनसे बात करूँ, आपको उनकी सलाह से एक कच्चा हिसाब तैयार करना होगा कि प्रत्येक कुएँ के बनवाने में क्या ख़र्च होगा, वह कितना पानी दे सकेगा, उस पानी से कितनी भूमि सींची जा सकती है, और अधिक-से-अधिक कितना मूल्य हमें उस पानी का मिल सकता है।"

लक्ष्मीचंद ने टेलीफोन रख दिया, और फिर उसी प्रकार सोचने लगे। स्वप्नों पर उनका विश्वास नहीं था। वह उन्हें शारीरिक व्याधि या मानसिक दुर्बलता का प्रतिफल समझते थे। फिर भी इस विशेष स्वप्न ने उन्हें विचलित कर दिया था। इतने दिनों तक रुक्मिणी की कोई ख़बर न लेने के लिये अपने आपको बड़ा दोषी ठहरा रहे थे। उसे पत्र लिखने में क्या हानि थी। इसके लिये तो उसने मना नहीं किया था। उसने भी तो मुझे पत्र नहीं लिखा। पर वह कैसे लिखती। पहले पत्र लिखना मेरा फ़र्ज़ था। इस अंतर्द्वन्द्व से घबराकर, उन्होंने टेलीफोन उठाया, और उसके केंद्रीय ऑफ़िस से उसे दिल्ली, सर कृपाशंकर के घर के फ़ोन से, जोड़ने के लिये कहा। तत्काल उनकी आज्ञा का पालन किया गया, और उनके कानों में एक अपरिचित स्वर सुनाई पड़ा। फ़िर भी उन्होंने यह सोचकर कि शायद रुक्मिणी ही हो, और इतनी दूर से उसका स्वर स्पष्ट न सुनाई पड़ता हो, उन्होंने पूछा—"कौन? रुक्मिणी।"

"जी नहीं, उन्हें तो यहाँ से गए महीनों हो गए हैं।"

कहाँ गईं?"

"अपने पिता के साथ किसी अज्ञात स्थान को गई हैं। हमें कुछ बता नहीं गईं।"

"आप कौन ?"

"ग्राम-सुधार-संघ का मंत्री।"

"आप वहाँ से कैसे बोल रहे हैं ?"

"सर कृपाशंकर अपनी सारी संपत्ति और यह मकान इसी संघ को दे गए हैं।"

"यह संघ क्या बला है ?"

"यह संघ गाँवों के उन नवयुवकों को, जो आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद शहरों में बेकार घूमते या क्लर्की का जीवन व्यतीत करते हैं, फिर से गाँवों की ओर ले जाने के लिये स्थापित हुआ है। यह उन्हें इतनी आर्थिक सहायता देता है कि वे गाँवों में कृषि करके सम्मान-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। बदले में यह उनसे थोड़ा-सा काम भी लेता है।"

"वह काम क्या है ?"

"गाँवों के निवासियों को पढ़ाना, उन्हें स्वास्थ्य, नागरिकता और स्वच्छता के मूल-सिद्धांतों को समझाना, उनमें पारस्परिक सहयोग से काम करने और स्वावलंबी होने का भाव जाग्रत करना।"

"हूँ। और उनके नौकर-चाकर सब कहाँ गए ?"

"सब इसी बँगले के एक भाग में हैं। उनके लिये वह थोड़ी-सी रक़म अलग कर गए हैं, जिसके व्याज से उन्हें तनख्वाह दी जायगी। वे जो काम करते थे, वही करते रहेंगे। अंतर सिर्फ इतना है कि अब वे संघ के कर्मचारी समझे जायँगे।"

"हूँ।"

"आपका शुभ नाम ?"

"लक्ष्मीचंद।"

"ओफ़् ! सेठजी, मेरे व्यवहार में कुछ रुखाई हुई हो, तो माफ़ कीजिएगा। आप हमारे संघ के ट्रस्टियों में से एक हैं।"

"मैं !" लक्ष्मीचंद ने कुछ आश्चर्य से कहा।

"हाँ। आपकी स्वीकृति भी आ चुकी है। जिस रोज़ आपकी स्वीकृति यहाँ आई थी, उसी दिन रुक्मिणीबाई ने आपके नाम एक पत्र लिखा था। पर न-जाने क्या सोचकर उन्होंने लिफ़ाफ़े पर लिखा आपका पता काट डाला, और उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया था।"

"वह पत्र आपके पास है ?"

"नहीं, रद्दी समझकर मैं उसे बंद-का-बंद ही नष्ट कर देना चाहता था, पर उनकी एक नौकरानी ने उसे मुझसे लेकर अपने पास रख लिया है।"

"हूँ।"

"हमारे लिये कोई आज्ञा ?"

इसका कोई उत्तर न देकर सेठ लक्ष्मीचंद ने फ़ोन रख दिया, और मेज पर लगा एक विद्युत्-बटन दबाया। बग़ल के कमरे में घंटी बजी, और उनका मंत्री आ उपस्थित हुआ।

सेठजी ने वह फ़ाइल माँगी, जिसमें सर कृपाशंकर का पत्र और उसके उत्तर में उनका पत्र रक्खा था। फ़ाइल खोलने पर सेठजी ने देखा, दोनो पत्र एक चिट के साथ नत्थी हैं, जिसमें लाल स्याही से, मोटे अक्षरों में, लिखा है—"हस्ताक्षर करने से पूर्व इसे अवश्य देख लीजिए।"

इस पत्र और उनके दस्तख़त से इसके उत्तर में गए अपने पत्र की उन्हें ख़बर नहीं थी। पर इसमें मंत्री का दोष न था। इस महत्त्व-पूर्ण पत्र-व्यवहार की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करने के लिये, आफिस के नियम के अनुसार, उसमें पूरी कार्यवाही कर रक्खी थी।

मंत्री को जाने का इशारा करके वह उन पत्रों को ध्यान से देखने लगे। उन्हें जीवन में प्रथम बार अनुभव हुआ कि आधुनिक सभ्यता कितनी कृत्रिम

है, और आधुनिक सभ्यता का मनुष्य किस प्रकार अपने कार-बार का एक पुर्जा बना हुआ है। कार्याधिक्य के कारण उन्होंने इन पत्रों को न देखा था। सर कृपाशंकर के अज्ञात वास के समाचार पर उन्होंने अपने पत्र में उन्हें बधाई दी थी, उनकी संपत्ति का ट्रस्टी होना स्वीकार कर लिया था, और यथाशक्ति अपने कर्त्तव्य के पालन का बचन दिया था। रुक्मिणी का इस पत्र में कहीं कोई जिक्र न था। इस विशेष अवसर पर उन्हें उसे भी सहानुभूति-सूचक कोई पत्र लिखना चाहिए था, या स्वयं जाकर उसे बिदा करना था, और उसकी सफलता की मंगल-कामना करनी थी। उन्होंने सोचा, रुक्मिणी को ऐसी आशा अवश्य रही होगी कि उसके अज्ञात वास का समाचार सुनकर वह उसे कुछ-न-कुछ अवश्य लिखेंगे। शायद ऐसा पत्र न पाकर ही उसने शिकायत के रूप में वह पत्र लिखा होगा, और फिर उसे नहीं भेजा। कौन जाने, शायद वह उसे जाकर समझाते, तो वह पिता के साथ न भी जाती, और उनकी बात मान लेती। पर अब क्या हो सकता है। उन्होंने दूसरा बटन दबाया। एक चपरासी हाँफता हुआ आया। उससे उन्होंने रेलवे-टाइम-टेबुल मँगाकर देखा। दिल्ली जानेवाली गाड़ी में अभी ६ घंटे की देर थी। उन्होंने अपना कोट पहना, हैट उठाया और द्रुत गति से ऑफ़िस के कमरों को पार करते हुए, लिफ्ट के सहारे, नीचे की मंजिल में जा पहुँचे, और कार पर बैठकर उस जगह गए, जहाँ उनका हाल ही में जर्मनी से बनकर आया हुआ मोनोप्लेन रक्खा था। शीघ्रता में उन्होंने उसके पुर्जों की जाँच की, तेल की टंकी देखी, और उस पर सवार होकर उसे चला दिया। भन्नाटे के साथ प्लेन उड़ चला। हृदय में विविध विचारों का तूफानी समुद्र छिपाए हुए वायु-वेग से वह उस पत्र को देखने चले जा रहे थे, जिसे रुक्मिणी ने उनके नाम लिखा था, पर भेजा न था।

नीचे राजपूताने की मरुभूमि उन्हें अपने ही जीवन के समान शुष्क और नीरस प्रतीत हुई। जैसे उनके हृदय में प्रेम के अंकुर उगकर कुम्हला रहे थे, वैसे ही उन्होंने इस भूमि में देखा कि कहीं २ छोटी झाड़ियों के झुरमुट अपनी पत्तियों से प्यास-प्यास चिल्ला रहे हैं, और उनकी सुननेवाला कोई नहीं।

वह सोचने लगे, क्या अच्छा हो कि उनका हवाई जहाज बेकार हो जाय, और वह इन प्यासी झाड़ियों के झुरमुट में सदा के लिये खो जायँ। उन्हें ऐसा जान पड़ा, जैसे इस समाचार को सुनकर भी रुक्मिणी उनके ऊपर वैसे ही सदय न होगी, जैसे इस भूमि पर मेघ कभी सदय नहीं होता। बीच-बीच में उन्हें क्षुद्र झोपड़ियों के समूह भी मिले, जो शायद गाँव थे, और उनमें जीवन भी प्रतीत हुआ। पर वह जीवन उन्हें उन्हीं की हृदय की आशा और उमंगों के समान अनंत अनवसर से युद्ध करता हुआ प्रतीत हुआ। उनके मुँह से निकल पड़ा—"आह! रुक्मिणी, तुम कितनी कठोर हो।"

एकाएक उन्हें सूझा, जैसे इस वाक्य का प्रयोग करके उन्होंने रुक्मिणी के साथ अन्याय किया है। वह उन्हें सर्वथा असमर्थ और अपने पिता की बेढंगी इच्छाओं की बेड़ी से जकड़ी हुई प्रतीत हुई। फिर उन्हें इस प्रकार की कल्पना भी व्यर्थ प्रतीत हुई। तब कारण क्या है? कदाचित् वह अपने पिता को इतना प्यार करती है कि उन्हें अकेला छोड़ नहीं सकती। या कदाचित् उसके पिता के प्राचीन, बेढंगे आदर्श उसके हृदय में इतना घर कर गए हैं कि वह उनके ऊपर उठकर आधुनिक संसार की खिड़की से जीवन को नहीं झाँक सकती। तब क्या उसे उनकी बिलकुल परवा नहीं? और फिर वही उसके लिये क्यों इतने चिंतित हों? मनुष्य की कुछ इच्छाएँ ऐसी हैं, जो कदापि पूरी नहीं हो सकती, और उन इच्छाओं का दृढ़ता-पूर्वक दमन ही मनुष्य की विशेषता है। जो अपने आपको ऐसी व्यर्थ इच्छाओं के हवाले कर देता है, वह वास्तव में मूर्ख है, और उसके सब काम हास्यास्पद होते हैं। उन्हें अपना स्वयं कराची से इस प्रकार उड़ चलना हास्यास्पद प्रतीत हुआ। आखिर उस पत्र में इसके सिवा कि 'मैं पिता के साथ जा रही हूँ, मुझे भूल जाओ, और हो ही क्या सकता है? ओफ़्! इतने बड़े प्रतिष्ठित व्यापारी को एक अल्पवयस्का लड़की ने कैसा हास्यास्पद बना रक्खा है! उनके मन में आया कि वह वापस लौट जायँ, और रुक्मिणी का सदा के लिये खयाल छोड़कर अपने काम में लग जायँ। उन्होंने अपने उस छोटे-से हवाई जहाज को घुमाया भी।

पर यह क्या ? नीचे उस मरुभूमि में, स्वर्गीय कुसुम के समान खिला हुआ, जोधपुर मुस्किरा रहा था। मानो मंदिरों की ऊँची गुंबदों, मीनारों राजमहलों के कँगूरों और हवा में उड़ती पताकाओं के रूप में अपनी अगणित बाहें उठाकर उन्हें क्षण-भर सुस्ता लेने के लिये बुला रहा था। शीघ्र ही उनकी दृष्टि जोधपुर के हवाई अड्डे की ओर गई। वह शांत पड़ा था, और कई हवाई जहाज़ बहुत दूर से उड़कर आए हुए पक्षी के समान विश्राम ले रहे थे। और समय होता, तो वह यहाँ थोड़ा ठहरकर अवश्य कुछ खाते-पीते, और फिर से ताज़े होकर चलते, पर उन्हें भूख-प्यास सब भूली हुई थी। उन्हें सिर्फ़ एक इच्छा थी—रुक्मिणी के पत्र को देखना। दिल्ली थोड़ी ही दूर रह गई है। जब इतनी दूर आ गए हैं, तब उस वज्र-लेख को एक बार वह देख ही क्यों न लें। कराची की ओर से उन्होंने हवाई जहाज़ का रुख़ फिर दिल्ली की ओर किया, और उसकी चाल भी तेज़ की।

जोधपुर छोड़ने के बाद उनकी दृष्टि फिर उस मरुभूमि पर गई। वह अब भी उसी प्रकार उदास और प्यासी उनके साथ दौड़ी चली जा रही थी। यह वह स्थान था, जहाँ से उनके पूर्वज व्यापार के निमित्त कराची जाकर बसे थे। एक बड़े अहाते से घिरा हुआ वह विशाल मंदिर उन्हें दिखाई पड़ा, जो उनके पिता ने मरने के पूर्व बनवाया था, और जहाँ आजकल उनकी माता अपने पुत्र की मंगल-कामना करती हुई देव-पूजन में लीन थी। मां ने उन्हें कई बार विवाह कर लेने के लिये कहा था, और अपनी जाति में कई सुंदरी और सर्वगुण-संपन्ना लड़कियाँ भी उसने ठीक कर रक्खी थीं। पर माता की आज्ञा न मानकर उन्होंने उसे दुखी किया था। उन्हें जान पड़ा, जैसे उनकी मां इस विशाल मंदिर में अपना दुःख छिपाए पड़ी हैं। एक अपूर्व मातृभक्ति से उनका हृदय उमड़ आया। उन्होंने सोचा, क्षण-भर यहाँ रुक जाऊँ, और अपने आपको माता के हाथों में सौंप दूँ। उन्हें अपनी और अपनी माता की वह तसवीर याद आई, जिसमें वह उन्हें हवा में फेंककर रोकने के लिये तैयार खड़ी थी। ओह! वे कितने सुंदर दिन थे। उनके मन में आया, कुछ दिन मां के चरणों के समीप निवास करके शांति

लाभ करूँ। वह मुझे नीचे न गिरने देगी। पर अब वह मंदिर बहुत पीछे छूट चुका था, साथ ही उनका यह विचार भी बादल की छाया की भाँति उनके हृदय पर क्षण-भर को अंकित होकर फिर मिट गया था। केवल वह मरुभूमि जो छोड़कर उनके साथ दौड़ी जा रही थी। उन्हें टेलीफ़ोन पर कही गई अपने सहयोगी की फ्रांस के उस आविष्कारक की बात याद आई, जो हवाई कुओं द्वारा सारी मरुभूमि को सरसब्ज़ बनाने का दावा करता है। उन्होंने अपने सहयोगी को बड़ी रुखाई के साथ उत्तर दिया था। सब काम अर्थ-लाभ के लिये ही नहीं किए जाते, और फिर अपनी मातृभूमि के लिये तो सर्वस्व भी निछावर किया जा सकता है। उन्हें जान पड़ा, जैसे उन्होंने वे बातें अपने सहयोगी को टाल देने के लिये कही थीं। उन्हें अपने आप पर फिर क्रोध आया। ओफ़्! रुक्मिणी! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था।

उन्हें नीचे की भूमि बदलती हुई प्रतीत हुई। उन्हें जान पड़ा, जैसे उनकी मातृभूमि पीछे छूटी जा रही है। उन्होंने उसे प्रणाम किया, और कहा—"जननी! तू अब बहुत दिनों तक प्यासी न रहेगी। मैं तुझे सर-सब्ज़ बनाऊँगा। मैं अपना तन-मन-धन सब तेरी सेवा में लगा दूँगा।"

उन्हें जान पड़ा, जैसे उनका हृदय हल्का हो गया है। परंतु अरे! यह क्या? हवाई जहाज़ का एंजिन एकाएक रुक-रुककर चलने लगा। भीषण दुर्घटना की आशंका से वह अत्यंत सावधान हो गए। क्षण-भर को इन्हें सब कुछ भूल गया, और वह पूर्ण मनोयोग से एंजिन के रुक-रुककर चलने की खोज करने लगे। उन्होंने देखा, पेट्रोल की टंकी में एक पतला छिद्र हो गया है, और बहुत-सा पेट्रोल निकल जा चुका है। दिल्ली पहुँचना तो दूर रहा, कहीं उन्हें ऐसा स्थान भी न दिखाई पड़ा, जहाँ वह हवाई जहाज़ को आसानी से उतार सकें। भूमि ऊबड़-खाबड़ थी, और बेढंगी लकड़ी के बनों से ढकी सी थी। एकाएक एंजिन, उनके शासन से बाहर हो गया, और हवाई जहाज़ गिरने लगा। नीचे एक उन्हें एक विचित्र प्रकार

का कोलाहल सुनाई पड़ा। देखा, बहुत-से ग्रामीण पुरुष, स्त्रियाँ और लड़के "हवाई जहाज गिर रहा है! गिरा! गिरा!! गिरा!!!" कहकर चिल्ला रहे हैं, और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है। गाँववालों के कोलाहल पर ध्यान न देकर उन्होंने प्राण-पण से हवाई जहाज को क़ाबू में लाने और उसे किसी सुरक्षित स्थान पर उतारने की चेष्टा की। पर उनकी सब चेष्टाएँ विफल हुईं। जहाज़ शोर मचानेवालों के सिर के ऊपर से उड़कर अब गाँव के ऊपर आ गया था, और चिल्लाने वाले भी उसके पीछे—"गिरा! गिरा!! गिरा!!!" कहते हुए दौड़े आ रहे थे। इस मुसीबत का सामना करने के लिये लक्ष्मीचंद में कहीं से असाधारण शक्ति आ गई, और वह ख़ास स्थान पर पहुँचते ही जहाज से कूदकर प्राण बचाने के लिये तैयार हो गए।

एकाएक एक धड़ाम का शब्द हुआ। जहाज़ एक मकान के दो छप्परों के बीच आकर उनमें बेंड़ा होकर अटक गया था, और लक्ष्मीचंन्द सरकसके खिलाड़ी की भाँति उससे कूदकर उस मकान के आँगन में कई गुड़मुड़ी खाकर खड़े हो गए।

अपने आस-पास के स्थान पर उन्होने स्थिर-चित्त होकर देखा भी न था कि उनके कान में एक परिचित स्वर पड़ा—"चोट तो नहीं आई?"

उन्होंने देखा, स्वच्छ सफ़ेद और मोटा वस्त्र पहने, पसीने से तर तथा आटे की गर्द से ढकी, घबराई-सी रुक्मिणी सामने खड़ी है, और मुस्किराने की चेष्टा कर रही है।

लक्ष्मीचंद ने आश्चर्य से कहा—"रुक्मिणी, तुम हो! मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। तुम्हारी यह दशा!"

"मैं चक्की चला रही थी। देहाती जीवन में स्त्री का यह सर्वोत्तम विनोद है।"

इसी समय मकान के भीतर से रुक्मिणी की ही समवयस्का और उसी के समान धूल-धूसरित एक और युवती निकली। लक्ष्मीचंद को देखकर

कुछ संकुचित हुई, फिर उसके कान के पास मुँह ले जाकर लजाती हुई बोली—"यह कौन हैं?" रुक्मिणी कुछ कहने ही वाली थी कि बाहर से दर्जनों नंगे-धड़ंगे लड़के बेतहाशा दौड़ते हुए आए, और उससे लिपटकर सब एक साथ कहने लगे—"रुकमिन दीदी! रुकमिन दीदी! छप्पर पर देखो! छप्पर पर! ओहो! हवाई जहाज़! हम भी इस पर चढ़ेंगे, और छप्पर पर से कूदेंगे।"

रुक्मिणी ने एक सबसे छोटे बच्चे को, जो उसके मोटी साड़ी पकड़कर उठने का प्रयत्न कर रहा था, गोद में लेते हुए और उसका मुख चूमते हुए कहा—"आजकल मैं इन बच्चों की मां हूँ।"

लक्ष्मीचंद ने और भी अधिक आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"मेरी समझ में नहीं आता, तुम्हें क्या हो गया है?"

"सब बताऊँगी। पर पहले मुँह-हाथ धोइए, कुछ खाइए-पीजिए, और थोड़ा विश्राम कर लीजिए।"

---

[५]

रुक्मिणी गरमी से घबराकर पसीना सुखाने के लिये बाहर निकल आई थी, और उसकी ग्रामीण सहेली अकेले ही चक्की चला रही थी। चक्की की आवाज के कारण उन्हें गाँववालों का शोर-गुल स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ा था। बाहर निकलते ही उसने लक्ष्मीचंद को, छप्परों पर हवाई जहाज छोड़कर, सरकस के खिलाड़ी के समान, अँगन में कूदते देखा। उसने उस समय यह नहीं समझा कि लक्ष्मीचंद बेबसी की हालत में यहाँ उतरे हैं। उसने यही अनुमान किया कि लक्ष्मीचंद ने किसी प्रकार उनके इस गाँव में रहने का पता पा लिया है, और वह उनसे मिलने और फिर उन्हीं सब बातों को दोहराने आए हैं।

पर जब गाँववालों की भीड़ मकान के चारो ओर लग गई, और लड़कों के बाद ही बहुत-से स्त्री-पुरुष घर के भीतर भी जमा हो गए, और उस तारे के समान टूटे हुए हवाई जहाज से बाल-बाल बच जानेवाले युवक के साहस और धैर्य की प्रशंसा करने लगे, तब रुक्मिणी को वस्तु-स्थिति का ज्ञान हुआ।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"मैं काफ़ी पेट्रोल लेकर चला था, इसीलिये मार्ग में मैंने उसकी जाँच नहीं की। यदि देख लेता, तो जोधपुर में पेट्रोल ले लेता, वह सूराख भी बंद करा देता, फिर यह नौबत न आती। पर मानो जड़ प्रकृति मेरे अंतस्तल की पुकार पर द्रवित हो उठी, और उसने मुझे यहाँ ला गिराया। रुक्मिणी! मेरा और तुम्हारा कैसा औपन्यासिक संयोग है, कैसा आश्चर्य-जनक मिलन! मैं तो तुमसे मिलने की आशा ही छोड़ बैठा था। केवल तुम्हारा वह पत्र देखने जा रहा था, जिसे तुमने यहाँ आने

से पहले मेरे नाम लिखा था, पर भेजा न था। सर शंकर कहाँ हैं?"

"पास के ही एक गाँव में गए हैं। शाम तक आ जायँगे।" समय देखने के लिये उसने अपनी कलाई घुमाई, पर वहाँ घड़ी न थी। रुक्मिणी मुस्किराई—"उँह, पुरानी आदतें अभी बनी हैं।"

"क्या घड़ी रखने से भी तुम्हारे इस नूतन प्रयोग में कुछ बाधा पहुँच सकती है?"

"ऐसी बात नहीं है, पर उसकी आवश्यकता ही यहाँ क्या है।"

लक्ष्मीचंद को देखनेवालों की भीड़, उस छोटे-से आँगन में, इस क़दर टूटी पड़ रही थी कि उनका वहाँ ठहरना मुश्किल हो गया। गाँववालों को दर्शन देने के लिये उन्हें घर से बाहर निकलना पड़ा।

बाहर निकल कर लक्ष्मीचंद ने देखा, कच्ची मिट्टी की छोटी-छोटी दीवारों पर रक्खे सड़े हुए फुस के छप्परों और कहीं-कहीं खपरैलों के बीच से एक तंग रास्ता उत्तर से दक्खिन को गया है, और थोड़ी दूर पर दक्खिन की ओर जाकर इतना चौड़ा हो गया है कि टेनिस आसानी से खेली जा सकती है। इस मैदान के दक्खिन खपरैल का एक दुमंजिला मकान है, जिसके ऊपर से लाल, नीले, हरे एवं काले लहँगों और ओढ़नियों में छिपी, उँगलियों में अनेक मुँदरियाँ तथा कलाइयों पर हाथी-दाँत की-सी कोड़ियाँ चुड़ियाँ पहने, दो उँगलियों से घूँघट हटाकर और उनके बीच से एक आँख गड़ाकर ग्राम्य युवतियाँ उनकी ओर देख रही हैं। नीचे घुटनों से ऊपर मोटी, मटमैली धोतियाँ पहने, सिरों पर रंगीन पगड़ियाँ बाँधे, कुछ पुराने ढंग के बंददार कुर्ते पहने और कुछ नंगे बदन दढ़ियल ग्रामवासी खड़े हैं। रुक्मिणी ने बताया यह गाँव के मुखिया का मकान है। इनकी जाति राजपूत है। मकान में आगे की ओर एक दालान थी। उसके बाहर एक चारपाई पड़ी थी। मुखिया ने अपनी खिचड़ी दाढ़ी पर कंघी फेरते हुए आगे बढ़कर लक्ष्मीचंद का स्वागत किया, और उन्हें चारपाई पर बैठाया। उनके बैठते ही मुखिया भी उसी चारपाई पर बैठ गया। उसी समय लक्ष्मीचंद

ने देखा कि अनेक लोग आसपास के घरों से चारपाइयाँ ला-लाकर वहाँ बिछा रहे और उन पर बैठ रहे हैं। घरों से बाहर जो स्त्रियाँ निकल सकती थीं, वे घूंघट के भीतर से एक आँख से देखती हुई जमीन पर बैठ गईं। कुछ पुरुष और स्त्रियाँ फ़ासले पर, एक ओर खड़े रहे। ये अछूत जाति के थे।

मुखिया संग्रामसिंह ने कहा—"बिना दाढ़ी-मूछ का आदमी भी हिम्मत दिखा सकता है, यह आज मैंने देखा।"

पास की चारपाई पर बैठे हुए एक दूसरे दढ़ियल ने कहा—"अगर इनके दाढ़ी होती, तो यह भी तुम्हारी तरह उस पर कंघी फेरते हुए किसी गाँव में बैठे होते।"

दूसरी चारपाई पर बैठे हुए एक नंगे बदन दढ़ियल ने कहा—"यह कलियुग है। कलियुग में बिना दाढ़ी-मूछ का ही आदमी मर्द कहलाता है।"

तीसरी चारपाई पर से आवाज आई—"और दाढ़ीवाले जनाने होते हैं, क्यों?"

लक्ष्मीचंद ने सोचा, इन लोगों ने तो अच्छा समय नष्ट करना शुरू किया। वह उठकर खड़े हो गए। उसी समय रुक्मिणी वहाँ आई। उसका सम्मान करने के लिये सब लोग उठ खड़े हुए, और उसके बैठने के लिये एक चारपाई छोड़ दी। यह पहली स्त्री थी, जो सार्वजनिक स्थान में मर्दों के बराबर इस गाँव में चारपाई पर बैठ सकती थी। पर वह बैठी नहीं। उसने मुखिया को अलग ले जाकर उससे कहा—"आप इन्हें अपनी बैठक में ठहरा लीजिए, और मुंह-हाथ धुलवाइए। मैं थोड़ा दूध गरम करके लाती हूँ।"

"हाँ-हाँ" मुखिया संग्रामसिंह लक्ष्मीचंद को लेकर अपनी बैठक की ओर चले। उनके पीछे फिर उसी प्रकार गाँववालों की भीड़ चली।

लक्ष्मीचंद ने देखा, यह बैठक मुखिया के मकान के पास ही सर्वथा एक अलग कमरा है। उसमें जाने के लिये सिर्फ एक दरवाजा है। उन्हें भीतर

कुछ अँधेरा भी जान पड़ा। लक्ष्मीचंद बोले—"इसमें तो दम घुट जाने का डर है, इससे तो बाहर ही बैठना अच्छा।"

संग्रामसिंह ने पीछे मुड़कर साथ आनेवाली भीड़ को डपटकर कहा—"ज़रा सब्र करो यारो! आदमी नहीं देखा है? एक पर एक चढ़े चले आ रहे हो!" फिर वह लक्ष्मीचंद से बोला—"कुछ तकलीफ़ न होगी, चुपचाप चले आइए।"

पीछे दढ़ियलों की भीड़ और आगे अँधेरा, पर खुली जगह। लक्ष्मीचंद ने आगे ही जाना मुनासिब समझा। कमरे के अंदर दाखिल होने पर उन्होंने खपरैल से छनकर आती हुई रोशनी में देखा कि कमरे में एक ओर एक तख्त पड़ा है। उस पर एक गर्द से पटी और मैली दरी बिछी है, और उस पर एक बड़ा तकिया, जो तेल से तर और गर्द से पोखा हुआ है, रक्खा है। ऐसे मलिन आसन पर उनकी बैठने की हिम्मत न हुई। पर यह सोचकर कि इस व्यवहार से यह दढ़ियाल मुखिया दुखी हो जायगा, वह उस पर बैठ गए, और कहा—"ठाकुर साहब, ज़रा इन लोगों से कहिए, दरवाजा खुला रहने दें, ताकि साँस लेने के लिये हवा तो आवे।" संग्रामसिंह भीड़ को डपटने के लिये एक बार और दरवाज़े की तरफ बढ़े।

छप्पर पर गिरा हवाई जहाज बाहर से दिखलाई पड़ रहा था, लड़के उसे देख-देखकर कूद रहे और शोर मचा रहे थे। भीड़ का अधिकांश उस ओर आकर्षित हो गया, और जो बचा, वह कमरे के अंदर आ गया। लक्ष्मीचंद ने पूछा—"यही आपकी बैठक है?"

"हाँ।"

"बड़ा अंधेरा है। दो-एक दरवाजे इसमें और होते, तो अच्छा होता।"

"दो!" मुखिया ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"पूरे चार दरवाजे और छ खिड़कियाँ इसमें खुलेंगी। स्वामीजी को इससे कम में संतोष न होगा।"

"कौन स्वामीजी ?"

"जो लड़की आपके लिये दूध लेने गई है, उसी के बाप ! बड़े ही पहुँचे हुए महात्मा पुरुष हैं। चारो वेद उनको कंठ हैं। जो पूछिए, सो बताते हैं। पास के एक गाँव में एक मामला तय करने गए हैं। शाम को आएँगे, तब आप उनसे बात कीजिएगा। बहुत ही पहुँचे हुए हैं। जैसा वह कहते हैं, वैसा सब करने लगें, तो आज यह गाँव स्वर्ग बन जाय ! आज !"

मुखिया का इशारा पाकर एक लड़का लोटे में पानी लाया। लक्ष्मीचंद उस कमरे के बाहर आकर मुंह-हाथ धो ही रहे थे कि रुक्मिणी एक गिलास में दूध ले आई। लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी, इस बीसवीं सदी में भी ऐसे-ऐसे गाँव इस देश में मौजूद हैं, यह बेशक हम शिक्षित भारतीयों के लिये बड़े कलंक की बात है। विश्व का भ्रमण करने के बाद सर शंकर का इस कलंक को मिटाने के लिये व्याकुल हो उठना सर्वथा स्वाभाविक है। परंतु उन्होंने जो मार्ग चुना है...।"

वही श्रेयस्कर है !"

अपनी पैंट की जेब से रूमाल निकालकर मुंह पोंछते हुए लक्ष्मीचंद ने कहा—"मैं यह नहीं मान सकता। हिंदोस्तान अपने आपको, संसार में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे अछूता नहीं रख सकता।"

"संसार को रास्ता तो दिखला सकता है ?"

लक्ष्मीचंद कुछ उत्तेजित होकर बोले—"रुक्मिणी, संसार इस रास्ते से गुजर चुका, और इसे छोड़ चुका है। एक भारतीय के नाते मेरा भी यह फ़र्ज़ है कि सर कृपाशंकर भारत को जो रास्ता दिखा रहे हैं, मैं साबित कर दूँ कि वह ग़लत है और मैं उसे सच्चा मार्ग दिखाऊँ।"

रुक्मिणी ने मुस्किराने की चेष्टा करते हुए कहा—"मैं चाहती हूँ, आपका यह उत्साह बराबर बना रहे, और आप वास्तव में कुछ करें।"

लक्ष्मीचंद ने भी मुस्किराने की चेष्टा करते हुए कहा—"अच्छा, तो प्रतिज्ञा करो कि यदि मैं सफल हुआ, तो तुम मेरी बनकर रहोगी।"

"तुम्हारे पुरुषार्थ का यह कुछ भी पुरस्कार न होगा, पर यदि तुम्हें इतने ही से संतोष है, तो मैं प्रतिज्ञा करती हूँ।"

रुक्मिणी ने कमरे के भीतर प्रवेश किया, और लक्ष्मीचंद उसके पीछे गए। वहाँ जाकर देखा, मुखिया संग्रामसिंह उस मैली दरी पर लेटे खुर्राटे ले रहे हैं।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"ऐसे असभ्य और जंगली लोगों के बीच में इस प्रकार स्वच्छंदता-पूर्वक तुम्हारा रहना भारी ख़तरे का काम है। ये स्त्री की इज्जत करना नहीं जानते।"

रुक्मिणी ने कहा—"यह बहुत बड़ा अपराध है, जो आप इन भोले-भाले ग्रामीणों को लगा रहे हैं। मैं अपने दो महीने के अनुभव से कह सकती हूँ कि स्त्री का सम्मान ये जितना करते और कर सकते हैं, उतना संसार के किसी भी...."

"बस मान गया, अब आगे बढ़ने की जरूरत नहीं।" लक्ष्मीचंद ने उसके हाथ से गिलास लेते हुए कहा।

इस वार्तालाप से मुखिया संग्रामसिंह की नींद खुल गई। वह अपनी धोती से अपनी गर्दन का पसीना पोंछते हुए उठ बैठे, और बोले—"माफ़ कीजिएगा, बड़े आलस के दिन हैं। मुझे नींद आ गई थी।"

आधा गिलास ख़ाली कर जाने पर लक्ष्मीचंद ने कहा—"कोई परवा नहीं, आपका सब माफ़ है।"

संग्रामसिंह तख़्त के नीचे आ खड़े हुए, और आसमान की ओर एक हाथ झटककर कहा—"अब कुछ माफ़ नहीं रहा भाई साहब, किसी समय हमारे तीन ख़ून माफ़ थे। अब तो किसी के तमाचा भी मारें, तो हथकड़ी पड़ जायँ।"

इसी समय बाहर हल्ला मचा—"स्वामीजी आ गए ! स्वामीजी आ गए।" लक्ष्मीचंद ने कमरे के बाहर निकलकर देखा, सर कृपाशंकर आधी धोती पहने, आधी ओढ़े, खड़ाऊँ खटपटाते चले आ रहे हैं।

लक्ष्मीचंद को देखते ही वह आश्चर्य-चकित होकर बोले—"सेठजी ! आप हैं।"

"जी हाँ। मैं एक दुर्घटना का शिकार होते-होते बच गया। पर जीवित बच जाने की मुझे ज़रा भी खुशी नहीं, क्योंकि मैं देखता हूँ, आप कहीं अधिक भीषण दुर्घटना के शिकार हो गए हैं। मैं आपको इस दयनीय वेश में देखने के लिये ऊपर से गिरने पर जीवित न बचता, तो अच्छा होता।"

सर कृपाशंकर मुस्किराए। लक्ष्मीचंद ने फिर कहा—"आप विचारों की एक बहुत बड़ी ऊँचाई से इस खड्डे में आ गिरे हैं। दुर्घटना केवल उसे ही नहीं कहते, जिसमें हाथ-पाँव टूटें, और जान जाय। विचारों की उँचाई से गिरना उससे भी भीषण दुर्घटना है।"

सर कृपाशंकर हँस पड़े। बोले "तुम्हारी इस तर्क-शैली की मैं प्रशंसा करता हूँ। परंतु मेरी इस स्थिति को तुम मेरी दृष्टि से देखो, तो कहोगे कि मैं विचारों की उँचाई से नीचे नहीं गिरा हूँ, नीचे से ऊपर चढ़ा हूँ। जागकर सोया नहीं हूँ, बल्कि सोकर जागा हूँ। पर खैर, ये सब बातें पीछे होंगी! पहले यह बताओ कि इस दुर्घटना का अवसर कैसे आया?

"आप लोगों का प्रेम यहाँ खींच लाया, और क्या कहूँ।"

रुक्मिणी ने आगे बढ़कर कहा—"पिताजी, आप तो शाम को आने-वाले थे?"

"हाँ, पर जब सुना कि मेरे गाँव में, मेरे ही छप्परे पर एक हवाई जहाज गिरा है, तब जल्दी चला आया। सबसे पहले उस जहाज को नीचे उतरवाने की कोशिश होनी चाहिए।"

सब लोग उस कमरे से बाहर निकले। देखा, हवाई जहाज अब भी

छप्परों पर उसी प्रकार पड़ा है, और गाँववाले उसे कुतूहल-पूर्वक देख रहे हैं।

सर कृपाशंकर ने कहा—"इसे बहुत सावधानी के साथ नीचे उतारना होगा।"

गाँववाले कई सीढ़ियाँ ले आए, और बात-की-बात में छप्परों पर कई आदमी पहुँच गए। वहाँ उन्होंने देखा, हवाई जहाज आगे की ओर फूस को फाड़कर ठाठ में धँस गया है। उनमें से एक ने कहा—"बग़ैर छप्पर काटे, इस जहाज को सही-सलामत उतारना कठिन है।"

दूसरा छप्पर, जिसके अधिक काटे जाने की संभावना थी, गाँव के पुरोहित पंडित शिवदत्त के मकान पर था। अब तक वह धैर्य धारण किए खड़े थे, और कई बार मन में सोच चुके थे कि चिल्लाकर कह दें—देखो, सँभलकर चढ़ना, छप्पर न टूटे, परंतु कुछ सोचकर रह गए थे। अब इस समाचार से कि छप्पर काटा जायगा, वह बेचैन हो उठे। घबराए हुए इधर-उधर टहलने लगे, और चिल्लाकर कहने लगे—"खबरदार, जो छप्पर किसी ने काटा। तीन साल बाद बड़ी मुश्किल से मैं उसकी मरम्मत कर पाया हूँ।"

उनकी विचित्र अवस्था थी। अपने हाथ में लिए मोटी गुरियों की माला वह जल्दी-जल्दी घुमाने लगे। छप्पर पर चढ़े एक आदमी ने कहा—"शिवदत्त महाराज, हम सब लोग आपका छप्पर फिर बना देंगे।"

"नहीं, नहीं, खबरदार! एक भी खर छुआ कि मैंने प्राण दिया।"

शिवदत्त महाराज ने अपने मोटे और मैले जनेऊ से अपना गला कसना शुरू किया।

मुखिया संग्रामसिंह अपने पाँच वर्ष के बालक को कंधे पर बैठाए पास ही खड़े यह दृश्य देख रहे थे। उन्हें जान पड़ा, जैसे शिवदत्त महाराज ने प्राण दिया, और ब्रह्महत्या का दोष उन सब पर लगा। उन्होंने बालक

को तत्काल जमीन पर फेंक दिया, और गरजकर बोले—"गऊ-ब्राह्मण की रक्षा करना क्षत्रिय का पहला धर्म है। मैं ब्राह्मण को प्राण न देने दूँगा। जो इनका छप्पर खराब करेगा, उसे मैं बिना यमपुर पहुँचाए न मानूँगा।"

गुस्से से काँपते हुए वह सीढ़ी पर चढ़ने लगे। इधर उनका लड़का जमीन पर बैठाए जाने के कारण चिल्ला रहा था। सीढ़ी पर आधी दूर पहुँचने पर उनका ध्यान लड़के की ओर गया। वहीं से घूमकर बोले—"चुप-चुप! शैतान के बच्चे, जरा भी रोया, तो कंस बन जाऊँगा, और उठाकर पत्थर पर पटक दूँगा।"

पर लड़के ने इस घुड़की की ज़रा भी परवा न की। वह और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा।

सर कृपाशंकर ने शिवदत्त के पास जाकर कहा—"पुरोहितजी! आत्म-हत्या सबसे बड़ा पाप है।"

"ब्राह्मण के लिये नहीं।"

"माना, मगर ब्राह्मण लोग सांसारिक वस्तुओं के लिये जान दें, यह किस शास्त्र में लिखा है?"

"वस्तु का प्रश्न नहीं, न्याय का प्रश्न है। मान लीजिए, मेरा छप्पर यहाँ से उड़ता और उसके हवाई जहाज़ पर जा गिरता, और इसी प्रकार उसमें फँस जाता, तो क्या आप या कोई उसका हवाई जहाज काटकर मुझे छप्पर निकालने देते?"

सेठ लक्ष्मीचंद ब्राह्मण देवता के इस तर्क पर हँसे। उन्होंने कहा—"हँसते क्यों हैं? आप बड़े आदमी हैं, आपका हवाई जहाज़ क़ीमती है। आपका कुछ न बिगड़े, मेरा चाहे सर्वस्व चला जाय। यही इस गाँव का न्याय है। अमीर के सब मददगार, ग़रीब का कोई नहीं।"

कृपाशंकर ने कहा—"पर पुरोहितजी, जरा सोचिए कि क्या एक परदेशी की वस्तु, जो आपके छप्पर पर पड़ी है, इसी प्रकार पड़ी रहने दी जाय?"

"मैं कहता तो हूँ, उसे निकालिए। यों न निकले, तो काट-काटकर निकालिए, पर मैं अपना छप्पर न छूने दूँगा।"

लक्ष्मीचंद ने कहा—"और, यदि मैं आपके इस छप्पर के स्थान पर नया छप्पर चढ़वा दूँ?"

"मैं आपसे भिक्षा नहीं चाहता, मैं भिखारी ब्राह्मण नहीं हूँ।"

इधर यह बहस चल रही थी, उधर मुखिया संग्रामसिंह कभी एक क़दम ऊपर चढ़ते थे, और कभी लड़के का चिल्लाना सुनकर एक क़दम नीचे आ जाते थे।

सर कृपाशंकर ने कहा—"संग्रामसिंह, क्या खेल कर रहे हो। नीचे उतरो, और लड़के को सँभालो।"

"आपकी आज्ञा हो, तो मैं नरक में जाने को तैयार हूँ, पर पुरोहितजी से कहिए, पहले अपनी फाँसी ढीली करें।"

कृपाशंकर ने पुरोहितजी से कहा—"महाराज! यह क्या कर रहे हैं?"

पुरोहितजी ने कहा—"आज न प्राण दिया, कल दिया। जब आप-जैसे महात्मा पुरुष इस गाँव में आ गए हैं, तब मुझे प्राण देना ही होगा। अधर्म मैं नहीं देख सकता। इसलिये मरना ही है, तब जैसे आज, वैसे कल।"

रुक्मिणी ने पुरोहितजी के सामने आकर कहा—"ब्राह्मण देवता! इस समय आपके सामने क्या अधर्म हो रहा है, जो आप इस प्रकार जान देने पर तुले हुए हैं?"

पंडितजी ने अपना मुँह दूसरी ओर फेरते हुए कहा—"स्त्री की ओर मुझे देखने की आदत नहीं है, और न स्त्री की बात का मैं उत्तर ही दे सकता हूँ। इस काम के लिये संग्रामसिंह को ही बदनाम रहने दीजिए।"

मुखिया संग्रामसिंह को पुरोहितजी का यह रिमार्क बहुत बुरा लगा। और फिर, इतने आदमियों के सामने तो वह ऐसी बात सुनने को तैयार न

थे। वह धड़धड़ाते हुए सीढ़ी से नीचे उतर आए, और अपने लड़के को उठाकर बोले—"इसे आपके सिर पर पटक दूँगा। बरसों से शंकर की पूजा कर रहे हैं, और अभी मन का मैल न गया।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"संग्रामसिंह! तुम दूर हटो।"

"बहुत अच्छा, स्वामीजी। पर इनसे कह दीजिए, जबान सँभालकर बोलें, नहीं, तो जो बात कुल में कभी नहीं हुई, वह होगी। ब्रह्महत्या का दोष लगेगा।"

"मैं कहता हूँ, तुम चुप रहो।"

"बहुत अच्छा, मगर......"

"चुप।"

पुरोहित शिवदत्त ने कहना शुरू किया—"आज इस हवाई जहाज को निकाल लेने दूँ, तो कौन जाने कल दूसरा न आ गिरेगा। जवान लड़की घर में बैठाल रखने का यही नतीजा होता है।"

यह बात नवयुवक सेठ लक्ष्मीचंद को बहुत बुरी लगी। वह अपने पेंट की जेब में सदैव पिस्तौल रखते थे। अनायास उनका हाथ पिस्तौल पर गया, और उन्होंने उसे निकालकर, पंडित शिवदत्त के सीने के पास ले जाकर कहा—"बस, अब जो ऐसी बात मुँह से निकाली, तो एक मिनट में तुम्हारा काम तमाम!"

शिवदत्त के हाथ-पाँव फूल गए। पर वह कड़े ब्राह्मण थे, उन्होंने आँख बंद करके कहा—"फ़ायर करो।"

सर कृपाशंकर ने शिवदत्त के आगे आकर कहा—"सेठजी, यह क्या! मुझमें और शिवदत्तजी में कोई अंतर नहीं। क्या तुम्हारे हृदय में मेरे लिये यही सम्मान है?"

लक्ष्मीचंद ने पिस्तौल जेब में रख लिया, और शिवदत्तजी से क्षमा-प्रार्थना की। शिवदत्तजी की उत्तेजना अपनी परा काष्ठा पर पहुँचकर

ठंडी पड़ रही थी। गाँववालों को वह यह दिखा चुके थे कि ऐसे विद्वान् महापुरुष के आने पर भी उनका ब्रह्मतेज मलिन नहीं पड़ा था। उन्होंने कहा—"स्वामीजी! तब आप वादा करते हैं कि छप्पर ठीक करा दीजिएगा?"

"कहता तो हूँ।"

"अच्छी बात है, जैसे बने, निकलवा लीजिए। पर मैं अपना विनाश अपनी आँखों के सामने न देख सकूँगा।"

खट, खट, खट माला फेरते हुए पुरोहितजी गाँव के बाहर बने शिवजी के मंदिर में चले गए।

शीघ्रता-पूर्वक काम शुरू हुआ, और हवाई जहाज बड़े शोर-गुल के बाद उस मैदान में उतारा गया।

लक्ष्मीचंद का ख़याल था कि तेल की टंकी ठीक करके और पास के बाज़ार से, जहाँ लारियाँ आते-जाते रुका करती हैं, पेट्रोल मँगाकर वह वापस जा सकेंगे। पर उन्होंने देखा, एंजिन का एक हिस्सा टेढ़ा हो गया है। और, यद्यपि मामूली मरम्मत से काम बन सकता है, पर ऐसे औज़ार उनके पास नहीं हैं।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"इसी प्लेन से वापस जाना असंभव है। रेलवे-स्टेशन यहाँ से कितनी दूर है। संभवतः यह गाँव शेखावटी और रिवाड़ी से किशनगढ़ होते हुए अजमेर जानेवाली लाइन के बीच में है।" उन्होंने हवाई जहाज के भीतर से उड़ाकों के लिये तैयार किया गया मानचित्र निकाला, और हिसाब लगाना शुरू किया।

सर कृपाशंकर ने कहा—"ये सब बातें कल सोच ली जायँगी, आज तो आप हमारे मेहमान बनिए, और हमारे कार्य की गति-विधि देखिए।"

रुक्मिणी ने कहा—"और मेरे हाथ की बनी ज्वार की दो गरम-गरम रोटियाँ खाइए।"

———

[६]

संध्या के भोजन के बाद गाँव के सब लोग उसी मैदान में प्रार्थना के लिये एकत्र हुए। प्रार्थना का यह क्रम सर कृपाशंकर ने चलाया था, जिन्हें इस नाम से पुकारनेवाला यहाँ कोई न था। सर कृपाशंकर दक्षिण की ओर मुँह करके बैठे। उनके दाहनी ओर सब पुरुष बैठे, जिनमें पुरोहित शिवदत्तजी और मुखिया संग्रामसिंह भी थे। बाईं ओर सब स्त्रियाँ बैठीं, जिनमें रुक्मिणी और उसकी वह ग्राम-सहेली भी थी, जिसे लक्ष्मीचंद ने दिन में सर्वप्रथम उसके साथ देखा था। बीच में छोटे बच्चे, जिनमें लड़कियाँ-लड़के सभी थे, बैठे। रुक्मिणी को छोड़कर शेष सब स्त्रियों के मुख पर घूँघट पड़ा था। उनमें से दो-एक कभी-कभी इधर-उधर देख लेती थीं। लक्ष्मीचंद सर कृपाशंकर के बग़ल में बैठे थे।

सबसे पहले रुक्मिणी ने अकेले एक मनोहर भजन गाया। उसके बाद उसने दूसरा भजन गाया। इसमें जितने भी लोग उपस्थित थे, सबने उसका साथ दिया। केवल लक्ष्मीचंद चुप रहे। भजन समाप्त होने पर सर कृपाशंकर ने मंद स्वर से कहा—"हे ईश्वर! तेरी कृपा से हमारा आज का दिन सुख-पूर्वक समाप्त हुआ। हमें शक्ति दे कि हम दूसरे दिन सबेरे नई उमंग से काम में लगें। इस गाँव में जितने निवासी हैं, सब एक दूसरे से प्रेम करें, एक दूसरे की सहायता करें, एक दूसरे के लिये अपना सर्वस्व त्याग कर दें। सब सच्चे और निर्भय बनें। सब मिलकर इस गाँव को स्वर्ग का एक कोना बना दें, जिससे तू स्वयं यहाँ अवतार लेकर भारत का उद्धार करे। इसी आशा से हम तेरा ध्यान करते हुए शांत चित्त से विश्राम करने जाते हैं। ओम् शांतिः शांतिः शांतिः।"

समस्त ग्राम-वासियों ने क्रमशः ऊँची उठती हुई आवाज से एक-एक वाक्य करके सर कृपाशंकर के इस कथन को दोहराया। और, उन सबों ने एक साथ अनुभव किया, मानो उनकी आवाज़ इस मृत्युलोक से ऊँचे उठकर अनंत आकाश को चीरती हुई ईश्वर के कानों से टकरा रही है, और उसकी अगणित दृष्टियाँ तारा बनकर उनकी ओर सदय भाव से देख रही हैं।

एक बालक के दौड़ने की-सी आवाज़ ने गाँववालों की इस तन्मयता को भंग कर दिया। बालक सर कृपाशंकर के क़रीब आते-आते एकाएक ठिठककर रुक गया। पुरोहित शिवदत्त उसे तिरस्कार-पूर्ण कड़ी निगाह से देख रहे थे। उनकी वह निगाह उसे काँटों के एक ऐसे तार के समान जान पड़ी, जिसे पार कर जाना सहज नहीं। बालक वहीं खड़ा होकर सिसकने लगा।

पुरोहितजी ने पूछा—"कौन है रे?"

"चमार।"

"दूर! दूर! बदमाश ऊपर चढ़ा आता है।"

बालक कुछ पीछे हटा। अचानक रुक्मिणी का ध्यान उसकी ओर गया। जब सब लोग अपने-अपने घर जाने लगे, तब रुक्मिणी उससे दो बातें करना मुनासिब समझकर उसके पास ज़रा रुक गई। वह एक फटा कोपिंद पहने मैला-कुचैला बालक था। पर रुक्मिणी ने इसकी परवा न करके उसे गोद में उठा लिया, और उसे हँसाने की चेष्टा करने लगी। पर लाख यत्न करने पर भी वह उसे हँसा न सकी। तब उसने अत्यंत सहानुभूति के स्वर में उससे पूछा—"कुछ कह तो सही। क्या बात है?"

"सामीजी।"

अब तक सर कृपाशंकर अपनी पुत्री के पास आ गए थे। उसे एक मैले-कुचैले बालक के साथ इस प्रकार तन्मय देखकर वह गद्गद हो गए, और मुस्किराए। फिर उनका ध्यान बालक के सिसकने की ओर गया।

"क्या बात है ?"

"कुछ बताता नहीं, सिर्फ़ आपका नाम लेता है, और रो उठता है।"

अंत में बड़े प्रयत्न के बाद इन लोगों ने मालूम किया कि वह लड़का पास के ही गाँव का है। उसके मा नहीं है, सिर्फ़ बाप है, जो इधर कई दिन से बहुत बीमार है।

संग्रामसिंह ने लड़के को डाँटकर कहा—"जा, अब रात हो गई है। कल सबेरे आना। स्वामीजी दवा देंगे।"

रुक्मिणी ने बालक को जमीन पर खड़ा करते हुए कहा—"अकेले चला जायेगा ?"

"हाँ।"

"जा फिर।" संग्रामसिंह कड़ककर बोले।

बालक चुपचाप चल पड़ा। पर थोड़ा आगे बढ़ने पर वह ज़ोर-ज़ोर से रो पड़ा।

सर कृपाशंकर ने कहा—"मुझे नींद न आवेगी। मैं अभी उसके बाप को देखकर आता हूँ। आप लोग घर चलें।"

रुक्मिणी भी सेठ लक्ष्मीचंद को यह बताकर कि उनके लेटने के लिये कहाँ प्रबंध किया गया है, पिता के साथ जाने के लिये तैयार हुई।

सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी! यह असंभव है कि मैं बिस्तर पर आराम करूँ, और तुम इस अंधकार में बाहर निकलो। स्वामीजी के साथ मैं जाता हूँ, तुम घर जाओ। कम-से-कम मेरी इतनी प्रार्थना तो स्वीकार करो।"

"अच्छी बात है, जाइए।"

सर कृपाशंकर अब उस बालक के पास पहुँच गए थे, और कह रहे थे—"रो मत! मैं तेरे साथ चलता हूँ। तेरा बाप बीमार है ?"

"हाँ।"

"बहुत बीमार है ?"

"हाँ।"

"अच्छा, चल। मैं अच्छा कर दूँगा।"

"हाँ सामीजी! अच्छा कर दीजिए। मेरे और कोई नहीं है।"

अब लक्ष्मीचंद भी उनके पास आ गए थे। वह छोटा बच्चा, जिसकी खेलने-खाने की उम्र थी, बुड्ढों के समान चिंता से चूर चुपचाप लंबे क़दम भरता आगे बढ़ा जा रहा था।

सर कृपाशंकर ने लक्ष्मीचंद के कंधे पर हाथ रखकर कहना शुरू किया—"इस गाँव को रास्ते पर लाने में मुझे कई वर्ष लगेंगे।"

"या यह कहिए कि रास्ते पर से हटाने में कई वर्ष लगेंगे।"

"क्या आपका यह ख़याल है कि इस समय गाँव की जो स्थिति है, वही ठीक है, और उसमें सुधार की क़तई गुंजाइश नहीं ?"

"मेरा ख़याल है कि गाँवों का प्रश्न सर्वथा आर्थिक है, गाँवों का उद्धार तब हो सकता है, जब ग्राम-वासियों का एक-एक मिनट इसी चिंता और प्रयत्न में व्यतीत हो। आप ईश्वर-प्रार्थना, पूजा और उपासना के द्वारा उन्हें उनकी वास्तविक समस्या से दूर लिए जा रहे हैं। आपका यह काम वैसा ही है, जैसा किसी बीमार को शराब पिलाकर उसका कष्ट कम करना।"

"ईश्वर-प्रार्थना असमर्थ का सबसे बड़ा अवलंब है।"

"बेशक, पर वह असमर्थ को सदैव असमर्थ ही बनाए रहती है!"

"लक्ष्मीचंद! इतने बेरहम मत बनो। अगर प्रार्थना भी न करें, तो दुःखी ग्राम-वासी क्या करें।"

"प्रकृति के नियम के अनुसार उन्हें सर्वप्रथम अपना पेट भरने का उद्योग करना चाहिए। भूखे के लिये चोरी-डकैती, बदमाशी सब क्षम्य है।"

"फिर पशु और मनुष्य में अंतर ही क्या रहा ?"

"पशु मनुष्य से अच्छे हैं। पशु पशु को मारकर खा जाता है। माना, मनुष्य मनुष्य का मांस नहीं खाता, पर एक मनुष्य अपनी शक्ति और संपत्ति का विस्तार इस प्रकार करता है कि दूसरे मनुष्य को सिवा भूखों मर जाने के और कोई अवलंब ही नहीं रह जाता।"

"इस स्थिति का कारण यही है कि हम मनुष्यों में पारस्परिक सहानुभूति और प्रेम की कमी होती जा रही है। इन मानवीय गुणों को जाग्रत् किया जाय, तो जीवन फिर से सुंदर बन सकता है।"

"बेशक, परंतु आपके इस ज्ञान की आँधी जहाँ बहती रही है, वहीं कुछ कर भी सकती थी। गाँवों की झोपड़ियों को तो यह उड़ा ले जायगी।"

सर कृपाशंकर को जान पड़ा, जैसे लक्ष्मीचंद के कथन में कुछ सचाई है। विश्व की समृद्धिशाली जनता पर उनके उपदेश का जब कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब मानो वह उसे गाँवों की ग़रीब जनता पर आजमाने निकले हैं। उन्होंने कहा—"सेठजी, एक दृष्टि से आपका यह कहना ठीक है। पर मैं कोरा उपदेश लेकर इस गाँव में आकर नहीं बसा हूँ। मैं ग़रीबी और त्याग के जीवन के सौंदर्य को, जिसे इस युग के अज्ञान ने छिपा रक्खा है, फिर से प्रकाश में लाना चाहता हूँ। जब संसार उसे देखेगा, तब उसकी ओर दौड़ पड़ेगा, और तालों में जो संपत्ति बंद पड़ी है, वह सूर्य के प्रकाश के समान सारे देश में फैल जायगी, और सबके काम आ जायगी।"

"ग़रीबी और त्याग का जीवन हमारे और आपके आगे-आगे चल रहा है, इसका कौन-सा पहलू इतना सुंदर है, जिसे मैं नहीं, संसार नहीं, केवल आप देख रहे हैं।" लक्ष्मीचंद ने आगे बढ़ते हुए चमार के उस मलिन लड़के की ओर इशारा किया।

सर कृपाशंकर ने आगे बढ़कर बालक को अपनी गोद में उठा लिया, और कहा—"यह दयनीय और असुंदर स्थिति को पहुँच गया है। इसलिये

कि यह संसार की उपेक्षा से आवृत है। इस उपेक्षा के पर्दे को यदि मैं हटा सका, तो आप देखेंगे कि संसार इस ओर कैसे आकृष्ट होता है।" सर कृपाशंकर ने एक दीर्घ निःश्वास ली।

सर कृपाशंकर ने ग्राम-वासियों के दुःख-सुख को किस प्रकार अपना दुःख-सुख बना लिया है, यह सेठ लक्ष्मीचंद ने देखा। यद्यपि वह अपने हृदय में सर कृपाशंकर की इस कार्य-पद्धति से तीव्र विरोध रखते थे, और उनके इस प्रयास को सर्वथा पागलपन समझते थे, तथापि उन्होंने इस विवाद को बढ़ाना उचित न समझा। उन्होंने यह स्पष्ट देखा कि जो मनुष्य कार्य में विश्वास करने लगता है, उसके हृदय पर वे ही तर्क प्रभाव डाल सकते हैं, जो कार्य-रूप में उसके सामने आवें। उन्होंने निश्चय किया कि अपने विश्वास के अनुसार वह भी ग्रामोद्धार का एक नमूना उपस्थित करेंगे। उन्होंने कल्पना की कि अपनी संपत्ति का एक बड़ा भाग सिंध और राजपूताने के रेगिस्तान में लगा दिया है। सैकड़ों पर्वताकार वायु-कूप खड़े हो गए हैं। उनके चरणों से बड़ी-बड़ी नहरें निकाली गई हैं, जिनके दोनो किनारों पर मीलों लंबे-चौड़े, हरे-भरे खेत लहलहा रहे हैं। बड़ी-बड़ी मशीनें राक्षस के समान कार्य करती नजर आ रही हैं, और बच्चा-बच्चा खुशहाल है। अपने ऐसे ही खेतों के बीच से मानो वह रुक्मिणी का आह्वान कर रहे हैं, और वह द्रुतगति से उनकी ओर मुस्किराती हुई चली आ रही है।

उधर सर कृपाशंकर इस कल्पना में लीन थे कि उनके कहने के अनुसार गाँववालों ने अपनी जरूरत की सब चीजें बनानी सीख ली हैं, उनके मकान हवादार बन गए हैं, उनकी स्त्रियों ने पर्दा छोड़ दिया है, उनके लड़के-लड़कियाँ लिखने-पढ़ने लगी हैं। उन्होंने पारस्परिक सहयोग से अपनी बनाई चीजें बेचना सीख लिया है, वे क़र्ज़ और बेकारी के शिकार नहीं हैं। बड़े-बड़े शिक्षित व्यक्ति उनके बीच में आ-आकर बस रहे हैं। और, सेठ लक्ष्मीचंद भी अपनी सारी संपत्ति गाँवों की उन्नति में लगाते हुए भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक ख्याति-लाभ करते चले जा रहे हैं।

इस प्रकार ये दोनो व्यक्ति अपनी-अपनी धुन में मस्त चले जा रहे थे कि उस चमार के लड़के ने बड़ी ज़ोर से पुकारा—"दादा!"

सामने ही उसकी झोपड़ी थी। झोपड़ी से कराहने की आवाज़ आई, परंतु कोई स्पष्ट स्वर नहीं सुनाई पड़ा। लड़का झोपड़ी के अंदर घुस गया, परंतु सर कृपाशंकर और सेठ लक्ष्मीचंद द्वार पर ही खड़े रह गए। बाहर का अंधकार झोपड़ी में पहुँचकर इस क़दर घनीभूत हो गया था कि जान पड़ता था, संसार में रात्रि को जो अंधकार फैलता है, वह इसी झोपड़ी से निकलकर जाता है। सर कृपाशंकर ने पूछा—"बच्चे! चिराग़ नहीं है क्या?"

"चिराग़ नहीं है सामीजी! पर आग जलाता हूँ।" कहता हुआ लड़का फिर झोपड़ी के बाहर निकला, और झोपड़ी के ऊपर से कुछ फूस तोड़कर अंदर ले गया। एक कोने में आग की चिनगारी-सी प्रतीत हुई। उसी पर अपने निर्बल और नन्हे हाथों से तोड़े हुए फूस को लड़के ने रखकर फूँकना शुरू किया, परंतु आग न जली। सेठजी को ध्यान आया कि उनकी जेब में दियासलाई है। उन्होंने द्वार पर ही एक कड़ी जलाई।

झोपड़ी के अंदर क्या था, यह इन दोनो आदमियों ने एक ही बार में देख लिया। एक कोने में राख का ढेर, जिसमें वह बालक फूँक मारकर प्रकाश करना चाहता था, दूसरे में मिट्टी के कुछ साबुत और कुछ फूटे बर्तन और तीसरे में कुछ चिथड़े, जिनमें लिपटा हुआ वह चमार कराह रहा था।

सेठ लक्ष्मीचंद को वहीं छोड़कर सर कृपाशंकर और आगे बढ़े कि शायद बस्ती में कोई चिराग़ जल रहा हो, तो उसे ले आवें। अभी लोग सोए नहीं थे, परंतु प्रकाश नाम की कोई वस्तु जैसे उस गाँव में थी ही नहीं। एकाएक उनका पैर मार्ग में लेटे एक बुड्ढे आदमी से लगा।

"कौन?"

"मैं बुड्ढा, भूखा-प्यासा फ़क़ीर हूँ बाबा! भूखा पड़ा हूँ। नींद नहीं आ रही है।"

"इस बस्ती में किसी के घर में चिराग़ है?"

"सामने चले जाओ। महाजन का मकान है। पर बड़ा कंजूस है।"

सर कृपाशंकर आगे बढ़े। मनुष्यों का कुछ स्वर भी उन्हें सुनाई पड़ा। एक चबूतरे पर कुछ लोग एक चिराग़ को घेरे इकट्ठा थे, और रामायण-पाठ हो रहा था। श्रोताओं के कान रामायण की चौपाइयों पर लगे थे, पर उनकी दृष्टि चिराग़ पर थी, और हाथ-पाँव इस प्रयत्न में थे कि हवा का कोई झोंका आकर उसे बुझा न दे। इतने लोगों के बीच से चिराग़ ले आना वैसा ही था, जैसे बालकों की कहानियों में सात समुद्र पार दैत्यों से घिरी किसी परी का उद्धार करना। पर सर कृपाशंकर ने प्रयत्न किया। उन्होंने अंतिम चौपाई का, जो उनके कान में पड़ी थी, अर्थ बताना शुरू किया। बात-की-बात में उनके पांडित्य की धाक जम गई। परंतु जैसे ही गाँववालों ने उन्हें सम्मान-पूर्वक बैठाने के लिये स्थान ख़ाली किया, उन्होंने कहा—"मैं बैठने नहीं आया हूँ। भगवान् राम के नाम पर मुझे यह चिराग़ थोड़ी देर के लिये दे दो। राम का एक भक्त सख़्त बीमार है। उसे देखना बहुत ज़रूरी है।"

गाँववालों को यह जानने में देर न लगी कि राम का यह भक्त कौन है? महाजन ने कहा—"उसे मरना तो है ही। चाहे अँधेरे में मरे चाहे उजाले में। पर आप नहीं मानते हैं, तो चलिए, मैं चिराग़ दिखाए देता हूँ।"

चिराग़ की रक्षा करते हुए महाजन सर कृपाशंकर के साथ उस झोपड़ी के सामने आया। पर अंदर जाने से उसने इनकार कर दिया—"यह न होगा। चमार के घर में मैं कभी नहीं घुसा।"

"ख़ैर, बाहर ही रहो, मगर चिराग़ तो दिखला दो।"

सर कृपाशंकर अंदर गए। इस बीच में सेठ लक्ष्मीचंद कई बार आग जला चुके थे, और वह बुझ गई थी। महाजन के अंदर न आने का कारण

वह समझ गए, पर उस विषय पर उससे विवाद न कर सिर्फ़ इतना पूछा—"आप यह चिराग़ बेच सकते हैं ?"

"एक रुपया तक दाम मिले, तो बेच दूँ ।"

"यह लीजिए रुपया ।"

लक्ष्मीचंद ने बाहर निकलकर महाजन के हाथ पर एक रुपया रख दिया, और उसके हाथ से चिराग़ ले लिया ।

वह एक मिट्टी का छोटा-सा दीपक था, और तेल भी उसमें थोड़ा ही था । अधिक-से-अधिक आध घंटे जल सकता था । पर तब भी उस सौदे को सेठजी ने सस्ता समझा । दीपक लेकर वह झोपड़ी में लौट आए ।

सर कृपाशंकर अब चमार के सिरहाने बैठे कभी उसकी नब्ज़ देखते और कभी उसके सुख-दुख का हाल पूछते थे । लड़का अपने पिता के पैरों के पास बैठा पिता और स्वामीजी की बातें सुन रहा था । चमार की साँस बहुत ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी । उसने एकाएक कहा—"पानी ।"

लड़का एक मिट्टी के बर्तन में पानी लाया ।

"पीतल का लोटा तुम्हारे पास कब से नहीं है ?"

"अभी पारसाल तक था । मँगरू की मा बहुत बीमार हुई । उसकी बीमारी में लोटा, थाली, बटलोही, सब बिक गया । जिसने जो दवाई कही, वह की, पर उसके प्राण न बचे, वह न लौटी । उसके मरने के बाद ही से मेरी भी कमर टूट गई ।"

इतनी बात कहने में चमार को इतना परिश्रम पड़ा कि उसके मस्तक पर पसीने की बूँदें आ गईं । उसने अपने बेटे की ओर देखा । वह उसे सर्वथा असहाय प्रतीत हुआ । उसकी आँखों में निराशा के दो बड़े-बड़े मोती झूल पड़े । उसने फिर बल लगाकर कहना शुरू किया—"सिर्फ़ एक हँसली बच रही थी । मैं चाहता था, उसे भी बेच डालूँ, पर मँगरू की मा ने कहा था, 'चाहे जैसे हो, यह हँसली मत बेचना । जब मँगरू का ब्याह करना

और इसकी बहू आवे, तब उसे यह हँसली देना, और कहना, तेरी सास तेरे वास्ते छोड़ गई है ।' आह ! उसकी यह इच्छा भी मैं पूरी न कर सका ।"

वह चिथड़ों में से, अपने सिर के नीचे से, हँसली निकालने का प्रयत्न करने लगा, पर न निकाल सका । उसने और भी ज़ोर से हाँफते हुए कहा—"मँगरू ! निकाल ।"

लड़के ने जोर लगाकर हँसली निकाली । सर कृपाशंकर ने उसकी स्वर्गीय पत्नी के उस बेढंगे स्मृति-चिह्न को देखा । चमार ने फिर कुछ कहने का प्रयत्न किया, परंतु उसकी घिग्घी बँध गई । वह बोल न सका । जैसे बुझते समय दीपक एकाएक प्रज्वलित होकर बुझ जाता है, वैसे-ही चमार जीवन के कुछ लक्षण प्रकट करके मरणासन्न हो गया । सर कृपाशंकर ने उसके हाथ-पाँव टटोले । वे ठंडे पड़ते जा रहे थे, और नब्ज़ अत्यंत क्षीण हो चली थी ।

सब प्रकार से असमर्थ हो जाने पर चमार का हृदय आँसू बनकर बाहर निकला आ रहा था । मँगरू रुआसा होकर बोला—"दादा-दादा !" पर दादा अब दूसरे लोक की तैयारी कर चुके थे । सर कृपाशंकर ने उसके चेहरे को ध्यान से देखा । वह उनसे यह कहता हुआ-सा प्रतीत हुआ—"स्वामी-जी ! मँगरू को आपके हाथों सौंपता हूँ, और यह हँसली भी आपको देता हूँ । इसे किसी प्रकार ज़िंदा रखिए, और जब यह कमाने-खाने लायक़ हो जाय, तब इसका ब्याह कर दीजिएगा, और यह हँसली इसकी बहू को दे दीजिएगा ।"

सिर्फ़ इतनी इच्छा थी, जिसे वह संसार में अपने पुत्र के साथ छोड़ स्वर्गधाम पयान कर रहा था । एकाएक उसकी साँस का चलना रुक गया, और उसकी आँखें खुली ही रह गईं । उसका अबोध बच्चा सामने था । बंद भी कैसे हो सकती थीं ?

"हाय दादा ! हाय दादा !" करके उसका बच्चा चिल्ला उठा ।

पास के चमारों को ख़बर हुई, और वे अपनी नष्ट होती हुई जाति के

इस निर्बल अंग के अंतिम संस्कार के लिये जमा हुए। एक टूटी चारपाई दरवाजे पर लाकर रक्खी गई। उस पर सर कृपाशंकर और सेठ लक्ष्मीचंद बैठे।

सेठ लक्ष्मीचंद ने गाँव के महाजन से जो चिराग़ ख़रीदा था, उसमें कई बार उसी के यहाँ से तेल मँगवाकर डाला जा चुका था, और वह झोपड़ी के अंदर जल रहा था। मँगरू उसे बुझाने बढ़ा, पर सेठजी ने कहा—"इस झोपड़ी का यह प्रथम और अंतिम दीपक है। आज जी भरकर इसे जल लेने दो।"

तारे मानो थककर विश्राम करने जा रहे थे, और सूर्य इस दृश्य को देखने के लिये समय से पहले ही पूर्व गगन में अपनी लालिमा द्वारा आने की सूचना दे रहा था।

उस उषाकालीन प्रकाश में गाँववालों ने सर कृपाशंकर को पहचाना। वे कई बार उनकी प्रार्थना में शरीक हो चुके थे। वे उनके पास जमा होकर आपस में उनकी और उनकी परोपकारिणी वृत्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। परंतु सर कृपाशंकर ने उन्हें इस प्रकार जबानी प्रशंसा करने के लिये मना किया, और कहा कि यदि वे वास्तव में उनके प्रशंसक हैं, तो स्वयं उन्हीं के समान कार्य करें।

दिन निकलने के साथ ही मुखिया संग्रामसिंह अपने बच्चे को कंधे पर बैठाए वहाँ आ पहुँचे, और बोले—"स्वामीजी, रुक्मिणी बहुत घबरा रही है। आप रात-भर यहाँ क्या करते रहे?"

संग्रामसिंह ने यह प्रश्न कर तो दिया, पर शीघ्र ही उनकी समझ में सब आ गया। सर कृपाशंकर को एकांत में ले जाकर उन्होंने कहा—"स्वामीजी, मैं चमार के दाह-संस्कार में नहीं शरीक हो सकता। मुझे इजाजत दीजिए, मैं जाऊँ।"

"मैंने तुम्हें बुलाया कब था? पर आ गए हो, तो ऐसी बात मत करो।"

"आप कहें, तो मैं सब कुछ कर सकता हूँ। पर रुक्मिणी को जाकर बता आऊँ।"

"मैं सेठजी को भेजे देता हूँ।"

सर कृपाशंकर ने सेठ लक्ष्मीचंद की ओर देखा। सेठजी जाने के लिये तैयार हो गए। संग्रामसिंह ने उन्हें अपना बच्चा पकड़ा दिया—"कृपा कर इसे भी लेते जाइए। रुक्मिणी को दे दीजिएगा, मेरे घर पहुँचा देगी।"

जीवन में इस प्रकार एक मैला-कुचैला बच्चा उठाने का सेठजी का प्रथम अवसर था। संग्रामसिंह का यह व्यवहार उन्हें अत्यंत बुरा लगा। पर उसे प्रकट करने का वह अनुकूल अवसर न था। अपना जी कड़ा करके वह बच्चे को लेकर चल पड़े। थोड़ी दूर भी न गए थे कि बच्चा संग्रामसिंह के लिये रोने लगा। पर संग्रामसिंह ने ललकारकर कहा—"ज्यादा रोए, तो शैतान के बच्चे का गला दाब दीजिएगा।"

कोई उत्तर न देकर सेठ लक्ष्मीचंद चलते गए। घर का काम समाप्त करके रुक्मिणी गाँव के बाहर आकर पिता और सेठजी का रास्ता देख रही थी। दूर ही से सेठजी को देखकर और उनकी गोद में संग्रामसिंह के बच्चे का हो-हल्ला सुनकर उसे कुछ हँसी आई। सेठजी जब क़रीब पहुँचे, तो देखा, वह मुस्किरा रही है। वह बोले—"रुक्मिणी, जो कुछ देख रहा हूँ, मुझे अब भी स्वप्न-सा ही प्रतीत हो रहा है। गाँववालों की ग़रीबी इस सीमा तक पहुँच गई है, इसका मुझे विश्वास न था। मेरा ख़याल है, गाँववालों को सबसे पहले इस बात के लिये बाध्य करना चाहिए कि वे व्यर्थ संतान न उत्पन्न करने पावें।"

"यह बात उस चमार के बच्चे को देखकर कह रहे हैं, या संग्रामसिंह के इस बच्चे को?"

"दोनो को देखकर। मुझे जान पड़ता है, जैसे दोनो इस संसार में मैले वस्त्र पहने और भूखे-प्यासे रो-रोकर मरने के लिये बुलाए गए हैं।"

"संग्रामसिंह के इस बच्चे का तो बड़ा आदर है। उनकी तीन बीबियों में यह अकेला बच्चा है, और तीनो को बहुत दुलारा है।"

"क्या कहा, तीन बीबियाँ!"

"हाँ।"

"दरिद्रता से जकड़े देहाती तीन-तीन बीबियाँ रखते हैं!"

"सब नहीं, सिर्फ़ रईस लोग। संग्रामसिंह की गिनती बड़े आदमियों में है। इनके बाप के पाँच बीबियाँ थीं। इनके तो तीन ही हैं।"

"यदि सच पूछो, तो यह एक भी बीबी रखने का अधिकारी नहीं है। यदि क़ानून बनानेवाले कुछ समय के लिये गाँववालों का विवाह करना बिलकुल जुर्म क़रार दे दें, तो मैं उन्हें काफ़ी दाम दे सकता हूँ। जो अपने परिश्रम से इतना धन अर्जित नहीं कर सकते कि भली भाँति गृहस्थी चला सकें, उन्हें विवाह करने और संतान उत्पन्न करने का क़तई अधिकार न होना चाहिए।"

रुक्मिणी ने कहा—"इससे भी अच्छा तरीक़ा यह है कि हम जो सभ्य और सुशिक्षित लोग हैं, इनके बीच में बसकर और अविवाहित रहकर इन्हें एक नए प्रकार का जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखावें। जन्म और मृत्यु की भाँति ये विवाह को भी मानव-जीवन की एक अनिवार्य घटना मानते हैं। इन्हें बताना है कि विवाह करना या न करना हमारे हाथ की बात है।"

सेठ लक्ष्मीचंद ने इस गाँव में आकर जो कुछ देखा-सुना था, उसकी दुःखद स्मृति उनके मानस-पट पर ताज़ी थी। रुक्मिणी के कथन में उन्हें बहुत कुछ सचाई प्रतीत हुई, पर उन्होंने कहा—"लेकिन रुक्मिणी, इन्हें मार्ग दिखलाने के लिये हमीं लोग अपना बलिदान क्यों करें। और फिर यह संभव नहीं कि केवल विवाह न करने से ही इनकी सारी बुराइयाँ दूर हो जायँ। मैं फिर कहता हूँ, इनका प्रश्न आर्थिक है, और यह आर्थिक समस्या संसार की आर्थिक समस्या से अलग रखकर नहीं सुलझाई जा सकती।"

"इसमें मेरा आपसे मतभेद है।"

संग्रामसिंह का बच्चा ज़ोर से चिल्ला उठा। उसे रुक्मिणी के हवाले करते हुए लक्ष्मीचंद ने कहा—"मैं इतने ही समय में इस गाँव से ऊब उठा। इनकी स्थिति बेशक दयनीय है, और हम समर्थों का धर्म है कि इनके लिये कुछ करें, पर जो तरीक़ा तुमने और तुम्हारे पिता ने अख़्तियार किया है, वह इन्हें और भी नेस्तनाबूद कर देगा।"

बच्चा और ज़ोर से चिल्लाने लगा। रुक्मिणी उसे लेकर संग्रामसिंह के घर की ओर चली। लक्ष्मीचंद उसके पीछे-पीछे उत्तेजना के स्वर में कहते हुए, चले—"कृपा करके आप मुझसे पूछिए कि उचित तरीक़ा क्या है?"

रुक्मिणी ने मुस्किराकर कहा—"बतलाइए।"

"हाँ, सुनो। इनके जितने खेत हैं, इनसे छीन लिए जायँ, उनमें आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाय। खेती के सिलसिले में उससे संबंधित व्यवसाय, जैसे डेयरी (Dairy) आदि, भी आरंभ किए जायँ, और इन्हें अच्छी मजदूरियाँ देकर इनसे उन खेतों में काम लिया जाय। इनके लिये अच्छे घर बनवा दिए जायँ, और इनके बच्चों के लिये उम्दा-उम्दा पाठशालाएँ खुलवा दी जायँ।"

रुक्मिणी ने कुछ आश्चर्य से सेठ लक्ष्मीचंद की ओर देखा—"इनके पास सिवा ज़मीन के कुछ टुकड़ों के और कुछ बाक़ी नहीं रहा, और आप वे भूमि-खंड भी छीनने ......"

लक्ष्मीचंद ने बात काटकर कहा—"छीनना शब्द मैं वापस लेता हूँ, अगर तुम्हें इस पर आपत्ति है। सब खेत एक में मिला दिए जायँ, सब किसान अपने खेत के रक़बे के अनुसार उस सम्मिलित भूमि के हिस्सेदार मान लिए जायं, और उसमें वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाय। अपनी मजदूरी के अलावा वे लाभ में से अपना हिस्सा भी लें। यह या इसी प्रकार का कोई तरीक़ा सोचे बिना हम इन बाबा आदम के हल-बैलों से उन देशों का मुक़ाबिला

नहीं कर सकते, जहाँ मशीनों से खेती होती है। इसके बग़ैर हमारे ही देश में विदेशी ग़ल्ला आकर हमारे देश के ग़ल्ले से सस्ता बिकेगा। और, घाटे पर किसान लोग कब तक खेती करेंगे ?"

रुक्मिणी ने उत्तर देने के लिये मुँह खोला ही था कि बच्चा ज़ोर से रो उठा। अब वे संग्रामसिंह के मकान के पास आ गए थे। रुक्मिणी बच्चे को देने अंदर चली गई, और रात-भर के थके लक्ष्मीचंद दरवाज़े पर खड़ी हुई चारपाई बिछाकर उस पर लेट रहे, और अपने आप कहने लगे—"अच्छी बात है। मैं भी कुछ करके दिखाऊँगा। यहीं, इसी गाँव के पड़ोस में, मैं वैज्ञानिक ढंग से खेती करके दिखा दूँगा कि कौन-सा तरीक़ा अधिक अच्छा है। रुक्मिणी, एक समय आएगा, जब तुम अपनी भूल स्वीकार करोगी।"

लक्ष्मीचंद को नींद आ गई, और वह स्वप्न में देखने लगे, मानो आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों और मशीनों की सहायता से सारा राजपूताना एक हरा-भरा सुंदर वन बना जा रहा है। सारे किसान खुशहाल हैं। सिर्फ़ एक गाँव के किसान नंगे बदन, खाली पेट, सर कृपाशंकर को घेरे ईश-प्रार्थना में रत हैं, और रुक्मिणी के एकमात्र मधुर संगीत से जीवित हैं। संगीत जैसे ही समाप्त होता है, वैसे ही मानो सर कृपाशंकर कहते हैं, रुक्मिणी, बड़ी भूल हुई। चलो, हम भी अपना गाँव लक्ष्मीचंद के गाँवों में मिला दें। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। यह सुनकर लक्ष्मीचंद ने मानो बाँहें फैला ली हैं, और रुक्मिणी उनमें छिप जाने को दौड़ी चली आ रही है।

रुक्मिणी जब बाहर निकली, तब लक्ष्मीचंद को इस प्रकार सुख-स्वप्न में डूबा हुआ देखकर चुपचाप अपने घर चली गई। रात-भर के थके उस निराश परदेशी को उसने उस समय जगाना उचित न समझा।

---

[७]

शारीरिक थकान और मानसिक स्थिरता के कारण उस दिन सेठ लक्ष्मीचंद को इतनी निद्रा आई, जितनी जीवन में पहले कभी न आई थी। सर कृपाशंकर ठाकुर संग्रामसिंह और उस पितृहीन अछूत बालक को लेकर कब वापस आए, और रुक्मिणी ने उस बच्चे को नहला-धुलाकर कब साफ़ कपड़े पहना दिए, इसका उन्हें कुछ पता ही न चला। जब लगभग १२ बजा, और उनके मुँह पर सूर्य की तेज़ धूप पड़ी, तब उन्होंने आँखें खोल दीं, और देखा, रुक्मिणी एक चारपाई खड़ी करके उस पर कपड़ा डालकर उन्हें धूप से बचाने का प्रयत्न कर रही है।

"ओफ़्! खूब सोया! मिस रुक्मिणी! आपने मुझे जगाया क्यों नहीं ?" आँखें मलते हुए लक्ष्मीचंद ने कहा।

"जब मनुष्य के स्नायु झंकृत हों, वह दिन-भर का थका और रात-भर का जागा हो, तब निद्रा उसके लिये सर्वोत्तम ओषधि है।"

"ठीक है। पर मैंने अभी नहाया नहीं, मुँह-हाथ तक नहीं धोया।"

"और, भोजन भी तो ठंडा हो गया। पर पिताजी ने अभी खाया नहीं। आपके इंतज़ार में बैठे हैं। मेरी इच्छा हुई थी, जगा दूँ, पर उन्होंने कहा, नहीं, सो लेने दो।"

एकाएक आकाश में भन्नाटे की आवाज़ ने इन लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। दो सुंदर हवाई जहाज़, एक के बाद दूसरा, तेज़ी से कराची की ओर उड़ते जा रहे थे। इन लोगों ने देखा, उनमें से आगेवाला पीछे घूम पड़ा है, और उस मैदान में उतरने का प्रयत्न कर रहा है।

गाँववाले भी तत्काल शोर मचाते हुए जमा हो गए। लक्ष्मीचंद ने उसकी उस मैदान में उतरने की इच्छा जानकर गाँववालों से एक अच्छी जगह सुरक्षित छोड़ देने के लिये कहा, और रूमाल हिलाकर हवाई जहाज की ओर उतरने का इशारा किया।

लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि हवाई जहाज एक सिखाए हुए कबूतर की भाँति उस जगह पर आकर गति-हीन हो गया है, जिसके लिये सेठ लक्ष्मीचंद ने उसे इशारा किया था, और उसमें से मुस्किराती हुई एक परम सुंदरी युवती बाहर निकल रही है।

पुरोहित शिवदत्त पास ही खड़े माला जप रहे थे। उन्होंने देखा, उस युवती ने बेधड़क सेठ लक्ष्मीचंद की ओर हाथ बढ़ाया, और सेठजी ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उसकी कोमल उँगलियों को मृदुलता-पूर्वक चूम लिया।

"क्या होनेवाला है राम!" पुरोहितजी ने कहा।

ठाकुर संग्रामसिंह कंधे पर अपने लड़के को बैठाले पुरोहितजी के पास खड़े थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि नवीन सभ्यता के तरीक़ों से मैं कम वाक़िफ़ नहीं हूँ। मैं भी आगे बढ़कर इस युवती से हाथ क्यों न मिलाऊँ? वह आगे बढ़कर लक्ष्मीचंद के बराबर खड़े हो गए। उनकी विचित्र पगड़ी, दाढ़ी और दाढ़ी पर बिखरी हुई तमाखू की पीक देखकर युवती कुछ पीछे हट गई। यह प्रमाणित करने के लिये कि वह सेठ लक्ष्मीचंद के ही दर्जे के आदमी हैं, उन्होंने अपने बालक को अपने कंधे से उतारकर सेठजी के कंधे पर बैठालते हुए कहा—"सेठजी, जरा पकड़िए! यह मेरे पास रहता ही नहीं। आपसे ऐसा हिल गया है कि आपकी ही तरफ़ दौड़ता है।"

संग्रामसिंह के इस असभ्य व्यवहार को लक्ष्मीचंद ने उस समय सहन कर लेना ही अच्छा समझा। उन्होंने बालक को कंधे से हाथ में लेते हुए उस नवागंतुक युवती से कहा—"जान पड़ता है, आपको कहीं देखा है?"

"ओफ़, आप इतनी जल्दी भूल गए। मेरा नाम पद्मा है। लाहौर से दिल्ली तक रेल में हमारा-आपका साथ हुआ था। मेरे पिताजी से आपसे बहुत बातें हुई थीं, और मेरी दोनो छोटी बहनों को आपने कितना हँसाया था।"

एकाएक युवती की दृष्टि रुक्मिणी पर पड़ी। रुक्मिणी की पोशाक स्वच्छ और सादी थी, पर उसके अपार सौंदर्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व को वह पोशाक कम नहीं कर सकी थी। युवती को स्मरण हुआ कि कदाचित् यही स्त्री है, जिसे देखकर लक्ष्मीचंद गाड़ी से बेतहाशा कूद पड़े थे। वह कुछ झिझकी। इस जंगली देश में दोनो इस विचित्र स्थिति में क्यों और कैसे आ मिले हैं। यह उसकी समझ में न आया। फिर भी उसने रुक्मिणी की ओर हाथ बढ़ाया, और मुस्किराकर कहा—"और शायद आप ही उस दिन दिल्ली-स्टेशन पर सेठजी को गाड़ी से उतारने आई थीं?"

रुक्मिणी ने उस युवती से हाथ मिलाने के बाद इस प्रश्न के उत्तर में केवल मुस्किरा दिया।

ठाकुर संग्रामसिंह पुरोहितजी के पास पहुँचे, और बोले—"आपका अनुमान ठीक है। रुक्मिणी की और सेठ की पुरानी पहचान है।"

ठाकुर संग्रामसिंह के इस संवाद के उत्तर में पुरोहितजी जो कुछ कहने-वाले थे, उसे बिना सुने ही संग्रामसिंह रुक्मिणी के बगल में आ खड़े हुए। और, यद्यपि उन्होंने कुछ कहा नहीं, तथापि नवागंतुक युवती पर अपनी चेष्टाओं द्वारा उन्होंने यह प्रकट करना चाहा कि तुम मेरी उपेक्षा करती हो, करो। मैं भी तुम्हारी परवा नहीं करता। इधर देखो। रुक्मिणी मेरी कितनी ख़ातिर करती है? क्या यह तुमसे कम सुंदर है? पर उस युवती का ध्यान इस ओर नहीं था। उसने मुस्किराते हुए कहा—"सेठजी, आप भी इस प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं, यह मुझे मालूम नहीं था। यह तो बताइए, आपको यहाँ उतरना क्यों पड़ा?"

बंगाल-उड़ाकू-संघ की ओर से कलकत्ते से लेकर कराची तक की यह

हवाई दौड़ थी, जिसमें इस युवती ने भाग लिया था। यह सबसे पीछे थी। सिर्फ़ एक उड़ाका इससे पिछड़ा था। पर वह भी इससे आगे बढ़ जानेवाला था। इस गाँव में नीचे पड़ा हवाई जहाज़ देखकर इसने अनुमान किया था कि कदाचित् मशीन ख़राब हो जाने से किसी उड़ाके को विवश होकर उतरना पड़ा है। मंज़िले-मक़सूद पर सबसे पीछे पहुँचकर हारे हुओं में नाम लिखाने की अपेक्षा अपने एक मुसीबत में पड़े प्रतिद्वंद्वी की सहायता करना उसने अधिक अच्छा समझा, और इसीलिये वह इस गाँव में उतरी।

सेठजी ने अपने इस गाँव में पहुँचने की रामकहानी संक्षेप में सुना दी। युवती ने कहा—"मेरे पास सब औज़ार हैं। और मैं मामूली मरम्मत भी कर सकती हूँ।"

वह सेठजी के वायुयान की परीक्षा करने के इरादे से आगे बढ़ी। रुक्मिणी ने कहा—"मिस पद्मा, अभी हम लोगों ने खाना नहीं खाया। मेरी प्रार्थना है कि मेरी रसोई में जो कुछ रूखा-सूखा तैयार है, उसे आप भी हमारे साथ ग्रहण करके हमें कृतार्थ करें।"

"बहुत ख़ुशी से। मुझे भूख भी बहुत लगी है।"

रुक्मिणी ने सेठजी से कहा—"अब कृपा करके आप जितनी जल्दी हो सके, मुँह-हाथ धोइए, और स्नान कीजिए।"

उसने लड़कों की ओर इशारा किया। गाँव के लड़के सेठजी को पकड़-कर एक कुएँ पर ले गए, और उन्हें ख़ूब नहलाया। उनका इस प्रकार नहाना देखकर पद्मा और रुक्मिणी, दोनो ख़ूब हँसीं।

सर कृपाशंकर स्नान इत्यादि से निवृत्त हो चुके थे, और अपने कमरे में चटाई पर बैठे लक्ष्मीचंद के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह भी रात-भर के जागे थे, उन्हें झपकी आ गई थी। वह चमार का लड़का मंगरू उदास-मन खड़ा अपने आप एक पंखा लेकर उन पर झल रहा था।

रुक्मिणी भोजन बनाने की कला में बहुत निपुण न थी। इस गाँव में

आने से पहले उसने कभी सोचा भी न था कि उसे कभी भोजन भी बनाना पड़ेगा। विलायत में उसने कुछ अँगरेज़ी ढंग के पकवान बनाने सीखे थे, और कुछ भारतीय भोजन भी वह बना सकती थी। पर स्वयं बनाने की अपेक्षा किसी बनानेवाले को वह अधिक सलाह दे सकती थी। पर इस देहात में, वह जो कुछ बना सकती थी, उसके लिये न समुचित सामग्री थी, और न उपयुक्त बर्तन ही। इसलिये उसने सादा ग्रामीण भोजन तैयार किया। बाजरे की रोटी, उर्द की दाल, आलू का साग, मट्ठा और चटनी। दाल में उसने मामूली घी भी डाला।

सबके लिये अलग-अलग थालियों में भोजन निकालकर वह जैसे ही अपने पिता के कमरे में आई, वैसे ही उसे सामने से सेठ लक्ष्मीचंद स्नान करके लौटते दिखाई पड़े। मिस पद्मा अब भी उनके साथ थी, और संसार को भूली हुई-सी प्रतीत हो रही थी। लड़के अलग शोर मचा रहे थे।

इस चहल-पहल में सर कृपाशंकर सोते न रह सके, उन्होंने आँखें खोल दीं। सबसे पहले उनकी नज़र चमार के अनाथ बालक पर पड़ी। उस पर उन्हें अत्यधिक दया आई। उन्होंने उसके हाथ से पंखा ले लिया और कहा—"मँगरू, इसकी ज़रूरत नहीं है। बैठ।"

मँगरू फिर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगा। कदाचित् वह यह देख रहा था कि कोई काम बाक़ी हो, तो उसे करूँ। बेचारा चमार का बालक, उसने अपने बाप को दूसरों की सेवा करते ही देखा था। वह समझ रहा था, वह इसी काम के लिये बना है। सर कृपाशंकर उसके मन का भाव ताड़ गए। उन्होंने उसे स्नेह से अपने निकट खींचा, और उसकी पीठ थप-थपाकर कहा—"डर मत। अब तेरा बाप मैं हूँ।"

जीवन में जिसे सदैव तिरस्कार मिला था, वह इस स्नेह-प्रदर्शन से घबरा-सा उठा। आश्चर्य से आँखें फाड़-फाड़कर वह कमरे से बाहर के उस लोक को देखने लगा, जहाँ उसकी समझ में अब भी तिरस्कार का सागर लहरा रहा है।

"पिताजी, भोजन तैयार है।" रुक्मिणी के इस वाक्य ने बालक को चौंका दिया। सर कृपाशंकर का ध्यान बालक से हटकर कमरे में बहुत देर से आकर खड़े हुए सेठ लक्ष्मीचंद और मिस पद्मा की ओर गया। लक्ष्मीचंद ने मिस पद्मा का उनसे तत्काल परिचय कराया, और पद्मा ने उनका अभिवादन किया।

सर कृपाशंकर उठ खड़े हुए, और मकान के भीतर उस दालान में गए, जहाँ रुक्मिणी ने भोजन की व्यवस्था की थी। गोबर से लिपे हुए स्वच्छ फ़र्श पर सब लोग बैठ गए। मँगरू फिर भी बाहर ही खड़ा रहा। सर कृपाशंकर ने कहा—"मँगरू, यहाँ आ, मेरे पास बैठ।"

मँगरू फिर भी हिचकिचाता ही रहा। रुक्मिणी ने चुमकारकर कहा—"बैठो।"

"आप मेरा छुआ खायंगे! मैं चमार का लड़का हूँ। आप जानते हैं न?"

"हाँ-हाँ, सब जानता हूँ। चल।"

रुक्मिणी ने हाथ पकड़कर उसे अपने पिता के साथ बैठाल दिया। गाँव के लड़कों में से कुछ मकान के अंदर भी घुस आए थे। वे मँगरू को सबके साथ बैठते देखकर भागे, और पुरोहित शिवदत्तजी से कहा। पुरोहितजी माला जपते हुए ठाकुर संग्रामसिंह के दरवाज़े पर पहुँचे, और बोले—"अब मैं नहीं सह सकता। घर में आग लगाकर आज ही गाँव छोड़े देता हूँ। तुम्हारे चूल्हे में एक चिनगारी होगी?"

"मकान फूँकने के लिये मैं ब्राह्मण को आग नहीं दे सकता। पर बात क्या है?"

"आज वह महापंडित चमार के बेटे को साथ लेकर खाने बैठे हैं।"

"चलिए, उन्हें समझा दिया जाय कि इस गाँव में रहकर यह सब न होगा।"

दोनो दौड़े-दौड़े आए। संग्रामसिंह अपने लड़के को लाना भूल गए थे, इसलिये पुरोहितजी को दरवाज़े पर छोड़कर वापस लौट गए।

पुरोहितजी को इस बात का पता न था कि संग्रामसिंह वापस लौट गए हैं। वह शास्त्र का कोई प्रमाण सोचने में ध्यान-मग्न थे। उन पर जैसे ही दृष्टि पड़ी, वैसे ही लक्ष्मीचंद ने कहा—"आइए पंडितजी, आइए।"

रुक्मिणी ने कहा—"आइए पंडितजी, भोजन कीजिए।"

"बिटिया, मैं तुम्हारे बाप की उम्र का हूँ। मुझसे मज़ाक़ मत करो।" यह कहते हुए उन्होंने पीछे की ओर देखा, पर संग्रामसिंह ग़ायब थे। पुरोहितजी तेज़ी से पीछे लौटे, और चिल्लाकर बोले—"संग्रामसिंह, अब तुम भी मुझसे मज़ाक़ करने लगे!"

पुरोहितजी थोड़ी ही दूर गए थे कि संग्रामसिंह उन्हें दौड़ते हुए आते दिखाई पड़े। दोनो आदमी लड़ते-झगड़ते फिर अंदर पहुँचे।

संग्रामसिंह ने कहा—"स्वामीजी, अगर क़सूर माफ़ हो, तो एक बात कहूँ।"

"तुम बच्चे नहीं हो, तुम्हारा क़सूर कभी नहीं माफ़ हो सकता। पर कहो। अगर क़सूर बड़ा होगा, तो तुम्हें सज़ा मिलेगी।"

"आपके साथ कौन-कौन खाने बैठे हैं?"

"क्यों, तुम्हें भी शौक़ है। आओ। रुक्मिणी! संग्रामसिंह के लिये भी एक थाली लगाओ।"

मिस पद्मा ने मुस्किराकर कहा—"आइए ठाकुर साहब, आपकी कमी थी।"

"मैं खा सकता हूँ। मैं जात-पात नहीं मानता, पर मुझे इस गाँववालों का डर लगता है।"

"डर और क्षत्रिय! कैसी बात करते हैं।" पद्मा ज़ोर से हँसी। सेठजी ने अपने और पद्मा के बीच में जगह ख़ाली करते हुए कहा—"आइए।"

संग्रामसिंह यह भूल गए कि वहाँ पुरोहित शिवदत्तजी खड़े हैं। उन्होंने कहा—"अगर स्वामीजी कहें, तो मैं आ सकता हूँ।"

"कहता तो हूँ।" सर कृपाशंकर ने कहा।

"आप शास्त्र से सिद्ध कर देंगे कि........."

"अजी आइए! अगर शास्त्र से सिद्ध न होगा, तो हम लोग नया शास्त्र बनाएँगे।" कहते हुए पद्मा जोर से हँसी।

दूसरे ही क्षण ठाकुर संग्रामसिंह उसके बग़ल में जा बैठे। ओह! संसार कितना आगे निकल गया है। मन-ही-मन कहते हुए उन्होंने भोजन करना आरंभ कर दिया।

पुरोहितजी क्रोध से काँप उठे। उन्होंने दाँत पीसकर कहा—"संग्रामसिंह!"

"आँख क्या दिखाते हैं। आप जगन्नाथजी हो आए हैं, और न-मालूम किसका-किसका छुआ भात खा चुके हैं।"

"जगन्नाथजी की बात और है।"

"मेरे लिये सर्वत्र जगन्नाथजी हैं। क्यों स्वामीजी?"

"इसमें क्या शक है।" कहते हुए सर कृपाशंकर ने पुरोहितजी से कहा—"भाई शिवदत्तजी, कृपा करके बैठ जाइए। आप मुझसे अधिक कर्मकांडी और विद्वान् हैं। पर आखिर, मैं भी ब्राह्मण हूँ। मुझे भोजन कर लेने दीजिए। मैं आपसे इस विषय पर शास्त्रार्थ करूँगा, और यदि आपने हरा दिया, तो प्रायश्चित्त करूँगा।"

"जनेऊ तोड़कर, चोटी कटाकर, इस गाँव से निकल जाना पड़ेगा।"

"मंजूर है।"

"अच्छी बात है। बैठता हूँ।" पुरोहितजी एक चारपाई बिछाकर उस पर बैठ गए।

संग्रामसिंह का लड़का हाथ-मुँह में दाल लपेटे मिस पद्मा की साड़ी मैली करता हुआ उनकी गोद में बैठने चला जा रहा था। लक्ष्मीचंद ने संग्रामसिंह के कान में यह बात कही। संग्रामसिंह ने पुरोहितजी से कहा—"वहाँ बैठे क्या मक्खी मार रहे हो। जरा इस लड़के को सँभाल लो। शैतान का बच्चा बीबीजी की साड़ी खराब किए डालता है।"

पुरोहितजी ने गरजकर कहा—"संग्रामसिंह, बस। तुम चुप रहो।"

संग्रामसिंह चुप हो गए। थोड़ी देर में बच्चे को अपनी ओर खींचते हुए उन्होंने कहा—"बेवक़ूफ़, यह तेरी मा नहीं है। इधर आ।"

पद्मा ने कहा—"कोई परवा नहीं, आप इसकी चिंता न करें। मुझे बच्चे पसंद हैं।"

सर कृपाशंकर का ध्यान इस ओर नहीं था। उन्होंने सेठ लक्ष्मीचंद से कहा—"गाँववालों का प्रश्न कोरा आर्थिक प्रश्न नहीं है। वे अपनी विवेक-शक्ति भी गँवा बैठे हैं। वे धन से ही नहीं, प्रेम और सहानुभूति से भी हीन हैं। यदि मुझे ठाकुर संग्रामसिंह और पुरोहित शिवदत्तजी-जैसे लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ, तो मैं इस गाँव को एक आदर्श गाँव बना दूँगा। मेरा उद्देश्य जनता के सामने एक नमूना उपस्थित कर देना है।"

"पर यह विज्ञान का युग है।" सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा।

पद्मा बोली—"ठीक है, पर गाँवों में विज्ञान का प्रवेश धीरे-धीरे होगा।"

लक्ष्मीचंद ने कहा—"मैं यह बात नहीं मानता। पिछले हजार वर्षों में जो परिवर्तन गाँवों में नहीं हुए, वे सिर्फ़ एक वर्ष में किए जा सकते हैं।"

"हाँ, मगर उन्नति की सीढ़ी पर तो क्रमशः ही चढ़ना पड़ेगा।"

"नहीं। अब नीचे खड़ा व्यक्ति एक-एक ऊपर जा सकता है। जहाँ योरप हजारों वर्षों में पहुँचा है, जरूरी नहीं कि हम भी वहाँ हजारों वर्षों में पहुँचें। एक नमूना सामने आ जाने पर कार्य बहुत आसान हो जाता है।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"आप लोग मेरा अभिप्राय नहीं समझे। मेरा सिर्फ़ यह कहना है कि वर्तमान परिस्थिति में गाँवों के उद्धार का उसके सिवा, जो मैंने सोचा है, और कोई रास्ता नहीं। आज तो ६० सैकड़े लोग भूखों मर रहे हैं। उनके पेट भरने का प्रबंध पहले होना चाहिए। मशीनें वहाँ के लिये ठीक हैं, जहाँ आदमियों की संख्या कम है, और काम अधिक। यहाँ तो घनी आबादी है, और लोग साल में ६ महीने बेकार रहते हैं। मैं चाहता हूँ, गाँववाले बाक़ी ६ महीने में भी कोई-न-कोई काम करते रहें। यदि वे अपनी ज़रूरत की सब चीज़ें स्वयं बनाने लगें, तो उन्हें व्यर्थ पैसा न फेंकना पड़े। मैं उन सब छोटे-मोटे धंधों का, जो प्राचीन काल में प्रचलित थे, फिर प्रचार करना चाहता हूँ।"

"ओह! ऐसा हो जाय, तो कितना सुंदर हो। सारे गाँव तपोवन-से हो जायँ, और दूध-दही की नदियाँ बह चलें।" पद्मा ने कहा।

सर कृपाशंकर ने कहा—"बेशक! हमारी सभ्यता शहरों की नहीं, गाँव की ही है। पर उसका अब कोई सुंदर स्वरूप हमारे सामने नहीं रह गया। अशिक्षा और ग़रीबी ने गाँवों को कुरूप बना डाला है।"

"इनसे आप कैसे पार पाएँगे।"

"इसी विषय पर आ रहा हूँ।" सर कृपाशंकर ने कहा—"मिस पद्मा, अब तक मैंने जो कुछ किया है, उस पर तुम थोड़ा ध्यान दो, तो बात तुम्हारी समझ में आ जायगी।"

"कहिए।"

"इस गाँव को मैंने ख़ास तौर से इसलिये चुना कि यह सब तरह से पिछड़ा हुआ है। पुरोहितजी को छोड़कर इस गाँव में एक साक्षर व्यक्ति न था। रुक्मिणी ने छोटी-सी पाठशाला खोल रक्खी है। उसमें गाँव के छोटे बच्चे अब पढ़ने आने लगे हैं। बड़ों से मैं प्रतिदिन शाम को विविध विषयों पर चर्चा करता हूँ, और मेरा विश्वास है कि उनमें सोचने-समझने की रुचि उत्पन्न हो जायगी। सफ़ाई गाँव में इतनी रहने लगी है कि तुम

स्वयं घूम-फिरकर देख सकती हो। मैं कोशिश कर रहा हूँ कि सब घरों में खिड़कियाँ लग जायँ, जिससे हवा, सूर्य और प्रकाश आने-जाने लगे। धार्मिक पाखंड किस प्रकार दूर हो रहा है, यह तुम ठाकुर संग्रामसिंह को अपने साथ खाते देखकर जान सकती हो।"

"मैं डोम नहीं हूँ।" पद्मा हँसी।

"और क्या मैं हूँ?" ठाकुर संग्रामसिंह ने कहा।

सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"यह तो ठीक है, पर आर्थिक पहलू!"

"यह भी बताता हूँ। इस संबंध में जल्दी स्वाधीनता-पूर्वक कार्य करने के उद्देश्य से मैंने इस गाँव को ख़रीद लिया है। किसानों पर तीन, चार, पाँच और छ साल तक का बक़ाया लगान बाक़ी था, वह मैंने माफ़ कर दिया है। बहुत-से किसान महाजनों के क़र्ज़दार थे, वह क़र्ज़ भी मैंने अदा कर दिया है। अब इस गाँव के किसान इस योग्य हो गए हैं कि नए सिरे से जीवन आरंभ कर सकते हैं। मैं चाहता हूँ, भूमि का बटवारा नए सिरे से हो जाय। अर्थात् एक किसान के सब खेत एक ही जगह हों, और उसका मकान भी उसके खेत के पास ही हो। इस प्रकार इस बरसात के बाद ही मैं यह प्रयत्न करूँगा कि यह गाँव फैल जाय। थोड़ी-सी ज़मीन मैं पशुओं के चरने के लिये अलग कर रहा हूँ, और प्रत्येक किसान को सलाह दे रहा हूँ कि वह कम-से-कम एक गाय अवश्य रक्खे। मैं कुछ फलों के पेड़ भी लगवाना चाहता हूँ। कठिनाई यह है कि यहाँ पानी बहुत कम बरसता है, और कुओं में पानी बहुत गहराई में मिलता है। फिर भी मैं कोशिश कर रहा हूँ कि गाँववाले मिलकर कुछ कुएँ खोद लें, और कुछ तरकारियाँ सींचकर भी पैदा करें।"

लक्ष्मीचंद ने कहा—"यदि मैं आपके इस गाँव के निकट नहर बनवा दूँ, जो बारहो मास पानी से भरी रहे, तो?"

"तो हम उससे फ़ायदा उठाएँगे, और आपको धन्यवाद देंगे।"

"अच्छी बात है।" सेठजी ने कहा।

"भला, रेगिस्तान में नहर कहाँ से आ सकती है?" रुक्मिणी ने कहा।

"विज्ञान से सब संभव हो सकता है।" लक्ष्मीचंद ने कहा—"और यदि हम यही सब काम आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से करें, तो किसानों की दशा और भी कई गुनी अच्छी हो सकती है और......"

पद्मा ने बात काटकर कहा—"माफ़ कीजिएगा, तब लाखों आदमी बेकार हो जायँगे।"

"बेशक!" रुक्मिणी ने कहा।

"रुक्मिणी, जिस विज्ञान ने संसार को इस अवस्था में पहुँचाया है, उसके लिये बेकारी का प्रश्न हल करना कुछ मुश्किल नहीं।"

इसी समय ठाकुर संग्रामसिंह का लड़का रो उठा। उन्होंने उसके एक चपत और जमा दी।

लक्ष्मीचंद का ध्यान उधर गया, और वह बोले—"सच पूछिए, तो सबसे पहले इस बात की जरूरत है कि ऐसे आदमी पिता न बनने पावें।"

"बस्ती में न रहने पावें।" पुरोहित शिवदत्त ने कहा।

ठाकुर संग्रामसिंह ने कहा—"पुरोहितजी, नए जमाने की बातें हो रही हैं। आपको इसमें दखल देने की जरूरत नहीं है। मैं सचमुच ऐसे लड़के का बाप नहीं बनना चाहता। तीन-तीन माताएँ घर में बैठी हैं, तब भी शैतान का बच्चा मेरी ही ओर दौड़ता है।"

"आप बार-बार इसे शैतान का बच्चा क्यों कहते हैं? इसके मानी तो यह हुए कि आप अपने आपको शैतान कहते हैं।" पद्मा बोली।

"शैतान माने ईश्वर, जिसने इसे मुझे परेशान करने के लिये भेजा है।"

पुरोहितजी ने कहा—"संग्रामसिंह, इस गाँव में आग लग जायगी। बेहूदा बातें बकते हो!"

"बस, आप चुप रहिए। मैं नए ज़माने का आदमी हूँ। आपका ख़याल करके मैंने दाढ़ी नहीं मुड़ाई। ज़्यादा बोलेंगे, तो सफ़ाचट करा लूँगा।"

"दाढ़ी-मूछ दोनो मुड़ा लो। आजकल के ठाकुर जनाने तो होते ही हैं।"

संग्रामसिंह ने कहा—"स्वामीजी!"

सर कृपाशंकर बोले—"इस समय बहस बंद करो।"

भोजन अब समाप्त हो चुका था। सब लोग मुँह-हाथ धोकर बाहर निकले। पुरोहित शिवदत्त सर कृपाशंकर के कमरे में उनसे शास्त्रार्थ करने चले गए। ठाकुर संग्रामसिंह अपने रोते बच्चे को घर पहुँचाने गए। पद्मा सेठ लक्ष्मीचंद के वायुयान की मरम्मत करने चली, और उसके पीछे-पीछे रुक्मिणी और सेठजी चले।

पद्मा अपनी छोटी हथौड़ी से ठोक-ठोककर जब सेठजी का वायुयान ठीक करने लगी, तब उन्हें ऐसा जान पड़ा, जैसे वह उनके हृदय को भी मजबूत बनाए देती है। रुक्मिणी उन्हें उस मरुभूमि के समान निर्दय प्रतीत हुई, जिसमें उनका वायुयान गिरा था। जैसे उस मरु-प्रदेश को वायुयान की परवा न थी, वैसे ही उसे भी उनके प्रेम की परवा न थी। पद्मा मानो उनके वायुयान के साथ-साथ उनके प्रेम को गतिमान् बना रही थी। आह! यदि रुक्मिणी को पद्मा का हृदय मिला होता। उन्होंने कहा—"रुक्मिणी, अपराध क्षमा करना। अब जाता हूँ। अब शायद ही कभी भेंट हो।"

"क्यों?"

"जब मैं तुम्हारे मार्ग में इतना बाधक हूँ, तब मेरा दूर ही रहना अच्छा।"

रुक्मिणी ने एक दीर्घ निःश्वास ली। फिर बोली—"मिस्टर लक्ष्मी-चंद, मैं निर्बल हूँ। मुझे बल दो। मेरी सहायता करो।"

"इसीलिये तो कहता हूँ, अब शायद ही कभी मिलूँ।"

रुक्मिणी की आँखें डबडबा आईं। लक्ष्मीचंद ने कहा—"ऐं! तुम रोती क्यों हो?"

"आपका यह व्यंग्य ...।"

"व्यंग्य नहीं, स्वच्छ हृदय से, तुम्हारे प्रति अगाध प्रेम से कहता हूँ कि मैं अब तुमसे नहीं मिलूँगा तब तक, जब तक तुम स्वयं मुझे आज्ञा न दोगी। पर तुम्हारा यह जल-कष्ट मुझसे देखा न जायगा, इसलिये मैं प्रयत्न करूँगा कि नहर बनवाकर, नदी बनकर, बादल बनकर तुम्हें शांति देता रहूँ। मैं सारे राजपूताना को पल्लवित, कुसुमित, कृषि-संपन्न और हरा-भरा बनाने का प्रयत्न करूँगा, जिससे इस मरुभूमि की रूखी, गर्म और गर्दभरी आँधी शीतल, मंद समीर बनकर तुम्हारे पास पहुँचे, और तुम्हें मेरा संदेश सुनाती रहे।"

"सच!" रुक्मिणी की आँखें एक विचित्र प्रकार के आनंद से चमक उठीं।

"हाँ।"

"अच्छी बात है। प्यारे लक्ष्मीचंद, अब मैं तुम्हें भूल जाऊँगी, और तुम्हें याद न रक्खूँगी।"

पद्मा ने मुस्किराहट के साथ इन दोनो की ओर देखा। "लीजिए, तैयार है।"

वह दौड़कर अपने वायुयान से एक टिन पेट्रोल ले आई, और सेठजी के एंजिन की टंकी में डालते हुए बोली—"यह दूर तक के लिये काफ़ी होगा।"

गाँववाले उन्हें बिदाई देने के लिये जमा हो गए। सर कृपाशंकर और

पुरोहित शिवदत्त भी आए। दोनो खुश थे। शायद उनका आपस में समझौता हो गया था।

एक के बाद दूसरा हवाई जहाज़ उड़ा। गाँववाले उन्हें जब तक देख सके, देखते रहे।

रुक्मिणी ने देखा, उससे बिदा होने में लक्ष्मीचंद को कितने धैर्य से काम लेना पड़ा है। पद्मा के साथ आकाश में उड़ते हुए वह उसे सांसारिक पुरुष के प्राण-से प्रतीत हुए, जिसे उसकी इच्छा के विरुद्ध स्वर्गलोक की परियाँ अपने साथ बाँधकर ले जाती हैं। "ओफ़्! मैं कितनी कठोर हूँ।" मन-ही-मन कहते हुए वह अपने काम में लग गई।

---

[८]

सर कृपाशंकर के सतत प्रयत्न से गाँववालों में सोचने-समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। उनके मन में यह बात जम गई कि वर्तमान स्थिति में विना कुछ सुधार किए सुखी रहना असंभव है। वे यह समझने लगे कि रोग ईश्वर नहीं भेजता, वे हमारी गंदी आदतों के परिणाम हैं। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि ग़रीबी ईश्वरीय देन नहीं, हमारी अकर्मण्यता से उत्पन्न हुई है। आरंभ में उन लोगों ने सर कृपाशंकर की बातें सुनने से इनकार कर दिया था, और यह समझा था कि यह आदमी इस गाँव को ख़रीदकर हमें उन अधिकारों से भी वंचित करना चाहता है, जो हमें अब तक प्राप्त थे। बहुत-से लोग अपने घरों के पास कूड़ा जमा करते थे। जब सर कृपाशंकर ने उन्हें ऐसा करने से पहलेपहल टोका, तब उन्हें जान पड़ा, जैसे उनके हाथ से वह जमीन छिनी जा रही है, जिस पर उनका अधिकार था। पर अनिच्छा-पूर्वक ही सही, बस्ती से बाहर गड्ढों में कूड़ा गाड़ने पर, गाँव में सफ़ाई के साथ जब उनके स्वास्थ्य और प्रसन्नता में वृद्धि हुई, तब उन्हें उसके लाभ स्वयं प्रतीत हुए। मकानों को हवादार बनाने से भी उनके जीवन में ताजगी और शांति की वृद्धि हुई। यह सच था कि उन्हें शारीरिक ख़ूराक अभी वैसी न मिल रही थी, जैसी सर कृपाशंकर ने आशा दिलाई थी। पर उन्हें मानसिक ख़ुराक अच्छी मिलने लगी थी, और इस दशा में उनकी भूख भी ख़ूब जाग्रत् हो उठी थी। बक़ाया लगान और क़र्ज़ की चिंता से मुक्त वे आशा-भरी दृष्टि से आकाश में घिरते और बिखरते हुए बादलों को देख रहे थे, और नवीन जीवन आरंभ करने की तैयारी कर रहे थे।

एक किसान के सब खेत एक ही जगह हों, तो कितना अच्छा हो, यह वे समझ चुके थे, और इसीलिये इस कार्य को अधिक टालना नहीं चाहते थे। इसे वे बरसात आरंभ होने से पहले कर डालना चाहते थे। सिर्फ़ पुरोहित शिवदत्तजी को इसमें आपत्ति थी। उनके तीन खेत तीन तरफ़ थे। वे उन खेतों को अपने घर के प्राणी की तरह समझते थे। उनकी समझ में यह नहीं आता था कि सुविधा के ख़याल से घर के प्राणियों को कैसे बदला जा सकता है। जब वे किसी तरह राज़ी न हुए, तब गाँववालों ने उनके खेतों को छोड़कर शेष भूमि को नए सिरे से बाँटने का इरादा किया। एक दिन जब आकाश में बादल छाए थे, वे सर कृपाशंकर को लेकर खेतों की ओर निकल पड़े।

सर कृपाशंकर गाँव के दक्खिन गाँववालों से घिरे हुए एक ऊँचे टीले पर बैठे। उनके हाथ में नागल-राज्य का गज़ेटियर था। यह गाँव नागल-राज्य में ही था, इसलिये वह राज्य के गज़ेटियर को ध्यान से देख रहे थे कि शायद उन्हें गाँव के पूर्व इतिहास, भूमि और भूमि-कर के बारे में कुछ मालूम हो। उनके पास ही रुक्मिणी गाँव का नक़्शा खोले बैठी थी, जिसमें वह, ठाकुर संग्रामसिंह और कतिपय अन्य ग्रामवासी तल्लीन थे। सर कृपाशंकर के दूसरी ओर गाँव का पटवारी अपने आवश्यक काग़ज़ात लिए बैठा था।

सर कृपाशंकर ने पूछा—"इस गाँव का नाम ?"

कई लोगों ने एक साथ कहा—"चौबासा।"

"हाँ, यह रहा।" उन्होंने गज़ेटियर को ध्यान से पढ़ना शुरू किया। पूरा विवरण पढ़ लेने पर उन्होंने गाँववालों से बताया—"यह ऐतिहासिक गाँव है। बहुत पहले इसमें 'चौ'-जाति के लोग रहते थे। यह ब्राह्मणों की एक जाति है। इनकी कथा यह है कि एक चौ को नागल-राज्य से कुटी बनाने के लिये यह भूमि मिली थी। उसने यहाँ एक शिवालय बनवाया। वह बड़ा तपस्वी था, परंतु गृह-त्यागी न था। उसका परिवार यहाँ बहुत

बढ़ा। एक बार भीषण अकाल पड़ा, और वे सब नष्ट हो गए। उसके बाद यह गाँव बहुत दिनों तक उजाड़ पड़ा रहा। अंत में एक लड़ाई में वीरता-पूर्वक लड़ने के कारण यह गाँव विक्रम शाहि गहलोत को इनाम में मिला। चौ लोगों के समय में इसका नाम चौबास था, उसी से बिगड़कर चौबासा हो गया है। विक्रम शाहि ने इसका नाम विक्रमपुर रखने की चेष्टा की थी, पर वह नाम चला नहीं।"

संग्रामसिंह ने उन्हें बीच में रोककर कहा—"मैं विक्रम का वंशज हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि यह नाम क्यों नहीं चला।"

"यह भी लिखा है। विक्रम शाहि के जीवन-काल में ही एक चौ, जो अकाल में भागकर बच गया था, कई वर्षों बाद फिर आया, और उसने अपना गाँव माँगा। पर राज्य से विक्रम शाहि को मिल चुका था, इसलिये दोनो में कुछ मुक़द्दमेबाजी हुई। अंत में चौ इस बात पर राज़ी हो गया कि उसे उसके मन के तीन खेत दिए जायँ, और इसका नाम चौबास बना रहे।"

कुछ सोचने के बाद उन्होंने कहा—"मेरा ख़याल है, पुरोहितजी के पास जो तीन खेत हैं, वे ही हैं।"

संग्रामसिंह ने पूछा—"और हमारे पूर्वजों के हाथ से यह गाँव कैसे निकल गया?"

सर कृपाशंकर ने राज्य के इतिहास पर फिर एक बार दृष्टि डाली। एक स्थान पर लिखा था—"एक बार गहलोतों ने राज्य के खिलाफ़ बग़ावत की, तब राजा ने उसका दमन किया, और उन्हें राज्य की ओर से जो माफ़ी ज़मीन-जायदाद मिली थी, सब छीन ली।"

संग्रामसिंह अपने बच्चे को गोद में लिए बैठे थे। उसे लिए हुए वह उठ खड़े हुए, और उत्तेजना के स्वर में बोले—"बिलकुल ठीक! मैंने बचपन में अपनी दादी से सुना था कि हमारे पूर्वज इस गाँव के मालिक थे, और उनका बड़ा रोब था। पर राज्य के आदमियों ने बड़ा उत्पात किया। मेरे बाबा ने अकेले उनसे तीन दिन युद्ध किया था। वह धनुष चलाने में बड़े निपुण थे। पर अंत में पकड़े गए, और उन्हें फाँसी दी गई। हाय! मैं क्षत्रिय होकर भी अपने बाबा के वैर का बदला न ले सका। स्वामीजी! मैं इस गाँव के लिये एक बार फिर लड़ना चाहता हूँ।"

संग्रामसिंह ने बच्चे को ज़मीन पर रख दिया, और ताल ठोकने लगे। पुरोहित शिवदत्तजी वहाँ खड़े थे। उनसे अब शांत न रहा गया। उन्होंने कहा—"संग्रामसिंह, तुम्हारा ताल ठोकना व्यर्थ है। वास्तव में यह गाँव मेरा है। मेरे पूर्वजों को दान में मिला था। दान देकर कोई वापस लेता है?"

"राजा सब कुछ कर सकता है।" संग्रामसिंह ने कहा।

पुरोहितजी बोले—"तो राजा ने तुमसे भी छीन लिया। अब चुप होकर बैठो।"

"मैं तो स्वयं राजवंश का हूँ। भूमि के लिये लड़ना मेरा धर्म है।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"अब यह गाँव हम सब लोगों का है। मैंने इसे खरीदा ज़रूर है, पर मैं इससे फ़ायदा उठाने या तुम लोगों को लूटने नहीं आया हूँ, तुम्हारी सहायता करने आया हूँ। और, तुम लोगों के इतमीनान के लिये मैं ऐसी लिखा-पढ़ी भी करने के लिये तैयार हूँ, जिससे सबका समान अधिकार समझा जाय।"

"नहीं, मैं इसके लिये युद्ध करूँगा।" संग्रामसिंह खड़े होकर फिर ताल ठोकने लगे।

"संग्रामसिंह! यही कहते हो कि तुम नए युग के आदमी हो। नया युग मिलकर, सबकी राय से काम करने का युग है।"

"तो सब लोग मिलकर राजा से लड़िए। मैं तैयार हूँ।"

रुक्मिणी ने कहा—"भाई साहब, अब तो गाँव हमारा वैसे भी है। आप यह क्यों नहीं सोचते कि अब बिना लड़े ही आप इसके मालिक हैं।"

"तो मैं राजा के किसी आदमी को इस गाँव में नहीं आने दूँगा।" वह मूछों पर पाव देते हुए सर कृपाशंकर से बोले—"स्वामीजी, पटवारी राम को यहाँ से बिदा कीजिए। मेरा खून खौल रहा है।"

पटवारी बोला—"मैं बरदाश्त नहीं कर सकता। खबरदार!"

सर कृपाशंकर ने कहा—"संग्रामसिंह, मैं सुना करता था, क्षत्रिय बड़े जाहिल होते हैं। तुम उसका सबूत दे रहे हो। किसी की जान लेने में नहीं, किसी के लिये जानें देने में क्षत्रिय की शोभा है। मारने का नहीं, मरने का नाम बहादुरी है। अभी बैठो, इस विषय में फिर कभी बात होगी।"

सर कृपाशंकर गज़ेटियर में फिर लीन हो गए। थोड़ी देर बाद वह बोले—"हाँ, जो बात मैं जानना चाहता था, मिल गई। इस गाँव में तीन तरह की भूमि है। कँकरीली, लाल और खाखर। खाखर भूमि नदी के किनारे किनारे है। किसी समय यहाँ अच्छी बरसात होती थी, और नदी भर जाती थी, तब इस भूमि में अच्छी उपज होती थी।" सर कृपाशंकर ने खड़े होकर नदी को देखना शुरू किया। नदी उत्तर से आकर उस गाँव की परिक्रमा करने का प्रयत्न करती हुई उसके पच्छिम की ओर से पूर्व को घूमी थी। पर जैसे पूरा नहीं घूम सकी थी, और अर्द्धवृत्ताकार होकर फिर दक्खिन-पच्छिम को चली गई थी। वह सर्प की केंचुल के समान निर्जीव पड़ी थी, और दूर से उसके बालुका के कण-समूह पानी का भ्रम उत्पन्न कर रहे थे। नदी के ही समान सारी प्रकृति सूखी पड़ी थी। हरियाली का कहीं नाम न था। ढोर गर्द में सूखे तृण खोजते फिर रहे थे। सर कृपाशंकर ने आगे बढ़ना शुरू किया—"इधर वर्षा क्रमशः कम होती जाती है, और लोगों का जल-कष्ट बढ़ता जाता है। कुओं में पहले बारहों मास पानी रहता था, पर अब तो गर्मियों में बहुत-से कुएँ भी सूख जाते हैं।"

पुरोहित शिवदत्तजी बोले—"यह पाप का फल है। यहाँ के लोग तो प्यासों मरेंगे। स्वामीजी!"

"बेशक! पर ईश्वर बड़ा दयालु है। हमारी प्रार्थना में बल होना चाहिए। उसने हमें प्राण दिया है, तो पानी भी देगा।"

रुक्मिणी को लक्ष्मीचंद का ध्यान हो आया। उसे जान पड़ा, जैसे उनका यह कहना सत्य है कि बिना विज्ञान और मशीन की सहायता के उत्तम कृषि नहीं हो सकती। एकाएक उसके मुँह से निकल गया—"पिताजी, सेठजी कहते थे कि कृत्रिम जल द्वारा सारे राजपूताना को सरसब्ज़ बनाया जा सकता है।"

सर कृपाशंकर ने पुत्री की ओर देखा, और कहा—"हाँ, पर उस सब्ज़ी में मानवता छिप जायगी।"

रुक्मिणी नक़्शे को ध्यान से देखने लगी। एक दिन पहले उसने चमार के लड़के मँगरू से बताया था कि पानी कैसे बरसता है। मँगरू बोला—"सामीजी! अगर हम लोग बड़ी ऊँची दीवार उठा लें, इतनी ऊँची कि बादल उसमें टकरा जायँ, तो यहाँ भी खूब पानी बरसने लगे।"

सर कृपाशंकर मुस्किराए। पुरोहितजी ने कहा—"पाप बढ़े क्यों न? मनुष्य का विश्वास ईश्वर पर से उठता जाता है, और वह सब काम अपने बूते करना चाहता है। इस तरह के दस-पाँच लड़के जहाँ और पैदा हुए, वहाँ ईश्वर का क्रोध बढ़ा। जो दो-चार बूंद जल देता है, वह भी देना बंद कर देगा।"

इधर ये बातें हो रही थीं, उधर कुछ लोग खेतों की नाप-जोख कर रहे थे। कँकरीली, लाल और खाखर भूमि कितनी है, किसके खेत किस भूमि में, कितने हैं, यह हिसाब उन लोगों ने सर कृपाशंकर को लाकर दिया। उन्होंने नक़्शे में उसकी जाँच की, और लोगों को समझाने के लिये एक दूसरे काग़ज़ पर गाँव का एक नया नक़्शा बनाना शुरू किया। गाँव के बीच से उत्तर से दक्खिन को जो रास्ता चला गया था, उसे उन्होंने और चौड़ा बनाया, और जिसके हिस्से में जैसी भूमि के खेत थे, वैसे खेतों की पूर्व से पच्छिम इस तरह की पट्टियाँ निकालीं कि सबको उनसे संतोष हुआ।

फिर उन्होंने स्थान निश्चित किए कि किसका घर कहाँ बने। ये स्थान उन्होंने इस तरह चुने कि सबके घर अपने खेतों के भी पास हों, और एक दूसरे के भी पास हों। जहाँ पुराना गाँव था, वहाँ मंदिर छोड़कर उन्होंने सब ढहा देने का प्रस्ताव किया। पुरोहितजी ने मंदिर के पास घर बनाने की इच्छा प्रकट की, और सबने उसे स्वीकार किया। जानवरों के लिये चरागाह और लड़कों के खेलने और पढ़ने के लिये कुछ भूमि अलग निकाल ली गई, और मवेशियों के लिये अलग जगहें मुक़र्रर की गईं। गाँव में कुछ लोग ऐसे थे, जिनके पास खेती के लिये बिलकुल भूमि न थी, पर जो उसी गाँव में मजदूरी करके जीविका चलाते थे। उनके घर उनके किसानों के साथ बनने तय हुए।

इस मामले में सबकी राय ली जा चुकी थी। सिर्फ़ दयानिधान की राय बाक़ी थी। सब बातें निश्चित हो जाने पर लोग उसका इंतज़ार करने लगे। पर जब वह बड़ी देर तक न आया, तो लड़के दौड़ाए गए। लड़कों ने आकर संदेश दिया—"वह अपने घर में झगड़ा कर रहा है, और स्त्रियों को पीट रहा है।"

"यह शीघ्र बंद होना चाहिए।" रुक्मिणी ने कहा।

"आजकल इसी में तो बहादुरी ही रह गई है।" पुरोहित शिवदत्त ने कहा। उनका इशारा संग्रामसिंह की ओर था।

संग्रामसिंह ने कहा—"स्त्री को मारना नहीं चाहिए, सिर्फ़ उसकी नाक काटकर उसे छोड़ देना चाहिए। लक्ष्मण ने सूर्पनखा की नाक काटी थी।"

रुक्मिणी ने कहा—"वह ज़माना गया।"

पुरोहित शिवदत्त बोले—"बेशक! अब अगर आप स्त्री की नाक काटेंगे, तो वह भी आपके चेहरे पर नाक न रहने देगी।"

सर कृपाशंकर ने दयानिधान को समझाने के लिये रुक्मिणी को भेजा। रुक्मिणी ने दयानिधान के द्वार पर पहुँचकर जो दृश्य देखा, वह उसके जीवन

में पहला और उसे काफ़ी चौंकानेवाला था। उसने देखा, दयानिधान एक रक्त में लथ-पथ स्त्री को लातें मार-मारकर अपने द्वार से हटाने का प्रयत्न कर रहा है, और स्त्री के पास ही, जमीन पर पड़ा, एक नवजात शिशु मान-अपमान की भावना से रहित साँसें ले रहा है।

रुक्मिणी ने बिगड़कर कहा—"आदमी हो या भेड़िया!"

"बेटी, तुम चुप रहो। तुम्हें इस मामले में बोलने की ज़रूरत नहीं!"

"एक असहाय स्त्री को तुम इस तरह पीटो, और मैं चुप रहूँ।"

"इसके मददगार इसके पाप हैं। यह असहाय नहीं है।"

दयानिधान ने उस स्त्री के फिर दो लातें जमाईं—"चुड़ैल! हट यहाँ से। जा, जहाँ तेरी इच्छा हो।"

दयानिधान क्रोधावेश के कारण हाँफ रहा था। उसकी नासिका के छिद्र एक अजीब भयोत्पादक ढंग से फैल और सिमिट रहे थे। मानसिक ग्लानि और पश्चात्ताप के साथ अत्यधिक शारीरिक कष्ट से भी पीड़ित वह स्त्री दयानिधान की मार को, बिना किसी विरोध के, बिना किसी प्रतिशोध की भावना के, धैर्य-पूर्वक सह रही थी। वह आँखें फाड़कर शून्य की ओर कोई ऐसा स्थान देख रही थी, जहाँ वह समा जाय, और उस पर दृष्टि-पात करनेवाला कोई न रह जाय। पर जान पड़ता था, जैसे उसके लिये संसार में अब कोई स्थान नहीं है। उसका कलंक इतना विशाल है कि आग उसे जला नहीं सकती, पानी उसे डुबो नहीं सकता, पृथ्वी उसके समाने के लिये फट नहीं सकती, और मनुष्य की मार उसके प्राण नहीं ले सकती।

रुक्मिणी उसके पास गई, और उसके बच्चे को उठाने की चेष्टा की। उस स्त्री ने कहा—"मेरी रानी! उसे मत छुओ, तुम्हारे हाथ कलंकित हो जायँगे।"

परंतु रुक्मिणी ने उसकी इन बातों की ओर ध्यान न दिया। बच्चा

उसके हाथों का स्पर्श पाकर अपना मुँह खोलने लगा, जैसे कोई खाने-पीने की वस्तु खोज रहा हो। उसे यह चिंता नहीं थी कि वह कहाँ है। वह स्वस्थ था, और उसमें जीने की इच्छा थी। वह इस संसार में जैसे रहने आया था। रुक्मिणी ने बड़ी कठिनाई से उसे अपनी गोद में उठाया।

दयानिधान इस बीच में मानो सुस्ता रहा था। एकाएक वह फिर उठा, और उस स्त्री के सिर के बाल पकड़कर उसे घसीटने का प्रयत्न करते हुए कहा—"चांडालिनी! अपना कलंक सँभाल, जहाँ तेरी इच्छा हो, जा।"

उस स्त्री ने अपने चारों ओर फिर देखा। कदाचित् वह यह देख रही थी कि दया नाम की कोई वस्तु यहाँ कहीं कुछ है या नहीं, पर उसे कुछ न सूझा। उसने रुक्मिणी की ओर देखते हुए कहा—"हाय! कितना मजबूत कलेजा है। पति की मौत हुई, न फटा; बेटी मरी, न फटा; बेटा मरा, न फटा। अब क्या फटेगा।"

उसने अपने हाथ-पाँव ढीले कर दिए, और लाश के समान पृथ्वी पर पड़ रही। उसकी बेबसी सीमा पार कर गई थी। उसकी सारी इच्छाएँ कुचल गई थीं। उसमें न मरने की इच्छा रही थी, और न जीने की। घर से बाहर निकलकर फेंके गए कूड़े के ढेर के समान वह अर्द्ध-जीवित नारी मार्ग में पड़ी थी। और, कूड़े में इतना बल कहाँ कि वह उठकर अपने आप कहीं चला जाय।

बच्चे को सँभालने के बाद रुक्मिणी ने उस स्त्री का एक हाथ पकड़कर उसे उठाने की चेष्टा करते हुए कहा—"बहन, उठो, मेरे घर चलो।"

गाँव की स्त्रियाँ अपने-अपने घरों से यह दृश्य देख रही थीं। पर किसी को किसी तरफ़ बोलने का कुछ साहस न हुआ। वे समझती थीं कि ये सब मामले पुरुषों के तय करने के हैं। कुछ लड़के पास ही खड़े थे, और उनमें से कुछ रुक्मिणी की सहायता करने के उद्देश्य से आगे बढ़े, पर उनकी माताओं ने उन्हें डपटकर कहा—"खबरदार!"

इसी बीच में मँगरू दो-तीन लड़कों के साथ दौड़ता हुआ आया और रुक्मिणी के पास पहुँचकर बोला—"चलो, बुला रहे हैं।"

रुक्मिणी ने कहा—"कुछ देखता है। जरा इन्हें सहारा तो दे।"

मँगरू को रोकने वाला कोई न था। मा-बाप के प्यार और ताड़ना से मुक्त मँगरू ने उस स्त्री को अपना पूरा बल लगाकर खड़ा किया, और रुक्मिणी उसे सहारा देती हुई अपने घर की ओर लेकर चली।

उस समय दयानिधान चुप रहा। कदाचित् उसने यह सोचा कि चलो, बला टली। पर जब रुक्मिणी उसे लेकर अपने घर के अंदर चली गई, तब उसे न-जाने क्या सूझा कि वह लट्ठ लेकर रुक्मिणी के द्वार पर पहुँचा, और गिड़गिड़ाकर बोला—"बेटी, बेटी, यह मेरी इज्जत का सवाल है। वह जब तक इस गाँव में रहेगी, मेरा मस्तक नीचा रहेगा। उसे अपने घर से निकाल दो।"

दीवार के सहारे लट्ठ खड़ा करके वह रुक्मिणी के चरणों पर सिर रखने लगा।

"पागल हुए हो! घर के आदमी को घर में रखने का नाम इज्जत है।"

पर दयानिधान उस समय कोई तर्क सुनने को तैयार न था। उसने कहा—"तो तुम यह चाहती हो कि मैं उसे मार डालूँ या मर जाऊँ।"

वह बल-पूर्वक रुक्मिणी के घर में घुसने की चेष्टा करने लगा। मँगरू भयत्रस्त होकर भागा, और सर कृपाशंकर से उसने जाकर सारा क़िस्सा कह सुनाया।

इस विषम परिस्थिति का सामना करने के इरादे से सर कृपाशंकर ने उस दिन के काम को वहीं स्थगित कर दिया, और वह जल्दी-जल्दी गाँव की ओर चले। ठाकुर संग्रामसिंह उनके भी आगे दौड़े। सर कृपाशंकर ने संग्रामसिंह को रोककर कहा—"संग्रामसिंह, देखो, झगड़ा मत करना।"

"नहीं स्वामीजी।" कहते हुए उन्होंने अपने बच्चे को पुरोहित शिवदत्त के कंधे पर बैठाल दिया, और बेतहाशा भागे। गाँव में पहुँचकर उन्होंने देखा, गाँव की स्त्रियाँ अपने-अपने द्वार से "हाय, क्या होनेवाला है!" की पुकार मचा रही हैं, और दयानिधान रुक्मिणी के मकान के अंदर बलपूर्वक घुसने की चेष्टा कर रहा है।

संग्रामसिंह ने दूर ही से ललकारकर कहा—"स्त्रियों से क्या भिड़ते हो! लड़ने का शौक़ हो, तो इधर आओ।"

दयानिधान अपने लट्ठ-समेत संग्रामसिंह की ओर घूम पड़ा और बोला—"तुम्हारे घर में ऐसी बात हो जाती, तो क्या करते?"

"गाँव में दो-दो पंडित मौजूद हैं। इनके रहते हमें सोचने की क्या जरूरत। इनसे पूछो, जैसा कहें, करो। हम-तुम तो धर्मशास्त्र के ज्ञाता हैं नहीं।"

"लोकाचार क्या है?"

"लोकाचार को अब कौन पूछता है। आजकल के लड़के बाप के जीते मूछें मुड़ा डालते हैं, उन्हें घर से कौन निकाल देता है?"

ये बातें हो ही रही थीं कि सर कृपाशंकर गाँववालों की मंडली के साथ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने दयानिधान को अपने पास बुलाकर प्रेम से कहा—"दयानिधान! ग़ुस्से में कोई काम करना अच्छा नहीं होता। हर काम का आगा-पीछा सोच लेना जरूरी होता है। जरा सोचो, वह तुम्हारे छोटे भाई की विधवा स्त्री है। उसके भरण-पोषण और उसकी लज्जा ढकने का भार तुम्हारे ऊपर है, और तुम उसे इस तरह पीट रहे हो!"

"स्वामीजी, आप ही बताइए, अब क्या मैं इस गाँव में रहने लायक़ रह गया। मुझे मालूम हो कि किस आदमी ने मेरे साथ यह दग़ा की है, तो मैं उसका खून पी जाऊँ, खून!"

सर कृपाशंकर ने कहा—"जो बात बिगड़ गई, वह अब बन नहीं सकती,

अब हमें यह देखना है कि बिगड़ी बात और भी न बिगड़ने पावे। तुम इसे घर से निकाल दोगे, तो यह कहाँ जायगी, क्या इसकी दशा और भी खराब न हो जायगी? मनुष्य से बड़ी-बड़ी भूलें होती हैं। यह पहली ही स्त्री नहीं है, जिसने ऐसी भूल की हो। इसे प्रायश्चित्त करके अपना जन्म सफल बनाने का तुम्हें फिर अवसर देना चाहिए।"

गाँव के लोगों में दो मत हो गए—एक मत यह था कि वह स्त्री इस गाँव में कदापि न रहने पावे। जिस व्यक्ति ने उसे इस लज्जा-जनक स्थिति को पहुँचाया है, उसी के सिपुर्द इसे कर दिया जाय, और वह जहाँ चाहे, ले जाय। और, दूसरा मत यह था कि इसकी रक्षा की जाय, और इसे सुधरने का अवसर दिया जाय। इस मतवालों का तर्क यह था कि यदि भेड़िया किसी को खाने लगे, तो देखनेवालों का यह फ़र्ज़ नहीं कि वे भेड़िए से कह दें कि उसे दूर ले जाकर खाय। पहला तर्क पुरोहित शिवदत्त का और दूसरा रुक्मिणी का था। सर कृपाशंकर ने कहा—"ऐसे मामलों पर ठंडे दिल से विचार करने की जरूरत है। मनुष्य के साथ न्याय करते समय मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर को साक्षी बनावे और उसकी सहायता से न्याय करे। बेहतर यह होगा कि इस विषय पर हम आज शाम की प्रार्थना के बाद विचार करें। उस समय हमारे बीच में स्वयं परमात्मा विराजमान होगा, और हम लोग जो निर्णय करेंगे, उसके लिये हमें पछताना न पड़ेगा।"

सर कृपाशंकर की यह बात लोगों ने मान ली, और अपने-अपने काम पर चले गए। रुक्मिणी उस स्त्री की सेवा में लग गई।

शाम को, रोज की भाँति, गाँव के सब स्त्री-पुरुष उस मैदान में ईश-प्रार्थना के लिये जमा हुए। प्रार्थना के बाद सर कृपाशंकर ने एक अत्यंत प्रभावशाली व्याख्यान दिया, और उसे इन पंक्तियों में समाप्त किया—"प्रत्येक स्त्री, जो नवीन शिशु को जन्म देती है, माता है। और, वह नवजात शिशु स्वयं ईश्वर है, क्योंकि हमारे भीतर जो प्राण है, उसमें ईश्वर व्याप्त है। जब परमेश्वर ने उसके गर्भ को इतना हेय नहीं समझा, और उसमें एक

मानव की रचना करके उसमें प्राण-रूप हो स्वयं समाया, तब उसका तिरस्कार करना साक्षात् ईश्वर का तिरस्कार करना है। माता, स्त्री का अपराध अक्षम्य है, पर परमात्मा ने जिस जीव की रचना की है, उसके पालन का भार उसे सौंपा है, और इसीलिये उसके स्तन में दूध पैदा किया है। हमें चाहिए कि हम उसके कर्तव्य-पालन में उसकी सहायता करें। मातृत्व के कर्तव्य का समुचित रूप से पालन करके वह स्त्री फिर पवित्र हो जायगी, उसका कलंक धुल जायगा, और वह हमारे बीच में रहने योग्य हो जायगी। इस समय उसे बेघर-बार का करना, उसे तिरस्कृत करना, उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध कहीं भगाना, उसकी सहायता न करना, मानो परमात्मा को उसकी सृष्टि के कार्य से रोकना है। परमात्मा का हाथ कौन पकड़ सका है ?"

सर कृपाशंकर के इस भाषण का लोगों पर अच्छा असर पड़ा, और उस स्त्री के प्रति उनके हृदयों में जो तिरस्कार की भावना थी, वह बहुत कुछ निकल गई। परंतु पुरोहित शिवदत्त इसके अनुसार कार्य करने के लिये तैयार न थे। उन्होंने सर कृपाशंकर को शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारा, और कहा—"इससे लोक की मर्यादा नष्ट होगी, और ऐसी स्त्री को जाति-बहिष्कृत न किया जायगा, तो न-जाने कितनी स्त्रियों का साहस बढ़ जायगा, और बेधड़क शास्त्र की आज्ञा और लोक की मर्यादा भंग करने लगेंगी। मैं तो अब इस गाँव का पानी नहीं पिऊँगा, और जब तक गाँव से यह कलंक दूर न हो जायगा, गाँव के बाहर शिव-मंदिर में रहूँगा, और उनसे रात-दिन प्रार्थना करूँगा—'हे भूतनाथ! इस गाँव को भस्म करो, इसमें अधर्म बहुत बढ़ गया है।'

पुरोहितजी तत्काल उठकर चलते बने। ठाकुर संग्रामसिंह उन्हें मनाने दौड़े, और उनके कंधे पर उन्होंने अपने लड़के को बैठालकर कहा—"तुम्हें इस लड़के की क़सम, लौट आओ।"

पुरोहितजी ने जनेऊ से अपना गला कसना शुरू किया, और कहा—"संग्रामसिंह! तुम नहीं मानोगे, तो लो।"

संग्रामसिंह की जान सूख गई। उन्होंने कहा—"अच्छा महाराज, जाइए।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"पुरोहितजी! ठहरिए। मैं भी चलता हूँ। वहाँ एकांत में हमारा-आपका शास्त्रार्थ होगा।"

"अच्छी बात है, चलिए।"

बात-की-बात में दोनो ब्राह्मण हाथ से हाथ मिलाए, हृदयों में परस्पर विरोधी विचार लिए अंधकार में विलीन हो गए।

---

[९]

मामूली पानी बरस जाने पर किसानों ने अपने हल-बैल निकाले, और मक्का तथा बाजरे की बोवाई शुरू हुई। परंतु जैसा कि कुछ बूढ़े किसानों ने आकाश का ढंग देखकर पहले ही कहा था, इस बार बहुत ही कम वर्षा हुई, और अकाल के लक्षण प्रकट होने लगे। पृथ्वी दो दिन को हरी होकर फिर सूख गई। हिंदू बाल-विधवा के समान उसे अपनी रंगीन साड़ी की स्मृति-मात्र शेष रह गई। आशा-भरी दृष्टि से किसान लोग उमड़ते हुए बादलों को देखते, पर वे बादल मानो उनके लिये नहीं, किसी और के लिये जल लिए जा रहे थे। कुएँ सूखने लगे, और ढोर प्यासों मरने लगे। इस प्रकार दो महीने बीते। और, इतने ही समय में त्राहि-त्राहि मच गई।

अब क्या हो। बहुत-से किसान, जो वर्षा में साग-पात खाकर गुजर करते थे, भूख से व्याकुल हो उठे। वे सर कृपाशंकर के पास खाली हाथ और खाली पेट पहुँचने लगे, और उन्हें साक्षात् ईश्वर का अवतार समझकर कहने लगे—"स्वामीजी, प्राण बचाइए। रक्षा कीजिए।"

सर कृपाशंकर अपने साथ बहुत थोड़ा धन लेकर चले थे। वह सब उन्होंने किसानों को बाँट दिया। पर उनके इस कार्य से इसके सिवा कि अधिकाधिक किसान अपना खाली पेट लेकर उनके पास पहुँचे, और कोई लाभ नहीं हुआ। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध अपने दिल्लीवाले बँगले में स्थापित ग्राम-सुधार-संघ के मंत्री को कुछ धन भेजने के लिये लिखा। जितना उन्होंने माँगा था, उससे अधिक आया, पर एक ही गाँव तो अकाल से पीड़ित नहीं था, आस-पास के और दूर-दूर के गाँववाले भी उनके पास आने लगे। उन्होंने देखा, ग्राम-सुधार-संघ को उन्होंने जो संपत्ति दी है,

वह सब मँगा लें, तो भी इन किसानों की प्राण-रक्षा उससे नहीं हो सकती। अपने चारो तरफ़ जीवित नर-कंकालों का समूह देखकर वह व्याकुल हो उठे, और उनका धैर्य छूटने लगा।

उन्होंने कष्ट की कहानियाँ सुनी थीं, पर अपनी आँख से किसी को कष्ट पाते न देखा था। इतने किसानों को भोजन देने में वह असमर्थ हो गए। उनका महान् मस्तिष्क, उनकी विश्व-विख्यात दार्शनिकता, उनका नूतन आदर्श, सब उन्हें यहाँ बेकार प्रतीत होने लगे। रुक्मिणी उनके लिये भोजन पकाती, पर कोई-न-कोई खाने के समय आ जाता, और उन्हें खिला देना पड़ता। रुक्मिणी भी भूखी रह जाती। मँगरू को कुछ खिलाने का वह बड़ा हठ करती, पर वह कहता—"मेरी भूख सहने की आदत है। सिर्फ़ पानी पीकर मैं महीनों जिंदा रह सकता हूँ।" धीरे-धीरे एक ऐसा दिन आया, जब उनके घर में पकाने को कुछ भी शेष न रह गया।

इस घोर विपत्ति में भी ईश्वर पर से उनका विश्वास न उठा था। उनका संध्या-समय प्रार्थना का वही क्रम जारी रहा। उनकी इस प्रार्थना में आस-पास के गाँववाले भी आकर शरीक होने लगे। जब गाँव के भीतर का मैदान सबके लिये काफ़ी न हुआ, तब गाँव के बाहर सब लोग जमा होने लगे, और मृत्यु से भयभीत, क्षुधा से पीड़ित किसान रुक्मिणी के संगीत के आधार पर जीने लगे। जिस समय निस्तब्ध रजनी में रुक्मिणी सितार की हृदयस्पर्शी ध्वनि के साथ मंद स्वर में भजन गाती, उस समय प्रार्थना में सम्मिलित हुए भूखे किसानों को जान पड़ता, मानो स्वयं परमात्मा संगीत बनकर उनके हृदयों में समा रहा और उन्हें मजबूत बना रहा है। वे अपना इहलौकिक कष्ट भूल जाते, और एक विचित्र प्रकार के स्वप्न-लोक में भटक जाते।

प्रार्थना के पश्चात् सर कृपाशंकर एक छोटा-सा व्याख्यान देते, जो कोई कुछ प्रश्न करता, उसे उत्तर देते, और धैर्य के साथ इस कष्ट का सामना करने के लिये उन्हें उत्साहित करते। ऊपर से तो वह यह सब करते, परंतु

अंदर-ही-अंदर उनका धैर्य छूटा जा रहा था। इसलिये नहीं कि वह स्वयं भूख से पीड़ित थे, बल्कि इसलिये कि अपने आस-पास की जनता का कष्ट उनसे खा न जाता था। कभी-कभी उनके जी में आता, एक रात को अपनी पुत्री के साथ वह छिपकर यहाँ से अपने घर चले जायें, और इस प्रकार लोगों का यह दुःख देखने से बचें। पर दूसरे ही क्षण वह सोचते कि नहीं, यह बड़ी भारी कायरता होगी। आखिर, वह इसलिये तो गाँव में आकर बसे थे कि किसानों को अपने शरीर पर सब प्रकार के कष्ट झेलकर दिखा देंगे कि इस प्रकार साहस के साथ कष्ट झेला जा सकता है। एकांत में वह इस प्रकार अपन आपको समझाते, और कहते कि सिवा परमेश्वर के दुःखी का और कहीं ठिकाना नहीं है। इस प्रकार उन्हें भूख सहते और प्रसन्न रहते देख किसानों में भी प्रसन्नता-पूर्वक भूख सहने की शक्ति आ गई।

एक दिन, प्रार्थना के बाद, जब वह लौटे, उन्हें मारे भूख के नींद न आई। प्रार्थना के बाद प्रायः रोज चर्चा हुआ करती थी कि आज कौन-कौन मरे। जो प्रार्थना में नहीं पहुँचता था, उसके बारे में भी लोग अनुमान करते थे कि वह शायद ही जीवित हो। उनके मस्तिष्क में यही सब विचार घूम रहे थे। एकाएक उन्होंने कल्पना की कि प्रार्थना हो रही है, रुक्मिणी उसी प्रकार भजन गा रही है, भूख से क्षीण उसके कंठ से स्वर नहीं निकलता, पर वह बड़े प्रयत्न से, अपनी सारी शक्ति लगाकर, गाने का यत्न कर रही है। गीत समाप्त होने पर लोग उससे चिंतित स्वर में पूछते हैं—स्वामीजी आज नहीं आए, और मानो वह उत्तर देती है—पिताजी स्वर्गधाम चले गए। वह उठकर बैठ गए। आँगन में स्वच्छ चाँदनी फैली थी, और रुक्मिणी एक खाट पर लेटी खर्राटे ले रही थी। उसके पास, दूसरी खाट पर, मँगरू लेटा था। थोड़ी-थोड़ी देर पर वह खाट से बाध का एक टुकड़ा तोड़ता और उसे चबाने का प्रयत्न करता था। सर कृपाशंकर ने बेटी को जगाना और मँगरू के इस सुखद कार्य में विघ्न डालना उचित न समझा। पर वह बिस्तर पर बैठे भी न रह सके। वह खड़े हो गए। अपनी पुत्री

की ओर देखकर एक दीर्घ निःश्वास लेते हुए मन-ही-मन कहने लगे—ओह! रुक्मिणी, मैं तुम्हें कहाँ ले आया। मैंने सदैव कल्पना-जगत् में विचरण किया है। कल्पना-जगत् में विचरण करनेवाले लोग अपनी कल्पना के अनुसार जब कोई कार्य कर बैठते हैं, तब इसी प्रकार केवल अपना ही नहीं, अपने प्रिय जनों का भी जीवन संकटापन्न बना लेते हैं। तुम्हारी मा का कहना सर्वथा ठीक था कि मैं व्यावहारिक जगत् में खोटे सिक्के के समान व्यर्थ हूँ। ओह! मैंने क्या किया!

वह चुपचाप घर से निकल पड़े। शायद यह देखने के लिये कि गाँव में उनसे भी दुखी मनुष्य कहाँ कौन पड़ा है। अपने घर से थोड़ी ही दूर गए थे कि उन्हें संग्रामसिंह एक कटोरे में कोई चीज लेकर आते हुए दिखाई पड़े।

"कौन, संग्रामसिंह?"

"हाँ स्वामीजी।"

"आज तुम प्रार्थना में क्यों नहीं आए? हम लोग बड़े चिंतित थे।"

"स्वामीजी, प्रार्थना से मेरा विश्वास उठ रहा है।"

"क्या कहा?"

"जब भूखों ही मरना है, तब चाहे ईश्वर का नाम लेते हुए मरें, चाहे उसे गाली देते हुए, दोनो बराबर हैं।"

"नहीं, धैर्य मत छोड़ो। ईश्वर बड़ा दयालु है।"

"होगा। पर मेरा उस पर भरोसा नहीं रहा। आपके कहने से मैंने बंदूक़ रख दी थी। आज मैंने फिर बंदूक़ उठाई। सबेरे ही शिकार की तलाश में निकला था। घूमते-घूमते थक गया। एक बार तो जी में आया कि अपने ही गोली मार लूँ, पर उसी समय एक चिड़िया सामने से उड़ी, और मैंने बंदूक़ दाग दी। हम सब भूखों के लिये वह काफ़ी नहीं थी। पर थोड़ा-सा उसका मांस और एक घड़ा पानी, नमक-मिर्च मिलाकर शोरवा

तैयार किया, और हम सबने पिया। इस कटोरे में थोड़ा-सा आपके लिये भी लाया हूँ।"

"मेरे लिये!"

"हाँ।"

"मैं इसे ग्रहण नहीं कर सकता।"

"आप ऐसे नहीं पिएँगे, तो जबरदस्ती पिलाऊँगा। गऊ-ब्राह्मण की रक्षा करना क्षत्रिय का पहला धर्म है।"

"क्या तुम समझते हो, मैं इतना कमज़ोर हूँ कि तुम मुझे ज़बरदस्ती शोरवा पिला सकते हो?"

"नहीं। पर मैंने इसका इंतज़ाम कर लिया है। मेरी तीनो स्त्रियाँ पीछे आ रही हैं। हम चार आदमी मिलकर आपको ज़बरदस्ती ......!"

कृपाशंकर को ठाकुर संग्रामसिंह के क्षात्र धर्म के इस प्रकार पालन करने के ढंग पर हँसी आई। वह कुछ कहने ही वाले थे कि संग्रामसिंह की तीनो स्त्रियाँ वहाँ चुपचाप आकर खड़ी हो गईं।

संग्रामसिंह ने कहा—"घूंघट हटाओ। मर्द के समान कच्छ लगाओ। यह आपद्धर्म है। इस समय सब माफ़ है। स्वामीजी इस तरह नहीं मानेंगे।" तीनो स्त्रियों ने तत्काल पति की आज्ञा का पालन किया।

सर कृपाशंकर ने, अपने यौवन-काल में, योरप-भ्रमण के समय, मांस खाया था। पर उसका परित्याग किए हुए उन्हें बहुत दिन हो गए थे। प्राण रहते वह दुबारा मांस चखने को तैयार न थे। पर उन्हें यह भी अनुभव हो गया था कि संग्रामसिंह दृढ़ निश्चय करके घर से निकले हैं, और उनका तर्क वह कदाचित् ही सुनें। फिर भी उन्होंने कहा—"संग्रामसिंह! तुम्हारे हृदय में मेरे लिये जो प्रेम है, उसका इससे अधिक और क्या सबूत मुझे मिल सकता है। पर तुम्हें शायद यह नहीं मालूम कि मैं स्वेच्छापूर्वक यह कष्ट झेल रहा हूँ। मैं चाहूँ, तो कल इतना रुपया मँगवा सकता

हूँ कि खुद भी खाऊँ, और सारे गाँव को खिलाऊँ। पर इससे किसानों को मैं वह मार्ग नहीं दिखा सकता, जो उन्हें दिखलाना चाहता हूँ। इस दुःख-सागर को वे स्वयं अपने बल से पार करें, किस प्रकार करें, यह मैं सोच रहा हूँ। अभी मुझे कोई उपाय नहीं सूझा, पर ईश्वर मुझे प्रकाश दिखलावेगा, इसका मुझे विश्वास है।"

"और ईश्वरीय प्रकाश देखने के पहले ही आप मर गए, तो?"

"मैं मरूँगा नहीं। इसका भी मुझे विश्वास है। और देखो, अभी तो मैं चलता-फिरता हूँ।"

सर कृपाशंकर ने संग्रामसिंह और उनके बराबर खड़ी उनकी तीनो पत्नियों को देखा। वे मुस्किरा रही थीं, और मुस्कान में दृढ़ता थी।

"लड़का कहाँ है?" सर कृपाशंकर ने पूछा।

"सुख की नींद सो रहा है।" संग्रामसिंह ने उत्तर दिया और कहा—"स्वामीजी, लीजिए, ज़रा-सा तो है ही। अब मैं रोज़ शिकार मारने निकलूँगा। शिकार न मिलेगा, तो डाके डालूँगा, डाके न डाल सकूँगा, तो आदमी को मारकर खाऊँगा। मैं और सब कुछ कर सकता हूँ, पर भूख नहीं बरदाश्त कर सकता।"

कृपाशंकर ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी, और वहीं अपना सिर पकड़कर बैठ गए।

"क्या सोच रहे हैं, स्वामीजी!"

"जीवित रहने का यह तरीक़ा नहीं है, जो तुमने सोचा है। इससे तो मौत हज़ारगुना भली। तुम क्षत्रिय होकर मौत से इतना डरते हो। ओफ़्!"

"मौत से नहीं डरता, स्वामीजी। पर मैं हाथ पर हाथ रखकर नहीं मरना चाहता। जब मैं इस संसार में आया हूँ, तब मुझे भोजन मिलना चाहिए, जहाँ से और जैसे मिलेगा, मैं प्राप्त करूँगा।"

"तुम्हें सिर्फ़ अपना ध्यान है ?"

"अपना नहीं, सारे गाँव का। पर सब लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें, तो मैं अकेला क्या कर सकता हूँ।"

"तुम चाहते हो, सब गाँववाले तुम्हारे साथ शिकार खेलने, डाके डालने या मनुष्यों को मारकर खाने निकलें ?"

"ज़िंदा रहने के लिये और भी कुछ करना पड़े, तो हमें करना चाहिए। गाँववाले जैसे आपकी बात मानते हैं, मेरी मानें, तो मैं उन्हें लेकर नागल का क़िला घेर लूँ, और राज्य का ख़ज़ाना लूट लूँ। आख़िर उस ख़ज़ाने में हमारे ही बाप-दादों की कमाई तो भरी है। रैयत अपना पसीना बहाकर मेहनत न करती, तो वह ख़ज़ाना कहाँ से आता। क्या राजा का धर्म यह नहीं कि ऐसे समय में प्रजा की रक्षा करे ?"

"है।"

"फिर ?"

इस विकट निराशामय परिस्थिति से निकलने के लिये सर कृपाशंकर को प्रकाश की वह रेखा दिखाई दी, जिसके लिये वह ईश्वर से बराबर प्रार्थना कर रहे थे। उन्होंने कहा—"बेशक ! राजा ईश्वर का सगुण रूप है। हमारी सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना उसी का काम है। पर हमारा राजा हमसे बेख़बर है। माना कि राजकर्मचारी उसकी आँखें और हाथ-पाँव हैं, पर शायद ये सब सुप्त अवस्था में हैं। हमें अपने राजा को जगा देना चाहिए। वह ज़रूर हमारी रक्षा करेगा। संग्रामसिंह, तुम मुझे आज और उपवास करने दो, और इस विषय को सोचने दो। कल शाम की प्रार्थना के बाद मैं इस अकस्मात् आई दैवी विपत्ति से निकलने का अवश्य कोई निश्चित मार्ग बता सकूँगा।"

"अच्छी बात है।" संग्रामसिंह ने अपनी मँझली पत्नी के हाथ पर कटोरा रखते हुए कहा—"अब तुम लोग जाओ।"

सर कृपाशंकर ने उन स्त्रियों को रोककर कहा—"बेटियो ! मेरी एक बात मानोगी ?"

तीनो स्त्रियाँ रुक गईं, और संग्रामसिंह की ओर देखने लगीं।

सर कृपाशंकर ने कहा—"संग्रामसिंह, ये बहादुर स्त्रियाँ हैं। इन्हें तुम अपने बंधन से मुक्त करो। इन्हें मेरी बात मानने दो।"

"आप कहिए, मैं यहाँ से चला जाऊँ ?"

"नहीं, मैं जो कहूँ, इन्हें करने दो।"

"कहिए।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"मेरी बेटियो ! आज तुमने अपने मुँह पर से जो घूँघट हटाया है, उसे अब हटा ही रहने दो, और आज जैसे तुम अपने पति की सहायता के लिये कमर कसे तैयार हो, वैसे ही हमेशा तैयार रहो।"

तीनो स्त्रियाँ मुस्किराईं, और चली गईं।

संग्रामसिंह ने कहा—"स्वामीजी, इस राज्य में किसी को कभी सुख नहीं मिला। आप इशारा कर दीजिए, और हम लोग क़िला घेर लें, या इस पार या उस पार। भूखों मरने से दोनो हालतें अच्छी हैं।"

"नहीं, संग्रामसिंह ! नहीं। प्रेम का मार्ग सच्चा मार्ग है। राजा भी हमारी-तुम्हारी तरह मनुष्य ही तो है। हमारा-तुम्हारा दुःख उस पर विदित नहीं है। पर मेरा विश्वास है कि वह कभी न चाहेगा कि उसकी प्रजा भूखों मर जाय।"

"आप ही बताइए, उसने क्या किया ?"

"तुमने उसका द्वार भी तो नहीं खटखटाया।"

"स्वामीजी ! आप अधिक जानकार हैं। कुछ उपाय जल्दी निकालिए। अपराध क्षमा हो, तो एक बात और कह दूँ।"

"कहो।"

"थोड़ा-सा शोरवा आज हमने रुक्मिणी को भी पिला दिया था।"

अब कृपाशंकर की समझ में आया कि रुक्मिणी क्यों खर्राटे ले रही थी। उन्होंने पूछा—"और उसने पी लिया?"

"हम लोगों ने उससे यह नहीं बताया कि मांस का शोरवा है। उससे बता दिया कि एक वृक्ष की जड़ है, नमक-मिर्च डालकर पकाई गई है। अभी वह लड़की ही है। उसका ब्याह नहीं हुआ। सब कुछ खा-पी सकती है।"

सर कृपाशंकर ने एक संतोष की साँस ली, और कहा—"देखो, आज माफ़ करता हूँ, पर इस प्रकार धोखा देकर उसे कभी कोई चीज़ मत खिलाना। वह स्वेच्छा-पूर्वक भूख-प्यास और कष्ट बरदाश्त करने निकली है। तुम्हारे इस व्यवहार से उसका व्रत भंग होगा।"

"अच्छी बात है।"

संग्रामसिंह अपने घर चले गए, और कृपाशंकर उस निस्तब्ध रजनी में यह देखने के लिये कि कौन सोता है, और कौन जागता है, आगे बढ़े। दिल्ली से चलते समय उन्होंने इस बात पर नहीं विचार किया था कि अकाल, महामारी आदि दैवी दुर्घटनाओं के समय में वह क्या करेंगे? पर उन्होंने अनुभव किया कि ऐसी विपत्तियों का मुक़ाबिला किसान लोग बिना राज्य की सहायता के नहीं कर सकते। उनके दिमाग़ में भारत के पिछले अकालों का इतिहास नाच गया। अकाल के समय प्राचीन हिंदू और मुसलमान सम्राटों तथा अँगरेज़ी सरकार ने किसानों की किस प्रकार और कहाँ तक सहायता की थी, इस पर भी उन्होंने विचार किया। उनके स्मृति-पट पर वे तालाब, नहरें, सड़कें और बाँध स्पष्ट हो उठे, जो विभिन्न सरकारों ने किसानों से बनवाए थे, और इस प्रकार उन्हें मज़दूरी देकर जीवित रक्खा था। उनकी कल्पना के सामने हाथ-पाँव बँधे वे साहूकार भी आए, जिन्होंने सरकार द्वारा निश्चित दर से अधिक दर पर ग़ल्ला बेचकर शीघ्र मालामाल हो जाने का उपक्रम किया था, और वे साहूकार भी आए, जिन्होंने जनता के दुःख से द्रवित होकर अपनी कोठियाँ खाली करनी शुरू कर दी थीं।

एकाएक उसके कान में एक बच्चे के रोने की आवाज़ पड़ी, और साथ ही एक पुरुष का कर्कश स्वर गूँज उठा—"नहीं चुप होता, तो गला दाब दे।"

यह दयानिधान की आवाज़ थी। कृपाशंकर ने मकान के पास जाकर पुकारा—"कौन, दयानिधान?"

"हाँ स्वामीजी।"

"क्या बात है?"

"अपना ही पेट भरना मुश्किल है, और आपने ऊपर से यह बला हमें और सौंप दी है।"

दयानिधान बाहर लेटा हुआ था। कृपाशंकर उसी की खाट पर बैठ गए, और बोले—"यह हमारे-तुम्हारे धैर्य की परीक्षा हो रही है। क्रोध से शरीर की शक्ति जल्दी क्षीण होगी।"

रोते हुए बच्चे को लेकर वह स्त्री बाहर निकल आई। यह वह स्त्री थी, जिसे रुक्मिणी ने घर और गाँव से निर्वासित होने से बचाया था। उसने कहा—"स्वामीजी! मेरे शरीर में अब दूध की एक बूँद भी नहीं रह गई। बच्चे को क्या पिलाऊँ? कैसे जिलाऊँ? जी में आता है, इसके समेत किसी कुएँ में कूद पड़ूँ, और इस कष्ट से छुट्टी मिले।"

कृपाशंकर ने कहा—"बेटी, धीरज धरो। कल प्रार्थना के समय हम लोग तय करेंगे कि क्या करना चाहिए। यदि मरना ही होगा, तो सब लोग एक साथ मरेंगे।"

उस भूखी स्त्री ने अपने रोते हुए बच्चे का मुँह अपने शुष्क स्तनों से लगाते हुए कहा—"स्वामीजी, रात में लड़की को अकेली छोड़कर आपका इस प्रकार बाहर निकलना ठीक नहीं। मैंने उन बदमाशों को आपके घर के बाहर चक्कर लगाते देखा था। वे रात में घर से बाहर अकेली निकली हुई स्त्री पर बाज़ की तरह झपटते हैं, और उसका मुँह दाबकर उसे सूबा के पास ले जाते हैं, और सबेरा होने से पहले फिर उसके घर डाल जाते हैं।"

इसी समय रजनी की उस निस्तब्धता को चीरता हुआ मँगरू का भयत्रस्त स्वर उनके कान में पड़ा। उसके साथ ही बंदूक़ों के दगने की आवाज़ें हुईं। कृपाशंकर और दयानिधान दोनो उस ओर दौड़ पड़े, और भी गाँववाले जहाँ-तहाँ से दौड़े। देखा, एक दीवार की आड़ में खड़े संग्राम-सिंह एक ओर से बंदूक़ चला रहे हैं, और दूसरी ओर, एक दूसरी दीवार की आड़ में, तीन आदमी खड़े हैं, जिनमें से एक गोली चला रहा है, और दो रुक्मिणी का मुँह दाबे उसे लेकर गाँव से निकल जाने का उपक्रम कर रहे हैं। और संग्रामसिंह की गोली लगने से एक आदमी खुली जगह में गिरा पड़ा है।

संग्रामसिंह के अलावा इस गाँव में दो-तीन आदमियों के पास और भी बाबा आदम के समय की बंदूक़ें थीं। वे लोग भी अपनी बंदूक़ें लेकर दौड़े, और वे आदमी क़ाबू में कर लिए गए।

गाँववालों ने उन पर घूँसेबाज़ी शुरू की। सर कृपाशंकर ने बड़ी मुश्किल से उन्हें रोका। ये सब लोग उसी प्रार्थनावाले मैदान में लाए गए। इनमें से दो आदमी पास ही के गाँव के थे, और प्रार्थना में प्रायः सम्मिलित होते थे। उन दोनो ने कृपाशंकर के चरणों पर मस्तक रखकर कहा—"स्वामीजी, हमारा अपराध बहुत बड़ा है। प्राण के मोह से हमने यह काम किया है। जो मन में आवे, हमें दंड दीजिए।"

संग्रामसिंह ने उनके गले के पास बंदूक़ ले जाकर कहा—"तुम्हारी यही सज़ा है।"

कृपाशंकर बोले—"संग्रामसिंह, इन बेचारों का क्या क़सूर है? ये किराए के टट्टू! और फिर, तुम्हारी तो यही दलील है कि ज़िंदा रहने के लिये मनुष्य सब कुछ कर सकता है।"

"नहीं, ऐसी ज़िंदगी से मौत भली। सूबा को चलें, लूटें। मैं इनका साथ दूँगा। स्त्री पर हाथ उठाना मरदानगी का लक्षण नहीं है।"

रुक्मिणी का चित्त अब भी अशांत था। गाँव में बसकर गाँववालों की सेवा करने का उसे यह पुरस्कार मिलेगा, यह सोचकर वह मन-ही-मन ग्लानि से दबी जा रही थी। उसने कहा—"ये गाँव अभी मनुष्य के रहने लायक़ नहीं हो सकते। इसके लिये काफ़ी बलिदान करने की ज़रूरत है।"

कृपाशंकर ने कहा—"इस बुराई का मुख्य कारण यह है कि लज्जा-वश स्त्री ऐसे अपमान को अंदर-ही-अंदर पी जाती है, और पी न जाय, तो करे क्या? उसे जाति से बहिष्कृत कर दिए जाने का भय रहता है। दयानिधान की भयाहू की दुर्दशा तुम देख चुकी हो। इस लज्जा-जनक स्थिति पर उसे भी इसी सूबा ने पहुँचाया था।"

"यह सूबा क्या बला है?" रुक्मिणी ने पूछा।

दयानिधान बोला—"सूबा इस परगने का सबसे बड़ा हाकिम है। आजकल जो आदमी यहाँ सूबा के पद पर है, वह राजा साहब का बहुत मुँहलगा है। राजदरबार में उसका बड़ा मान है। वह जो चाहे, सो कर सकता है।"

संग्रामसिंह ने कड़ककर कहा—"वह किसी की इज़्ज़त नहीं ले सकता। मेरा ख़ून खौल रहा है। स्वामीजी, आपका यह दया-धर्म सब जगह काम नहीं दे सकता।"

रुक्मिणी बोली—"पिताजी, मैं इस सूबा के विरुद्ध रियासत में यदि कोई अदालत हो, तो उसमें मुक़द्दमा चलाना चाहती हूँ, और वहाँ कोई सुनाई न हो, तो अँगरेज़ी सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहती हूँ। मैं इसे माफ़ नहीं कर सकती, और ऐसा नालायक़ आदमी तो इस पद पर कदापि न रहना चाहिए।"

संग्रामसिंह ने खड़े होकर, इधर-उधर घूमकर, पृथ्वी पर बंदूक़ पटक-कर कहा—"मैं सूबा से उसके इस अनाचार का बदला न ले लूँ, तो मेरा नाम संग्रामसिंह नहीं।"

यह एक दूसरी समस्या थी, जो सर कृपाशंकर के सामने आ खड़ी हुई थी। ऐसी परिस्थिति भी कभी उत्पन्न हो सकती है, यह उन्होंने दिल्ली से चलते समय न सोचा था। विलायत में स्त्री-अपहरण के इस प्रकार के क़िस्से उन्होंने अवश्य सुने थे; परंतु भारत में भी, जहाँ के निवासियों में धार्मिकता का सबसे अधिक बोलबाला है, ऐसी घटनाएँ हो सकती हैं, यह उन्होंने न सोचा था। गाँव के बीच में बसकर वह जो काम करना चाहते थे, उन्हें जान पड़ा, जैसे वह पीछे पड़ गए, और सर्वथा नई समस्याएँ उनके सामने अक्षय राक्षसों के समान आकर खड़ी हो गई। थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह बोले—"बेटी, प्रत्येक अच्छे कार्य में आरंभ में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। पर सुजन उनसे घबराकर अपना कार्य नहीं छोड़ देते। हम जो कार्य करने निकले हैं, वह तो करेंगे ही, और इस प्रकार की जो आकस्मिक विपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी, उन्हें भी हल करेंगे। आखिर गाँववालों के सामने भी तो ऐसे प्रश्न हैं।"

जो चार आदमी रुक्मिणी का अपहरण करने आए थे, उनका बयान सब गाँववालों के सामने लिखा गया, और इसके पहले उन्होंने जिन-जिन स्त्रियों का अपहरण किया था, वह सब भी लिखा गया, तथा उनके दस्तख़त काग़ज़ पर कराए गए। इसके बाद सर कृपाशंकर ने उन्हें जाने की इजाज़त दी, और कहा—"सूबा से कह देना, यदि वह इस पद से इस्तीफ़ा दे दे, और इस गाँव के निवासियों से कल शाम तक माफ़ी माँग ले, तथा अपने पापों का प्रायश्चित्त करे, तो हम उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही न करेंगे।"

सूबा का निवास इस गाँव के दक्खिन, लगभग बीस मील पर था। वहाँ से इस गाँव तक एक कच्ची सड़क आई थी, जिस पर प्रायः बैलगाड़ियाँ चला करती थीं। यह सड़क गाँव के बग़ल से होती हुई उत्तर को और फिर उत्तर-पूर्व को मुड़कर उस पक्की सड़क से मिल गई थी, जिस पर लारियाँ चला करती थीं। कच्ची सड़क ख़ास कर सूबा की सुविधा के लिये ही बनाई गई थी। ये आदमी एक मोटरकार पर आए थे, और उसे गाँव के बाहर

छोड़ आए थे। उसी पर वापस चले गए। तीन दुरुस्त और चौथा घायल। संग्रामसिंह की गोली से उसके पैर में कुछ चोट आ गई थी।

यह चर्चा आस-पास के गाँवों में फैल गई, और स्वामीजी से सहानुभूति प्रकट करने आस-पास के गाँवों से किसान आने लगे। सबेरा होते-होते लोगों ने देखा, सशस्त्र सैनिकों के एक दल ने आकर संग्रामसिंह का घर घेर लिया है, और उन्हें गिरफ्तार करना चाहता है, तथा संग्रामसिंह अपने कोठे पर से उनसे युद्ध करने का उपक्रम कर रहे हैं।

पूछने पर इन सैनिकों ने सर कृपाशंकर को सूबा का हुक्म दिखाया। उसमें लिखा था—"संग्रामसिंह! तुमने राज्य के आदमियों को राज्य का कार्य करने से रोका है, इसलिये तुम्हें गिरफ्तार किया जाता है।"

सर कृपाशंकर ने उनके नायक से सारा क़िस्सा कह सुनाया। नायक बोला—"स्वामीजी! आप जो कहते हैं, ठीक है। सूबा बड़ा ही ज़ालिम है। पर हम क्या कर सकते हैं। हम राज्य के नौकर हैं, और वह हमारा हाकिम है। जो हुक्म मिलेगा, उसे बजाना हमारा फ़र्ज़ है। आपको हम सावधान किए देते हैं। जल्दी ही वह आपको भी गिरफ्तार कराएगा। बेहतर है, आप आजकल में रियासत से बाहर चले जायँ।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"सब प्रकार के कष्टों का आस्वादन करने ही मैं इस गाँव में आया हूँ, इसलिये मेरा यहाँ से भाग जाना असंभव है। पर आप सूबा से कह दीजिएगा कि इस गाँव के निवासी अब इस प्रकार के अत्याचार बहुत दिन तक नहीं सह सकते। अब वे इसके विरुद्ध आवाज़ उठावेंगे।"

"कह दूँगा।"

सर कृपाशंकर ने संग्रामसिंह के मकान के अंदर जाकर उनसे कहा—"संग्रामसिंह! तुम गिरफ्तार हो जाओ। हम लोग तुम्हें छुड़ावेंगे, और न छुड़ा सके, तो तुम्हारे साथ हम भी गिरफ्तार हो जायँगे।"

संग्रामसिंह गुस्से में भरे थे। कड़ककर बोले—"स्वामीजी! चालीस के ऊपर मेरी उम्र हो रही है। बहुत जिंदा रहा। 'बरस अठारह क्षत्री जीवै, आगे जीबे को धिक्कार!"

"देखो, इस प्रकार लड़कर तुम मर जाओगे, और सूबा का बाल न बाँका होगा। हम उस पर बाक़ायदे मुक़द्दमा चलाने जा रहे हैं। चूँकि अभी वह अपने पद पर है, इसलिये उसका हुक्म चलेगा ही। इस समय उसका हुक्म राजा का हुक्म है। उसे मानना तुम्हारा फ़र्ज़ है। पर राज्य से उसे जो अधिकार मिला है, उसका उसने दुरुपयोग किया है, यह साबित करके उसे दंड दिलाना हमारा काम है।"

अंत में, बहुत वाद-विवाद के बाद, संग्रामसिंह गिरफ्तार होने के लिये राज़ी हो गए। अपनी पत्नियों से उन्होंने बिदा ली। तीनो की आँखों में बड़े-बड़े आँसू उमड़ आए। उनका लड़का अब भी सुख की नींद सो रहा था। उसे संग्रामसिंह ने प्रेम से चुंबन किया, और घर के बाहर हो गए। बाहर निकलते ही उन्हें सिपाहियों ने बाँध लिया, और सूबा के हुक्म के साथ राज्य के जेल में दाखिल कराने नागल ले चले।

संग्रामसिंह ने कहा था—"स्वामीजी, अपने घर में मैं ही कमानेवाला आदमी था।"

"तुम बेफ़िक्र रहो। मैं किसी को तकलीफ़ नहीं होने दूँगा। ज़रूरी काम के लिये मैं तार द्वारा दिल्ली से आज ही कुछ रुपया मँगाऊँगा।"

संग्रामसिंह के पीछे ही उन्होंने, उत्तर की ओर क़रीब १२ मील के फ़ासले पर बने रेलवे-स्टेशन से, दिल्ली तार भेजने के लिये आदमी दौड़ाया।

---

[१०]

आज प्रार्थना में सबसे अधिक भीड़ हुई। आस-पास के हज़ारों किसान अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ जमा हुए। स्त्रियों के मुखों पर घूँघट पड़े थे, और पुरुषों की दाढ़ियाँ बिना तेल के रूखी हो रहीं थीं। संग्रामसिंह की गिरफ़्तारी से किसानों में उत्तेजना फैली हुई थी। सच तो यह था कि उन्होंने इनाम पाने का काम किया था, पर जब हाकिम ही कुपथगामी हो जाय, तो सुपथगामी को कौन पूछे। संग्रामसिंह की स्त्रियाँ आज की सभा में मुँह खोले, अपने पति के वीरोचित कार्य का गर्व करती हुई, बैठी थीं। उनके पास सोने-चाँदी के गहने नहीं थे, क़र्ज़ अदा करने में सब बिक चुके थे, पर वे सुहागिन स्त्रियाँ थीं, इसलिये उन्होंने काच और गिलट के विविध आभूषण धारण कर रक्खे थे, और वे उनके अंगों की शोभा बढ़ा रहे थे। संग्रामसिंह का लड़का अपनी मँझली मा की गोद में मौन भाव से बैठा हुआ अपने पिता का प्रतिनिधित्व कर रहा था। पुरोहित शिवदत्तजी उच्च आसन पर विराजमान थे, और दुर्भिक्ष भगाने के उद्देश्य से 'विष्णुसहस्र-नाम' का पाठ कर रहे थे।

प्रार्थना के पश्चात् सर कृपाशंकर ने मृत्यु और जीवन के दोनो पहलुओं पर प्रकाश डाला, और बतलाया—"रात-दिन, अंधकार और प्रकाश की भाँति, दोनो एक ही ईश्वर के दो स्वरूप हैं। जो सामने आ जाय, उसी का हमें प्रसन्नता-पूर्वक आलिंगन करना चाहिए। उन्होंने एक जड़ पौदे का उदाहरण देकर बतलाया कि पानी न मिलने से वह सूखने लगता है, पर अपनी प्रार्थना में अटल रहता है। प्रभु का आह्वान करने के लिये अंत तक अपने पत्र-रूपी बाहु बाहर निकालता रहता है। इसी प्रकार हमें भी

अंत तक प्रभु-प्रार्थना में रत रहना चाहिए। परंतु मनुष्य अकेला नहीं रह सकता, वह कुटुंब और समाज के रूप में समूह बनाकर रहता है। किसान, जमींदार, राजा, सिपाही, सब उस कुटुंब के अंग हैं। जैसे हमारे शरीर के एक अंग में चोट आती है, तो उसकी पीड़ा का अनुभव सब अंगों को होता है, और सब पर उसका असर पड़ता है, वैसे ही समूह में भी एक वर्ग के मनुष्यों के पीड़ित होने पर यदि दूसरे वर्ग के लोग उससे प्रभावित न हों, तो समझना चाहिए कि समूह की चेतना-शक्ति या तो सो गई है, या मर गई है। यदि इस दुर्भिक्ष की बदौलत हम उस चेतना-शक्ति को जाग्रत् कर सकें, तो समझना चाहिए कि इसे ईश्वर ने हमारे उपकार के ही लिये भेजा है। दुःख एक ऐसी वस्तु है, जो मनुष्य को मनुष्य के निकट लाता है। हम सबको एक सूत्र में बाँधनेवाला हमारा दुःख ही तो है।"

इसके बाद उन्होंने कहा—"जब मस्तिष्क बेहोश हो जाता है, तब हाथ-पैरों पर आग भी रख दो, तो भी उसे पता नहीं चलता। आज हमारे राजा की स्थिति कुछ ऐसी ही हो रही है। मुझे पूरा विश्वास है कि उस पर हमारा दुःख प्रकट नहीं है। यदि हो जाय, तो वह इस प्रकार हमसे बेखबर नहीं रह सकता। हमें अपना आर्तनाद उसके कानों तक पहुँचाना है, अपने कष्ट को उसकी आँखों के सामने रखना है। यदि इतने पर भी वह न सुने, तब फिर से प्रार्थना करनी होगी। ईश्वर हमें नया मार्ग दिखावेगा।"

सर कृपाशंकर के बाद रुक्मिणी ने उन भूखे ग्रामीणों के सामने चार प्रस्ताव रक्खे। वे इस प्रकार थे—

(१) किसानों की यह महती सभा अपने राजा को बतलाना चाहती है कि राजा की प्रसन्नता उनकी प्रजा की प्रसन्नता पर ही अवलंबित है। आज प्रजा कष्ट में है, राजा उसके कष्ट को बँटाए।

(२) इस परगने का सूबा अपना कर्तव्य-पालन करने में असमर्थ है, और इस पद की प्रतिष्ठा उसके आचरणों से क़ायम नहीं रह सकती, इसलिये राजा से किसानों की इस महती सभा का निवेदन है कि उसे इस

पद से हटा दिया जाय, और दूसरा सूबा, किसानों की सलाह से, नियुक्त किया जाय।

(३) इस परगने के किसान चौबासा के जमींदार स्वामी कृपाशंकर को राजा से अपना दुःख-सुख निवेदन करने के लिये चुनते और आशा करते हैं कि राजा साहब स्वामीजी की सलाह से दुर्भिक्ष-निवारण का कोई-न-कोई मार्ग शीघ्र ही खोज निकालेंगे।

(४) यदि किसानों की माँगें स्वीकार न की गईं, तो उनका सम्मान-पूर्वक जीवित रहना असंभव है। उस दशा में वे ईश्वर से प्रार्थना करेंगे, और ईश्वर उन्हें जो भी मार्ग दिखाएगा, उधर ही वे बेधड़क जायँगे।

रुक्मिणी ने इन प्रस्तावों को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ा, और गाँववालों ने इन्हें एक स्वर से, बड़ी ऊँची आवाज़ में, दोहराया। उनका वह गगनभेदी स्वर जब उनके कान में पड़ा, तब उन्हें जान पड़ा, जैसे उनमें भी कुछ शक्ति है, और वे भूखों नहीं मर सकते। इसके बाद रुक्मिणी ने संग्रामसिंह की वीरता की प्रशंसा की, और कहा—"अब समय आ गया है, जब हम स्त्रियाँ भी अपनी रक्षा का भार अपने ऊपर लें, घूँघट हटा दें, और घरों से बाहर निकलकर वे रास्ते देखें, जिन पर हमें चलने की ज़रूरत पड़ सकती है।"

जो काम महीनों के वाद-विवाद से नहीं होते, वे उत्तेजना के एक क्षण में अपने आप हो जाते हैं। रुक्मिणी को कहते देर नहीं लगी कि स्त्रियों ने अपने घूँघट हटा दिए। चंद्र-प्रकाश में उनके क्षुधा-पीड़ित, उदास मुख एक विचित्र प्रकाश के उत्साह में पूर्ण हो उठे, और देखनेवालों को ऐसा जान पड़ा, मानो आबादी का आधा भाग, जो कफ़न ओढ़े मुर्दों के समान शिथिल पड़ा था, कफ़न फेंककर कार्यशील हो उठा है। किसानों में भोजन के अभाव से भी बढ़कर इच्छा का, उत्साह का अभाव था। आज वह अभाव जैसे दूर हो गया था, और इसीलिये, भूखे होने पर भी, उनके चेहरों पर एक विचित्र प्रकार का उल्लास छा गया था। जीवन में वह प्रथम दिन था, जब सर कृपाशंकर को नागल-राज्य के लिये एक बैल-गाड़ी पर रातोरात रवाना

करके वे अपने-अपने घर सोने गए। उस रात भूख से भी अधिक उत्साह ने उनकी नींद में बाधा डाली।

मँगरू यद्यपि छोटा बालक था, पर बैल-गाड़ी हाँकने में बहुत निपुण था। सारी प्रकृति सोई हुई थी, एवं चाँदनी रात में तृण-विहीन, ऊँची-नीची भूमि ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो आटे के बोरे बिखरे पड़े हों। हवा रूखी और शीतल थी; और सूखते जलाशयों के पास वन-पशुओं के दबे पाँवों आने-जाने की आहट मालूम पड़ रही थी। पृथ्वी का यह नग्न सौंदर्य दयनीय न था, बल्कि ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो किसी युवती ने स्वेच्छा-पूर्वक अपनी साड़ी उतारकर एक ओर रख दी है। सर कृपाशंकर अपने ही चिंतन में लीन थे, पर प्रकृति के इस सौंदर्य की उपेक्षा वह न कर सके। उन्हें अर्द्ध-मरुप्रदेश का यह प्राकृतिक सौंदर्य मानवों की इस विपत्ति पर अट्टहास करता हुआ प्रतीत हुआ। ओफ़्! प्रकृति कितनी निर्मम है!

इस एकांत स्थल में शांत चित्त से उन्होंने अपने बीते जीवन का सिंहा-वलोकन आरंभ किया। उन्हें जैसे अपने आप पर भरोसा न रह गया था। भूखे बैल सोती हुई नग्न परी के वक्षःस्थल पर से उन्हें खींचे लिए जा रहे थे, और वह सोच रहे थे कि वह अब भी कोई भूल या पागलपन तो नहीं कर रहे हैं। उन्हें जान पड़ा, जैसे चंद्रमा में बैठी उनकी स्वर्गीया पत्नी आकाश से मुस्किरा रही है। कदाचित् वह प्रसन्न है कि आखिर उन्होंने दूसरों को उपदेश देना बंद करके स्वयं कुछ करना तो सीखा। उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास ली। पत्नी का वियोग उन्हें जितना पहले कभी नहीं अखरा था, उतना अब अखरा। उन्होंने पूछा—"मँगरू, तुझे तेरी मा की याद है!"

"हाँ, स्वामीजी! वह बड़ी अच्छी थी। जब मैं छोटा था, तब वह मुझे लेकर घर से भागी थी। हम लोग इसी रास्ते से आए थे। मुझे ख़ूब याद है।"

"घर से भागी थी? क्यों?"

"मेरा बाप उसे बहुत मारता था। बात-बात पर मारता था, बिना क़सूर मारता था।"

"तेरा बाप?"

"वह बाप नहीं स्वामीजी, जो मर गया। पहला बाप। वह बड़ा ज़ालिम था। वह मुझे भी मार डालता, पर मेरी मा मुझे लेकर भाग आई।"

"और इस नए बाप ने?"

"इसने मा को कभी नहीं मारा। इसने उसकी बड़ी सेवा की, और जब वह मरने लगी, तब इसे दुःख था कि यह मा को सुख नहीं दे सका।"

सर कृपाशंकर को बालक का पूर्व इतिहास बड़ा ही करुण जान पड़ा। उन्होंने उसकी चर्चा करके उसके हृदय में पूर्व स्मृतियाँ जगाकर उसे दुखी करना उचित नहीं समझा। विषय बदलते हुए वह बोले—"अच्छा मँगरू, तू बड़ा होकर क्या करेगा?"

"मैं स्वामीजी! मैं किस लायक़ हूँ। पर अगर आपकी कृपा से जीता रहा, और मेहनत-मजदूरी करके कुछ कमा सका, तो इसी तरह के दो बैल लूँगा, और गाड़ी जोतूँगा।"

मँगरू ने बैलों की पीठ थपथपाई, और ऐसे अकड़ गया, मानो सचमुच बैल खरीद चुका हो।

"और?" सर कृपाशंकर ने पूछा।

"और स्वामीजी, एक गाय पालूँगा।"

"और?"

"और आम का एक पेड़ लगाऊँगा।"

"और?"

मँगरू सोच में गड़ गया। बोला—"और कुछ नहीं। इतना ही जाय, तो समझिए, बहुत है।"

कैसी भी बात शुरू करें, प्रत्येक चर्चा दुःखांत होगी। सर कृपाशंकर को और पूछने का साहस न हुआ। ओह! बेचारे मजदूर के बालक की कितनी छोटी महत्त्वाकांक्षा है, और इसके पूरे होने में भी उसे विश्वास नहीं है। फिर भी उन्होंने जी कड़ा करके पूछा—"और ब्याह नहीं करेगा ?"

"मेरे बाप नहीं, मा नहीं, ख़ुद खाने को नहीं, मेरे साथ भूखों मरने के लिये कौन मुझे अपनी लड़की देगा ? और, कोई देनेवाला भी हो, तो मेरी तरफ़ से कौन माँगेगा।"

विपत्ति कम उम्र में ही मनुष्य को कितना अनुभवी बना देती है। कॉलेज की पढ़ाई समाप्त करके जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करने के बहुत वर्ष बाद तक भी उन्होंने इस प्रकार सोचना न सीखा था। वह चुप हो रहे। अब लड़के की बारी थी। उसने पूछा—"स्वामीजी, आप साधू क्यों हो गए ? आपके घर में तो खाने-पीने को था। आपको तो बड़ा आराम था।"

"मैं खाने-पीने और आराम से ऊब गया था।"

"सुख और आराम से भी आदमी ऊबता है ?"

"क्यों नहीं !"

"तब तो जो आदमी बहुत पुण्य करके स्वर्ग जाते हैं, वे बहुत ही ऊबेंगे; क्योंकि वहाँ से लौट नहीं सकेंगे।"

"इसमें क्या शक है !"

"अच्छा स्वामीजी ! राजा राज्य से कभी नहीं ऊबता ?"

मँगरू ने चाँदी के पहाड़ के समान नागल के राजमहलों को सामने देखते हुए कहा।

"क्यों नहीं ऊबता।"

"तब राज्य छोड़ क्यों नहीं देता ?"

"पिंजड़े के तोते के समान वह राज्य के सुखों का क़ैदी हो जाता है, और चूँकि बचपन से ही इस क़ैद में पड़ जाता है, इसलिये उसकी इच्छा मर जाती है।"

"तब तो राजा से हमीं लोग अच्छे।"

सर कृपाशंकर को नींद आ गई। उनकी श्वास की गति और ध्वनि में परिवर्तन होने से मँगरू ने यह बात जान ली, और फिर उसने कुछ न कहा। वह अपने पिता के साथ कई बार नागल गया था। पर अकेला और इतना बड़ा उत्तरदायित्व लेकर कभी न गया था। यद्यपि उसे रास्ता मालूम था, तथापि उसे अपने आपसे अधिक बैलों पर भरोसा था। इसलिये उसका ध्यान मार्ग की ओर उतना नहीं था, जितना चाँद, तारों और दूरी पर चमकते हुए नागल के राजमहलों की ओर था। कई बार उसके मन में आया कि वह चाँद-तारों के बारे में स्वामीजी से कुछ पूछे, और कई बार उसके मन में आया कि वह कुछ गाए, क्योंकि उसका ख़याल था कि गाने से रास्ता जल्दी कटता है, और उसके मन में गाने की उमंग भी थी। पर स्वामीजी की नींद भंग न हो जाय, यह सोचकर वह चुप रहा।

इस प्रकार रातोरात बैल-गाड़ी चली गई। चंद्रमा का प्रकाश जब कुछ फीका पड़ने लगा, और पूर्व-दिशा अपना परिधान बदलती-सी प्रतीत हुई, तब सर कृपाशंकर की नींद खुली। गर्द के कण उनके बालों और शरीर पर ही नहीं बिखरे थे, उनके मुँह के भीतर भी पहुँच रहे थे, और दाँतों के भीतर खिसक रहे थे। उन्होंने इधर-उधर आँखें फाड़कर देखा कि जिस भूमि से अब वह जा रहे थे, वह कैसी है। उषाकाल के धुँधले प्रकाश में कुछ हरे पेड़ों की-सी आकृतियाँ उन्हें प्रतीत हुईं, और लोग भी आते-जाते प्रतीत हुए। नागल नगर आ गया।

अब गाड़ी नीम और पीपल के हरे पेड़ों की पंक्तियों के बीच से जा रही थी। स्थान-स्थान पर सीमेंट के सुंदर स्तंभ खड़े थे, और उनके ऊपर से बिजली की बत्तियाँ यात्रियों को नागल के वैभव का परिचय दे रही थीं।

आगे एक हलवाई की दूकान से एक श्वेत बादल-सा उठकर उनका रास्ता रोके खड़ा था। उसने अभी अपनी भट्ठी सुलगाई थी। इस धुएँ की गंध से सर कृपाशंकर को नगरों की याद आ गई। वह थोड़ा और बढ़े कि एकाएक बिजली की बत्तियाँ बुझ गईं, और राह चलते आदमियों के प्रश्न उनके कान में पड़ने लगे—"गाड़ी कहाँ से आ रही है? तुम्हारी तरफ़ खेती का क्या हाल है? तुम्हारे पास एक चिलम तंबाकू तो न होगी?" इत्यादि। मँगरू सबका उत्तर देता चला जा रहा था, और वह भी कुछ नए प्रश्न कर रहा था।

एक बड़े तालाब के पास पहुँचकर मँगरू ने गाड़ी खड़ी कर दी। गाड़ी में संग्रामसिंह की स्त्रियों ने थोड़ा-सा भूसा रख दिया था। मँगरू ने बैलों को खोला, तालाब में ले जाकर उन्हें पानी पिलाया, और पेड़ से बाँधकर उनके सामने वह भूसा डाल दिया।

स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ आदि के लिये वह स्थान बहुत उपयुक्त था। इन सब क्रियाओं से निवृत्त होकर और मँगरू को जल-पान करने के लिये कुछ पैसे देकर वह राजमहल की ओर रवाना हुए। तार द्वारा दिल्ली से उन्होंने कई सौ रुपए मँगा लिए थे, और सब रुक्मिणी को सौंपकर अपने मार्ग-व्यय के लिये थोड़े-से ले आए थे। मँगरू ने कहा—"स्वामीजी, दिन-भर यहाँ छोड़ दो, तो भी बैल कहीं न जायँगे। मैं भी आपके साथ चलूँगा। यहाँ इनका कोई डर नहीं है। आप लौटकर आवेंगे, तो यहाँ बीसियों गाड़ियाँ खड़ी और बैल बँधे पावेंगे।"

सर कृपाशंकर को मँगरू की बात पसंद आई, और उन्होंने उसे भी साथ ले लिया। नागल झोपड़ों और राजमहलों का एक छोटा-सा साफ़-सुथरा नगर था। राज्य की ओर से एक अस्पताल और एक स्कूल भी था। पर अस्पताल में सर्व-साधारण के जाने का साहस न होता था, और स्कूल में राजकीय ख़ानदान, सरकारी नौकरों और कुछ धनी आदमियों के लड़के पढ़ते थे। इन दोनो वस्तुओं को इस रूप में देखकर भी सर कृपाशंकर ने

एक संतोष की साँस ली। कहने को ही सही, इस रियासत ने लोक-हित की ओर क़दम तो बढ़ाया है।

अब सूर्य उदय होकर अपनी सुनहली किरणें महलों और झोपड़ों पर समान भाव से बिखेर रहा था, और राज्य के अमीर-ग़रीब, दोनो अपनी-अपनी स्थिति से अपना मूक असंतोष प्रकट करने राज्य के मंदिर में जा रहे थे। मंदिर का घंटा बज रहा था। मँगरू ने कहा—"स्वामीजी, आप जाइए, दर्शन कर आइए। मैं यहीं खड़ा हूँ।"

"क्यों? तुम क्यों नहीं?"

"मैं चमार हूँ। मैं घुसूँगा, तो मंदिर अपवित्र हो जायगा।"

सर कृपाशंकर को मालूम हुआ। मानो उनका जन्म हिंदोस्तान में नहीं हुआ है। वह विदेशी हैं, यह देश देखने आए हैं, और ऐसी विचित्र बातें सुन रहे हैं। वह कहीं किसी मंदिर में जाने से रोके नहीं गए थे, और उनके सामने यह प्रश्न कभी नहीं उठा था।

वह बोले—"देवता सबके हैं। ईश्वर का द्वार सबके लिये खुला है। डरो मत! मेरे साथ आओ।"

अंदर क्या है? यह मँगरू ने कभी नहीं देखा था। देवता कैसे होते हैं, और किस प्रकार लोगों की प्रार्थनाएँ सुनते हैं, यह भी वह नहीं जानता था। कुछ हिचक और कुछ उत्सुकता के साथ उसने सर कृपाशंकर की उँगली पकड़ ली, और उनके साथ आगे बढ़ा। उस समय उसके मन में एक विचार उठा। उसने सोचा, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के मुक़ाबिले में चमार लोग जो इतने ग़रीब होते हैं, इसका कारण यही है कि वे देवता के क़रीब नहीं जाने पाते। क़रीब जायँ, तो वे भी धन न माँग लें। देवता इनकार करना तो जानते नहीं। जो माँगता होगा, उसी को देते होंगे। इसलिये ब्राह्मण लोग चमारों को देवता के पास नहीं आने देते कि जिसमें वे ही माँगें, और वे ही पावें। पर आज स्वामीजी की कृपा से वह देवता के पास पहुँच रहा था! वह क्या माँगे, यही वह सोच रहा था। जब उसकी

समक्ष में कुछ न आया, तब उसने कहा—"स्वामीजी, आप भगवान् से क्या माँगेंगे ?" करने को तो वह यह सवाल कर गया, पर दूसरे ही क्षण उसने सोचा, स्वामीजी तो हमेशा ही माँगते रहते होंगे, क्योंकि उन्हें दर्शन मिलता रहता है। वह क्या माँगे, इसलिये उसने तत्काल अपने प्रश्न को बदला, और पूछा—"नहीं-नहीं, स्वामीजी, मैं क्या माँगूं ?"

"तुम क्या माँगना चाहते हो ?"

"आज तो मैं सिर्फ़ माँगना चाहता हूँ कि हे भगवान्, पंडितों की कुछ ऐसी मति कर दो कि वे चमारों को तुम्हारे पास आने से न रोकें।"

"बहुत ठीक ! तुम यही माँगना।"

अंदर से मंदिर की परिक्रमा करने और उसके भीतर की कारीगरी देखने के पश्चात् ये दोनो आदमी देवता के निकट गए। क़ीमती वस्त्राभूषण पहने भगवान् विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति उनकी ओर मानो टकटकी बाँधे देख रही थी। उनके गले में अनेक सुगंधित पुष्प-मालाएँ पड़ी थीं, चरणों के निकट वेदी में सुगंधित धूप जल रही थी, और बग़ल में खड़ा पुजारी कपूर का दीप जलाए उनकी आरती उतार रहा था। एक ओर कुछ स्त्रियाँ और दूसरी ओर कुछ पुरुष हाथ जोड़े खड़े थे। इन्हीं लोगों में सर कृपाशंकर के साथ मँगरू भी जाकर खड़ा हुआ। आरती समाप्त होने पर मँगरू ने उच्च स्वर से अपनी प्रार्थना की। उस समय वह भक्ति में डूबा हुआ था, और उसे ध्यान नहीं था कि उसके पास और कौन-कौन खड़े हैं।

सब लोग उसे आश्चर्य से देखने लगे। पुजारी ने उपस्थित लोगों की ओर जो आरती बढ़ाई थी, उसे जमीन पर रखते हुए कर्कश स्वर में पूछा—"तू कौन है रे ?"

सर कृपाशंकर ने कहा—"उसकी प्रार्थना में विघ्न न डालिए। पहले भगवान् से वह जो कुछ कह रहा है, कह लेने दीजिए। उसके बाद आप उससे बातें कर सकते हैं। वह भगवान् का सच्चा भक्त है।"

मँगरू अब भी आँखें बंद किए, हाथ जोड़े खड़ा था, और मालूम नहीं, मन-ही-मन ईश्वर से क्या कह रहा था।

पुजारी ने पूछा—"आप कौन हैं ?"

"मैं भी भगवान् का भक्त हूँ।"

"आपकी जाति ?"

"ब्राह्मण।"

"और इसकी जाति ?"

"चमार।"

पुजारी ने कड़ककर कहा—"निकालो इसको। इसे तुमने कैसे यहाँ लाने का साहस किया ? सारा मंदिर अपवित्र हो गया !"

मँगरू सोते से जैसे चौंक पड़ा। उसने भयत्रस्त आँखों से सर कृपाशंकर की ओर देखा। उन्होंने कहा—"डरो मत मँगरू ! तुम ईश्वर के सामने खड़े हो। तुम उसके भक्त हो, वह तुम्हारी रक्षा करेगा। पुजारी का ईश्वर पर विश्वास नहीं है। वह उन्हें केवल पत्थर समझ रहे हैं, इसलिये क्रोध कर रहे हैं।"

स्त्रियों में एक बूढ़ी स्त्री भी थी। उसने सर कृपाशंकर की ओर देखा। उनके कथन में उसे कुछ सचाई जान पड़ी। उसने पुजारी से कहा—"ईश्वर के दरबार में कैसा भेद ? क्या इस चमार को ईश्वर ने नहीं बनाया ? और वह इसके घट में नहीं रम रहा है ? तुम सचमुच सच्चे विश्वासी नहीं जान पड़ते हो। आइंदा मैंने तुम्हारे मुंह से ऐसी बात सुनी, तो इस मंदिर में नहीं रहने दूँगी।"

यह बूढ़ी स्त्री राजमाता थी। पुरोहित ने मौन धारण कर लिया, और अपना कार्य आरंभ किया। मँगरू संतुष्ट मन से स्वामीजी के साथ मंदिर से बाहर निकला। राजमहल वहाँ से पास ही था। बात करते दोनो वहाँ जा पहुँचे।

श्वेत संगमरमर का बना हुआ यह एक अत्यंत सुंदर, विशाल भवन था। इसकी चौकी ऊँची थी, और ऊपर जाने के लिये लंबी-चौड़ी सीढ़ियाँ बनी थीं। महल के एक ओर प्राइवेट सेक्रेटरी का दफ़्तर था, और दूसरी ओर संतरियों का आश्रम। महल के ऊपर सुंदर केशरिया झंडा फहरा रहा था, और रोशनचौकी बज रही थी। सामने विस्तृत मैदान था, जिसमें राजा साहब के विनोद के लिये विविध प्रकार के खेल-तमाशे हुआ करते थे। यह संपूर्ण शाही वैभव इस अर्द्ध-मरुभूमि में मृत्यु-जरा से अपरिचित एक जादू के पुष्प के समान खिला हुआ था।

सर कृपाशंकर ने संतरियों से राजा साहब से मिलने की इच्छा प्रकट की। उनमें से एक उन्हें डाँटकर बोला—"हुज़ूर अभी शयनागार में हैं।"

मँगरू बोला—"अरे, इतनी देर तक सोते हैं!"

दूसरा संतरी बोला—"किसी के नौकर हैं? चाहे जब तक सोवें।"

प्राइवेट सेक्रेटरी का दफ़्तर खुल गया था। सर कृपाशंकर वहाँ पहुँचकर एक कुर्सी पर बैठ गए, और दूसरी पर उन्होंने मँगरू को बैठाला। सेक्रेटरी के सहायकों ने बतलाया कि सेक्रेटरी साहब से उनसे भेंट नहीं हो सकती। वह बहुत मशग़ूल हैं।

सर कृपाशंकर ने कहा—"मैं सेक्रेटरी से मिलने नहीं आया। मैं दरबार से मिलना चाहता हूँ।"

"दरबार किसी से नहीं मिलते। आप इस रियासत के क़ायदे नहीं जानते, क्या?"

"कोई इच्छा करे, तो दरबार उससे क्यों न मिलेंगे? आख़िर उन्हें अपनी प्रजा का दुःख-सुख कैसे मालूम होता है?"

"हम लोग किसलिये नौकर हैं?"

"आप लोगों को मालूम है, चौबासा के आस-पास भीषण अकाल पड़ा है, उसके लिये सरकार की ओर से क्या हो रहा है?"

"चौबासा की तरफ़वाले बड़े ही उपद्रवी हैं। राज्य-कर न देने के लिये एक-न-एक बहाना हमेशा लगाए रहते हैं। अभी कल सूबा की रिपोर्ट आई है कि वे विद्रोह करने पर उतारू हैं। उनके दमन के लिये उन्होंने फ़ौज मँगाई है। इस बार वे ठीक हो जायँगे।"

सर कृपाशंकर अत्यंत गंभीर हो उठे। उन्होंने कहा—"क्या मैं आपके इस कथन को राज्य का कथन मानूँ, और इसका उत्तर दूँ?"

"मैं किस गिनती में हूँ।"

"तब ऐसी झूठी बात क्यों कहते हैं?"

"मैं तो ऑफ़िस का क्लर्क हूँ। काग़ज़ों में जो कुछ लिखा होगा, वही कहूँगा।"

"काग़ज़ों में ग़लत लिखा है।" सर कृपाशंकर ने उन प्रस्तावों को निकालकर पढ़ा, और कहा—"स्थिति यह है।"

वह छोटा राजकर्मचारी जैसे घबरा-सा उठा। बोला—"सूबा इसको सहन नहीं करेगा, इसका एकमात्र मतलब यह है कि उन किसानों के अब पर लग गए हैं। सूबा से वैर करके वे कुशल से नहीं रह सकते।"

"और सूबा अत्याचार करके सकुशल रह सकता है? किसान भूखों मर जायँगे, तो यह राजमहल खड़ा रहेगा, क्यों?" सर कृपाशंकर कुछ उत्तेजित हो उठे।

"महाराज, ऐसी बातें आप यहाँ न कीजिए।"

"ऐसी बातें और कहाँ की जा सकती हैं? परिस्थिति नाज़ुक है, इसीलिये मैं दरबार से मिलना चाहता हूँ।"

"तो एक काम कीजिए। हुज़ूर अभी शयन कर रहे हैं। शयन से उठेंगे, तो स्नान करने जायँगे। स्नान के बाद देव-दर्शन के लिये निकलेंगे। आप राजमंदिर के फाटक पर खड़े रहिए, शायद आपसे बात कर लें।"

सर कृपाशंकर वहाँ से चल पड़े। मंदिर के पास आए, और इरादा किया कि वहीं कहीं बैठें, पर पुजारी ने उन्हें दुबारा मंदिर में घुसने से रोका। बोला—"वह राजमाता हैं; उनके मुँह कौन लगे? पर तुमने ब्राह्मण होकर इस मंदिर को अपवित्र कराया है, इसका फल अच्छा नहीं होगा।"

"राजमाता के फ़ैसले के बाद मैं तुम्हारी बात नहीं सुनना चाहता।"

पुजारी द्वार पर खड़ा होकर दाँत पीसने लगा। सर कृपाशंकर मँगरू के साथ एक बार और नगर का चक्कर लगाकर आए।

राजा साहब की सवारी आ रही थी। मंदिर के द्वार के दोनो ओर दर्शकों की भीड़ लग गई थी। "हटो, बचो, रास्ता छोड़ो।" कहते हुए, नंगी तलवारें लिए, संतरी लोग चिल्लाते चले आ रहे थे। भीड़ में सर कृपाशंकर भी एक उपयुक्त स्थान पर खड़े हो गए। आठ घोड़ों की गाड़ी पर उनके सामने से राजा साहब की सवारी गुज़री। ऊपर सोने के तारों का छत्र तना था, और पीछे सेवक लोग चँवर डुला रहे थे। सर कृपाशंकर को नवयुवक राजा की मुखाकृति परिचित जान पड़ी। उन्हें याद आया कि एक बार लंदन में, उनके व्याख्यान के बाद जब सैकड़ों लोग अपनी-अपनी कॉपियों पर उनसे दस्तख़त कराने झपटे थे, तब उनमें यह नवयुवक राजा भी था, और बड़ी विनय के साथ उसने उनसे मुस्किराते हुए कहा था, मैं हिंदोस्तानी हूँ। मुझे अपना आटोग्राफ़ अवश्य दीजिए। हिंदोस्तानी नाम सुनकर सर कृपाशंकर तत्काल उसकी ओर आकृष्ट हुए थे, और उसकी कॉपी पर दस्तख़त कर दिए थे।

उसी नवयुवक से दो बातें करने की हृदय में उत्सुकता लिए आज वह भीड़ में खड़े थे, और वह उनकी उपेक्षा करता हुआ चला जा रहा था। इससे उन्हें दुःख नहीं हुआ। उन्हें एक प्रकार से संतोष ही हुआ कि अब वह संसार के लिये सर्वथा अज्ञात हो गए हैं, और दुःखी जीवन की वास्तविकताओं का स्वयं अनुभव कर रहे हैं।

राजा साहब की सवारी गुज़र जाने के बाद पीछे से उन पर दो आदमी

झपटे, और बिल्लियाँ जैसे चूहे को दबोचती हैं, वैसे उन्हें दबोचकर बोले—"यही है।"

सर कृपाशंकर चौंक पड़े—"क्यों भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

उन लोगों ने सूबा का हुक्म पढ़कर उन्हें सुनाया—"स्वामी कृपाशंकर, तुमने किसानों को राज्य के विरुद्ध बग़ावत करने के उद्देश्य से उभाड़ा है, इसलिये मैं तुम्हें गिरफ़्तार करता हूँ।"

सर कृपाशंकर मौन हो गए। उन्होंने मँगरू से पूछा—"अकेले गाँव चला जायगा?"

मँगरू बेचारा भौचक्का हो रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे, और क्या कहे। उससे बातें करने का उन्हें बिना और कोई अवसर दिए सिपाही उनकी मुश्कें बाँधकर जेलख़ाने की ओर ले चले। उनके पीछे मँगरू और कुछ दर्शक चले। मंदिर के बग़ल की दीवार के ऊपर की खिड़की से पुजारी ने झाँका। उसकी और सर कृपाशंकर की आँखें चार हुईं। पुजारी बोला—"तत्काल फल मिल गया न? चले थे देवता का घर अपवित्र करने!"

जेल के फाटक तक मँगरू उनके पीछे-पीछे गया। उसके बाद धक्का देकर उसे सिपाहियों ने हटा दिया। वह कभी इतना हताश नहीं हुआ था, जितना इस समय हुआ। बाप के मरने पर उसने स्वामीजी को पुकारा था। अब किसे पुकारे! उसका हृदय उड़ने में असमर्थ, ऊपर घोंसले से भूमि पर गिरे हुए चिड़िया के बच्चे के समान छटपटाने लगा, और उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया।

---

[११]

जेल के फाटक से एक तंग रास्ता कुछ दूर जाकर एक मैदान में खुलता था। यह मैदान चारो ओर से ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरा था, और इसके दो तरफ़ क़ैदियों के रहने के लिये बारकें बनी थीं। कुछ क़ैदी एक रस्से में बैल के समान जुते कुएँ से पानी खींच रहे थे, कुछ पेड़ के नीचे बैठे बाध बट रहे थे, और कुछ एक बारक में गड़ी चक्कियाँ चला रहे थे। सर कृपाशंकर दो जमादारों के साथ जैसे ही इस मैदान में आए, उन्होंने सबों को एक साथ देखा। उन्हें देखकर ये सब क़ैदी मुस्किराए, और मूक चेहरों से उन्होंने उनका स्वागत किया, पर अपनी जगह से कोई क़ैदी नहीं उठा। कारण यह था कि उस समय जेल के ख़ूँख्वार अफ़सर उस मैदान में घूम रहे थे, और क़ैदियों को भय था कि उनकी नजर न-जाने किस पर घूम जाय, और उस पर आफ़त आ जाय।

एकाएक सर कृपाशंकर को एक परिचित आदमी की-सी चीत्कार ने चौंका दिया। जिधर से स्वर आया था, उन्होंने उधर बढ़कर देखा कि एक दीवार के सहारे एक क़ैदी इस तरह लटकाया हुआ है, जिस तरह ईसा को उसके विरोधियों ने क्रास पर लटकाया था। अंतर केवल इतना ही था कि उसके शरीर में कीलें नहीं गाड़ी गई थीं। दीवार में, लगभग एक गज के फ़ासले से, लोहे के दो चुल्ले गड़े थे, जिनमें क़ैदी के दोनो हाथ पहना दिए गए थे। उसके पैर पृथ्वी से उठे थे, और उसका मुँह दीवार की ओर था। उसकी पीठ पर कोड़े लगाए जा रहे थे, जिनकी पीड़ा से वह एक चीत्कार के बाद बेहोश हो गया था। जेल के अधिकारी एक छायादार पेड़ के नीचे कुर्सियों पर बैठे उसकी पीड़ा का मजा ले

रहे थे, और कोड़ा लगानेवालों से कह रहे थे—"बस, उसे होश में आने दो, तब फिर...."

इस क़ैदी को पहचानने में उन्हें देर न लगी। यह संग्रामसिंह थे, जो अपनी मानवीय विशेषताओं का पुरस्कार पा रहे थे। जमादारों ने कहा—"यहाँ से चलो। यहाँ किसी को खड़े होने की इजाजत नहीं है।"

सर कृपाशंकर बोले—"ठहरो! यह मेरा मित्र है। इसकी इस दुर्गति का कारण मैं हूँ। वास्तव में यह सजा मुझे मिलनी चाहिए।"

इसी बीच में कई क़ैदी बाल्टियों में ठंडा पानी ले आए, और उसे संग्रामसिंह के मुँह पर डालना शुरू किया। थोड़ी देर में संग्रामसिंह को होश आ गया, और वह दर्द से कराह उठे। उनकी आँखें अब भी बंद थीं। वह उन कठोर-हृदय मनुष्यों को देखना नहीं चाहते थे, जो उनकी इस प्रकार दुर्गति कर रहे थे। एकाएक सर कृपाशंकर ने अत्यंत मधुर स्वर में पुकारा—"संग्रामसिंह।"

संग्रामसिंह ने आँखें खोल दीं। देखा, सामने स्वामीजी खड़े हैं। टँगे-टँगे उनकी बाँहें बेकार हो रही थीं, और उनकी मांस-पेशियों ने जैसे अपना काम करना भुला दिया था। बड़े कष्ट से सर कृपाशंकर की ओर मुँह घुमाते हुए संग्रामसिंह ने कहा—"स्वामीजी, इस जीवन से लड़कर मर जाना अच्छा था। आप यहाँ क्यों आए? यह नरक से भी भयानक स्थान है।"

सर कृपाशंकर उत्तर में कुछ कहने ही वाले थे कि अफ़सरों में से एक ने चिल्लाकर कहा—"कोड़े जमाओ।"

संग्रामसिंह पर फिर कोड़े पड़ने लगे। उन्होंने दृढ़ता-पूर्वक अपने होठों को मुँह के भीतर करके एक को दूसरे से दाब लिया, और आँखें बंद कर लीं। उनका इतने धैर्य-पूर्वक यह कष्ट-सहन देखकर सर कृपाशंकर ने मन-ही-मन उनकी बड़ी प्रशंसा की, पर अपने मित्र का यह कष्ट उनसे देखा नहीं गया। वह दौड़कर अफ़सरों के पास पहुँचे। उन्हें पकड़ने के

लिये दोनो जमादार भी उनके पीछे दौड़े। वे भयत्रस्त हो उठे थे कि इस प्रकार लापरवाही से एक क़ैदी को छोड़ देने के लिये अफ़सर लोग उन्हें न-जाने क्या दंड देंगे। वे अफ़सरों के सामने से सर कृपाशंकर को बल-पूर्वक ले चलने का प्रयत्न करने लगे, पर सर कृपाशंकर उन्हें डाँटकर बोले—"जरा सब्र करो। मुझे जेलर साहब से दो बातें कर लेने दो। मैं भागने के लिये इस जेल में नहीं आया हूँ। मैं देखने आया हूँ कि संसार में ऐसे भी आदमी हैं, जो आदमी को सताने के लिये तनख्वाह पाते हैं।"

जेलर ने डाँटकर कहा—"क्या बकता है?"

"देखिए जनाब, आप भी मनुष्य हैं, और मैं भी मनुष्य हूँ। मैं आपसे मनुष्योचित व्यवहार की आशा रखता हूँ।"

"तू क़ैदी है, और तुझे मेरे साथ बराबरी करने का हक़ नहीं है।" जेलर ने कुर्सी पर बैठे-बैठे कहा।

"आपको ऐसी राय रखने का अधिकार है, पर मैं इसे ग़लत समझता हूँ।"

"हूँ।" जेलर साहब ने दूसरी ओर देखते हुए कहा।

सर कृपाशंकर बोले—"जिस आदमी को आप कोड़े लगवा रहे हैं, वह अकेला नहीं है। इस रियासत में जितने किसान हैं, सब उसके भाई-बंद हैं। उसका कष्ट जब उनके कानों तक पहुँचेगा, तब वे उत्तेजित हो उठेंगे, और उस समय उन्हें दबाने में राज्य की पुलिस और फ़ौज काफ़ी न होगी। और, वे आपके इस जेल की एक-एक ईंट खोदकर फेंक देंगे।"

जेलर साहब एक क़ैदी के मुँह से ऐसी बात सुनने के आदी नहीं थे। कड़ककर बोले—"जबान बंद करो। मैं तुमसे बात नहीं करना चाहता।"

"परंतु जब मैं इस जेल में आ गया हूँ, तब आपको मुझसे बात करनी ही पड़ेगी। मैं नहीं समझता, आप इस्तीफ़ा देकर यहाँ से चले जायँगे।"

"मैं तुमसे बात नहीं करना चाहता।"

"आप हम क़ैदियों के माता, पिता, रक्षक और शिक्षक हैं। क़ैदी क्या है, मन का रोगी। वह अपराध क्यों करता है? इसलिये कि उसके मन में अपराध करने की इच्छा का उदय होता है। आपका यह कर्तव्य है कि आप उसके मन को इतना निर्मल बना दें कि वह कभी अपराध न करे।"

"मैं अपना कर्तव्य जानता हूँ, तुम अपना उपदेश अपने पास रक्खो।"

"आपको उपदेश की जरूरत नहीं है, न सही; पैसे की तो है। आपने अपना व्यवहार न बदला, तो मैं पहला क़ैदी होऊँगा, जो आवाज उठाऊँगा कि मौजूदा जेलर साहब को पेंशन दी जाय, और उनकी जगह नया जेलर रक्खा जाय।"

"बुड्ढा समझकर मैं तरह दे रहा हूँ, और तू गुस्ताखी करता चला जा रहा है!" जेलर साहब ने जमादार को बुलाकर हुक्म दिया—"इस आदमी को वहाँ पिटने के लिये टाँग दो, और जो पिट रहा है, उसे अँधेरी कोठरी में बंद कर दो।"

"हाँ, शौक़ से मुझे ले चलो, पीटो, और संग्रामसिंह को छोड़ो।" सर कृपाशंकर संग्रामसिंह की ओर लपके।

संग्रामसिंह को अभी बेहोशी नहीं आई थी। जेलर साहब का वाक्य उनके कानों में पड़ा था। अँधेरी कोठरी में बंद हो चुकने के कारण वह उसकी परेशानी का अनुभव कर चुके थे। उसका नाम सुनकर वह घबरा उठे। जमादारों ने उनके हाथ-पाँव खोले, और उन्हें उतारा, और सर कृपाशंकर को उनके स्थान पर उसी प्रकार टाँग दिया।

संग्रामसिंह असह्य कष्ट का अनुभव करते हुए धीरे-धीरे अपनी बाँहें नीचे ले आए, और बोले—"स्वामीजी, आपने यह क्या किया? मैं सब कुछ सह सकता हूँ, पर अँधेरी कोठरी में बंद होना मेरे लिये असह्य है। उसमें बंद होना जीवित क़ब्र में बंद होने के समान है।"

उन्होंने अपना धैर्य खो दिया। वह जेलर साहब के पाँव पकड़ने झुके, पर जमादारों ने उन्हें पकड़ लिया। संग्रामसिंह आँखों में जल भरे अत्यंत विनय के स्वर में बोले—"हुज़ूर, बोटी-बोटी कटवा डालिए, मंज़ूर है, पर अँधेरी कोठरी में मुझे बंद न कीजिए। उसमें वक्त काटे नहीं कटता।"

पर जेलर ने संग्रामसिंह की विनय पर कोई ध्यान नहीं दिया। सर कृपाशंकर ने ललकारा—"संग्रामसिंह! हताश मत होओ। शरीर पर सब प्रकार के कष्टों को प्रसन्नता-पूर्वक झेलने ही का नाम तप है।"

"मैं साधु-संन्यासी नहीं हूँ स्वामीजी, क्षत्रिय हूँ। मैं तो सिर्फ़ मारना या मरना जानता हूँ।"

"दूसरों को मारना नहीं, दूसरों के लिये कट मरना ही क्षत्रियत्व है।"

तड़! तड़!! तड़!!! लगातार पाँच-सात कोड़े पड़े, और सर कृपाशंकर अपनी बात भूल गए। सिवा आदर, मान और प्रेम के उन्हें इस संसार से और कोई अप्रिय वस्तु न मिली थी। अब तक उन्हें ऐसा जान पड़ता था, मानो उनकी माता और माता के बाद पत्नी की समस्त कोमल भावनाएँ संसार में व्याप्त हो उठी हैं, और चारो ओर से उन पर स्नेह की वर्षा हो रही है। आज उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो वे सब कोमल भावनाएँ सिमिटकर सिर्फ़ उनके मुट्ठी-भर दिल में समा गई हैं, और वहाँ से भी निकलकर इस मरु-प्रदेश में अदृश्य हो जाना चाहती हैं। सर कृपाशंकर ने अपनी आँखें बंद कर लीं। लोगों को ऐसा जान पड़ा, मानो उनके शरीर से प्राण कूच कर रहा है।

उनका अपराध बहुत गुरुतर था, फिर अभी उन्हें न्यायाधीश के सामने पेश होना था। कोई व्यर्थ की जवाबदेही न आ खड़ी हो, यह सोचकर अफ़सरों ने उन्हें छुड़ा दिया, और एक अलग कोठरी में उन्हें बंद कराके चले गए।

कदाचित् ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जो साहसी और वीर पुरुष का आदर और उससे परिचय प्राप्त करने की इच्छा न करे। संग्रामसिंह पहले

और सर कृपाशंकर दूसरे ऐसे आदमी थे, जिन्हें अपने क़ाबू में लाने में जेल के अधिकारियों का बल-प्रयोग विफल हुआ था। इसलिये इन दोनो साहसी क़ैदियों के प्रति जेल के भीतर के समस्त निवासियों के हृदय में एक असीम आदर का भाव जाग्रत् हो उठा, और अफ़सरों के जाने पर वे सब स्वामीजी कहलानेवाले इस नए क़ैदी का परिचय प्राप्त करने और उससे दो बातें करने के लिये उत्सुक हो उठे। जो क़ैदी मैदान में इधर-उधर काम कर रहे थे, वे और जमादार लोग उनके पास आ डटे, और उनसे तरह-तरह के प्रश्न करने लगे।

सर कृपाशंकर ने सबके प्रश्नों का उत्तर दिया, और उन्हें मानव-जीवन का रहस्य समझाया। एक जमादार ने पूछा—"आपने कहा था, दूसरों को मारना नहीं, दूसरों के लिये कट मरना ही क्षत्रियत्व है?"

"बेशक!"

"सिर पर दुश्मन खड़ा हो, तो क्या उसे न मारे?"

"मैं तो यही कहूँगा कि नहीं।"

"वह घर लूट रहा हो, मा-बहन की इज़्ज़त बिगाड़ रहा हो, तब भी चुप रहे?"

"उसे प्रत्येक अवस्था में प्रेम से समझाना चाहिए। हाँ, जब इज़्ज़त बचने की और कोई सूरत न हो, तो उसका मुक़ाबिला करना चाहिए।"

"नहीं महाराज, नहीं। मैं भी क्षत्रिय हूँ। आप प्रेम से समझाने लगिए, और इतने में दुश्मन आपका गला काट ले, तो? क्षत्रिय का काम है तत्काल वार करना। अब क्षत्रिय रह कहाँ गए?"

"यह सब ठीक है। परंतु क्षत्रिय की शोभा का कारण उसका तत्काल वार करना नहीं, तत्काल वार तो डाकू भी करते हैं। उसकी शोभा साहस के साथ आक्रमण का सामना करने में और अपने कर्तव्य का पालन करते-करते मर जाने में है। सच्चे क्षत्रिय जान-बूझकर किसी को नहीं मारते'

ठीक वैसे ही, जैसे सच्चे किसान हल चलाते समय खेत में जो कीड़े-मकोड़े रहते हैं, उनके मरने-जीने का ध्यान नहीं रखते। उनका उद्देश्य तो जीवों की रक्षा के लिये अन्न उत्पन्न करना है, जीवों को मारना नहीं।"

एक क़ैदी ने कहा—"महाराज, मैं ब्राह्मण हूँ। ब्राह्मण के कर्तव्य क्या हैं?"

"ब्राह्मण समाज का नेता है। उसका कर्तव्य है समाज की भलाई की बात सोचना, और देश-काल के अनुसार धर्म-ग्रंथों तथा आचारों- व्यवहारों में परिवर्तन करते रहना।"

क़ैदियों में एक वैश्य भी थे। वह बोले—"महाराज, वैश्य के भी कर्तव्य बताइए।"

"वैश्य समाज का पेट है, जिस प्रकार पेट भोजन हज़म करके शरीर के सब अंगों में पोषक तत्त्व पहुँचाता है, उसी प्रकार वैश्य धन-संग्रह करे, और जहाँ धन के विना समाज पीड़ित हो, वहाँ उस धन को व्यय कर दे।"

एक मेहतर पास ही खड़ा था। उसने प्रश्न किया—"महाराज, हम शूद्रों का भी कोई धर्म है?"

ब्राह्मण क़ैदी ने उसे डाँटकर कहा—"उधर ही रहो, सिर पर चढ़े आते हो?"

सर कृपाशंकर ने ब्राह्मण देवता की बात का ध्यान न कर कहा—"बेशक! शूद्र तो साक्षात् ईश्वर के स्वरूप हैं। अपनी सेवाओं के कारण वे इस युग के नेता हो रहे हैं। आनेवाले युग में वे सूर्य, चंद्र और तारों के समान गगन में चमकेंगे, और उन्हीं की प्रधानता होगी।"

ब्राह्मण देवता फिर बोले—"महाराज, शूद्र की प्रधानता तो इसी युग में है। देखिए न, सिर पर चढ़े आ रहे हैं। ज़रा भी ध्यान नहीं कि कौन छू जायगा, कौन नहीं।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"पंडितजी, आप अब ब्राह्मण नहीं रह गए,

क्योंकि आपने विचार करना छोड़ दिया। आपको कोई अधिकार एक ऐसे आदमी से घृणा करने का नहीं है, जो अब भी अपने कर्तव्य के पालने में रत है।"

सब क़ैदियों ने कहा—"ब्राह्मण देवता, ज्ञान की बातें हो रही हैं। आप क्या बीच में भेद-भाव लेकर कूद पड़े! यह तो सरकारी जेल है, यहाँ तो ब्राह्मण-शूद्र सब एक साथ बंद किए जाते हैं।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"आदि युग ब्राह्मण-युग था। आरंभ में मनुष्यों की संख्या थोड़ी थी, और प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री उत्पन्न की थी। उस समय मनुष्य को सबसे अधिक आवश्यकता ज्ञान की थी। जो थोड़ा भी सोच सकता और मार्ग सुझा सकता था, वही ब्राह्मण था। जब भोजन की कमी होने लगी, और मनुष्यों की संख्या बढ़ी, तब उनकी रक्षा की उन्हें चिंता हुई। मनुष्यों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया, जिसने इस कार्य का भार लिया, और वह वर्ग क्षत्रिय कहलाया। जब मनुष्यों की संख्या और भी बढ़ी, और प्रकृति-धन यथेष्ट न समझा गया, तब कृत्रिम उपायों से उसकी प्राप्ति की व्यवस्था की गई, और वैश्यों की उत्पत्ति हुई। धीरे-धीरे ब्राह्मण मंदिर, मस्जिद, गिरजे और धर्मशास्त्रों के रूप में प्रकट हुए। क्षत्रियों का सेना, शस्त्रों और राजकीय व्यवस्थाओं में विकास हुआ, और वैश्य रेल, जहाज़, व्यापार की मंडियों तथा नगरों के रूप में हमारे सामने आए। मनुष्य की ये तीनो प्रवृत्तियाँ अब अपनी चरम सीमा को पहुँच गई हैं। अब सिर्फ़ एक कमी रह गई है, वह यह कि मनुष्य मनुष्य को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करे, उसकी सेवा करे। मनुष्य की यही प्रवृत्ति आनेवाले युग में इस संसार को मनुष्यों के रहने योग्य बनाएगी। इस युग में ब्राह्मण का वेद पढ़ना समाज के लिये उतना लाभदायक नहीं रह गया, जितना शूद्र का सड़क बटोरना और बड़े-बड़े नगरों की सफ़ाई करना। वेद-पाठ के बग़ैर काम चल भी सकता है, पर सफ़ाई एक दिन न हो, तो सैकड़ों बीमारियाँ उत्पन्न हो जायँ, और मनुष्य-जाति का नाश

होने लगे। इसलिये इस युग में शूद्र की महत्ता अधिक है। उसे सबसे अधिक आदर मिलना चाहिए। वह इस युग का देवता है।"

पास ही खड़े हुए मेहतर की आँखें एक विचित्र प्रकार के हर्ष से चमक उठीं, और उस छोटे-से जेल के भीतर बंद मनुष्यों में मनुष्यत्व की ओर नवीन दृष्टिकोण से बढ़ने की लालसा जाग्रत् हो उठी।

संध्या होने पर जब सब क़ैदी अपनी-अपनी बारकों में बंद हुए, तब सर कृपाशंकर जिस बारक में बंद थे, उसके सब क़ैदियों से उन्होंने सोने से पहले ईश्वर-प्रार्थना और अपने पूर्व-जीवन का सिंहावलोकन करने के लिये कहा। सब क़ैदी अपने-अपने चबूतरों पर इस प्रकार बैठ गए, मानो क़ब्रों से मुर्दे निकलकर उसके ऊपर बैठ गए हों। बारक के अंदर अँधेरा था। वे एक दूसरे का मुँह नहीं देख सकते थे, पर स्वर और अंधकार की चादरों से ढके शरीरों की भावभंगी से एक दूसरे को पहचान सकते थे। सर कृपाशंकर ने मंद स्वर में प्रार्थना आरंभ की—"हे प्रभो! हम निर्बल मानवों को अपने स्नेह से ढक लो। तुम्हारी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं खड़कता। तुम्हीं हमारे कर्मों के संचालक हो। हममें परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करके तुम अपना मनोरंजन करते हो, और हम पाप-पुण्य का उपहार लेकर तुम्हारे निकट आते हैं। तुम दोनो को समान भाव से ग्रहण करते हो। हमारे सारे कर्मों के तुम्हीं प्रेरक हो, हम उनके लिये लज्जित या गर्वित क्यों हों।"

इस प्रार्थना के बाद सब क़ैदियों को ऐसा मालूम होने लगा, मानो वे कोरे तुच्छ मानव ही नहीं हैं, उनके हृदय में स्वयं परमेश्वर विराजमान हैं। उनके शरीर सीकचों में बंद थे, पर उनके हृदय कल्पना के सहारे सात समुद्र पार पहुँचकर अनंत का साक्षात्कार करने लगे। उन्हें अनुभव हुआ कि वे विश्व के अणु-अणु में समा रहे हैं, और विश्व का अणु-अणु उनमें समाया है। वे अकेले नहीं हैं, ईश्वर उनके साथ है। खिड़कियों से चंद्र-किरणें परकीया नायिका के समान उनके पास दबे पाँवों आती हुई प्रतीत हुई, और

उन्हें अपनी सुध-बुध न रही। अच्छी-बुरी संतान में भेद न रखनेवाली माता के समान निद्रा ने एक-एक करके उनकी आँखों पर अपना मृदुल चुंबन अंकित कर दिया, और उन्हें सुला दिया। अकेले सर कृपाशंकर जगते रहे। उन्हें रह-रहकर मँगरू की याद आती, और वह हजार चेष्टा करने पर भी सो न पाते। मँगरू कहाँ होगा, क्या कर रहा होगा, अकेला गाँव लौट जा सकता है या नहीं, आदि प्रश्न उन्हें हैरान कर रहे थे। उसका भोला मुखड़ा, उसकी सरल बातें, उसकी दुख-सुख की जानकारी, उसका पिता, उसकी माता, सबके विषय में वह सोचने लगे। ओफ़्! इस छोटे बच्चे की कहानी कितनी करुण है। वह इस संसार में है, पर संसार को जैसे उसकी परवा नहीं। उसे कहीं पढ़ने की सुविधा नहीं, उसके लिये खेलने की कोई व्यवस्था नहीं, उसके खाने-पीने का कोई प्रबंध नहीं। पर मज़ा यह कि उसके हृदय में कोई असंतोष नहीं, किसी के प्रति कोई द्वेष नहीं। सर कृपाशंकर का चित्त अत्यंत चंचल हो उठा।

इस समय उनके कान में एक अत्यंत क्षीण स्वर पड़ा—"स्वामीजी!" यह मुखिया संग्रामसिंह की आवाज़ थी। जमादारों से अनुनय-विनय करके वह अपनी काल कोठरी से निकलकर उनसे मिलने आए थे, और सीकचों के बाहर खड़े थे।

सर कृपाशंकर ने कहा—"संग्रामसिंह! तुम्हें नींद नहीं आई?"

"यह नींद आने की जगह है स्वामीजी, और फिर उस काल कोठरी में? ज़रा अपना हाथ इधर कीजिए।"

सर कृपाशंकर सीकचों के पास हो गए, और उन्होंने अपना हाथ उनके बाहर निकाला। संग्रामसिंह ने उनका हाथ पकड़कर कहा—"स्वामीजी, जी में आता है, इसी तरह रात-भर खड़ा रहूँ, पर जमादार न मानेगा। बड़ी मुश्किल से पाँच मिनट के लिये आपसे मिलाने ले आया है। मेरा धीरज छूटा जा रहा था, अब आपको पा गया हूँ, अब सब्र है।"

"संग्रामसिंह, तुमने शायद आज प्रार्थना नहीं की!"

"प्रार्थना पर मेरा विश्वास नहीं रहा स्वामीजी ! यदि सचमुच ईश्वर होता, तो क्या संसार में इतना अन्याय हो सकता था ?"

"संग्रामसिंह, ईश्वर है। उसका हाथ कहाँ किस प्रकार काम कर रहा है, यह हम जान लें, तो सुख-दुख का भेद हमें भूल जाय। इस समय जो हम-तुम एक दूसरे का सहारा बने खड़े हैं, यह ईश्वर की ही कृपा है।"

संग्रामसिंह ने कहा—"स्वामीजी ! आप हमारे गाँव में नाहक़ आए। आप एक खेल खेल रहे हैं, और हमारे लिये यह खेल नहीं, जीवन-मरण का प्रश्न है। इस सुधार से तो यही अच्छा था कि हम ज्यों-के-त्यों बिगड़े ही पड़े रहते, अपने बाल-बच्चों में तो होते।"

"तुम्हारे जीवन-मरण के प्रश्न को मैंने भी जीवन-मरण का प्रश्न बनाया है संग्रामसिंह ! मैं खेल खेलने नहीं आया हूँ।"

"पता नहीं, हमारे बाल-बच्चों पर क्या मुसीबत बीते। मेरा तो सूबा जरूर घर फुँकवा देगा। एक बार भी जो छूट पाता—"

संग्रामसिंह ने दाँत पीसना शुरू किया। जमादार ने कहा—"बस, अब चलो, पाँच के दस मिनट हो गए। कोई शिकायत कर देगा, तो मेरी नौकरी जायगी।"

जैसे कोई बकरा क़साई की छुरी के नीचे जाता है, वैसे ही संग्रामसिंह स्वामीजी को प्रणाम करके अपनी काल कोठरी में चले गए, और साँप-बिच्छुओं के उस कल्पित बिस्तर पर सोने का प्रयत्न करने लगे।

---

[१२]

उधर सर कृपाशंकर गिरफ्तार हुए, और इधर चौबासा तथा उसके आस-पास के गाँवों में सूबा की ओर से डुग्गी पिटाई गई कि यदि किसी स्थान पर तीन आदमी से ज्यादा एकत्र देखे गए, तो वे गिरफ्तार कर लिए जायँगे। सूबा की इस आज्ञा से किसानों में बड़ा असंतोष फैला। इन दिनों उनमें से अधिकांश केवल ईश-प्रार्थना को पानी के घूँट के समान गले के नीचे उतारकर जी रहे थे। संध्या की सम्मिलित प्रार्थना के समय जब वे एक दूसरे के कष्टों को देखते थे, और एक दूसरे के लिये प्रार्थना करते थे, तब उन्हें बड़ी शांति मिलती थी। उन्हें जान पड़ा, जैसे उनका यह काल्पनिक सुख भी सूबा छीनना चाहता है। किसानों को भूख का कष्ट भूल गया, और वे आपस में जहाँ-तहाँ सूबा की इस अन्याय-पूर्ण आज्ञा की चर्चा करने लगे।

दिन डूबते-डूबते जब दिन की चिलचिलाती धूप में जलकर बुझे हुए कंडे के समान थकान से लस्त, धूलि-धूसरित मँगरू वापस आया, और उसने सर कृपाशंकर की गिरफ्तारी की बात कही, तो किसानों की उत्तेजना अपनी सीमा को पार कर गई। ऐसे साधु पुरुष को रियासत जेल में बंद कर देगी, इसकी उन्हें आशा न थी। सर्वस्व-हीन हो जाने पर भी इस डबरे के किसान हृदय से हीन नहीं हुए थे। यह चर्चा दावानल के समान फैली, और जिसने जहाँ सुना, वहीं से वह अपना काम छोड़कर रुक्मिणी के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करने दौड़ा।

उस प्रार्थनावाले मैदान में आज सबसे अधिक भीड़ जमा हो गई। यह खबर जब सूबा के पास पहुँची, तब भीड़ को तितर-बितर कर देने के

लिये उसने क़रीब सौ घुड़सवार और कुछ पैदल सिपाहियों का एक जत्था भेजा। इन सिपाहियों ने आकर उस मैदान पर अपनी मोर्चेबंदी की, और अफ़सर की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे।

पुरोहित शिवदत्त आज सबसे पीछे पहुँचे। एक लोटा पानी और आचमनी लेकर उसी के सहारे रात काटने के उद्देश्य से वह बाहरवाले मंदिर में सोने चले गए थे। वहाँ उन्होंने जब अपने प्रतिद्वंद्वी की गिरफ्तारी की चर्चा सुनी, तो वह अत्यंत हताश हो गए। इस रियासत में उनके जोड़ का उनकी सूध में यही एक विद्वान् आया था, जो शास्त्रार्थ में उनके सामने टिक सकता था। पुरोहितजी ने मन-ही-मन अनुभव किया कि उनका शास्त्रार्थ का मजा जाता रहा। वह मंदिर में पड़े न रहे। लोटा और आचमनी लेकर रुक्मिणी के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिये, उसे खोजते-खोजते, उस मैदान में जा पहुँचे, और उस आसन पर विराजमान हुए, जिस पर सर कृपाशंकर बैठा करते थे। आचमनी द्वारा लोटे से जल निकालकर उसे मुँह में डालते हुए बोले—"बेटी, कोई चिंता मत करो। जब तक मेरा प्रतिद्वंद्वी जेल से छूटकर नहीं आता, तुम्हारा पिता मैं हूँ। कहो, अब क्या होना चाहिए ?"

रुक्मिणी ने कहा—"पिताजी, आप ही लोगों का भरोसा है। इसी बल पर तो हम इस गाँव में आकर बसे हैं।"

'पिता' शब्द सुनकर पुरोहित शिवदत्त गद्गद हो गए। उनके कोई संतान नहीं थी, स्त्री का वर्षों हुए स्वर्गवास हो गया था। वह स्वयं ही भिक्षा माँगकर लाते, और बनाते-खाते थे। कभी-कभी उन्हें पीसना भी पड़ता था। वह इस गाँव में एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे थे। ओह! उन्हें कोई अपना कहनेवाला न था। आज जैसे उनके हृदय का वर्षों का संचित स्वजन-भाव बह निकला। उन्हें जान पड़ा, जैसे जितने लोग जमा हैं, सब उनके बेटे हैं, और रुक्मिणी उनकी सबसे प्यारी संतान है। आचमनी से मुँह में पानी का दूसरा घूँट डालते हुए उन्होंने कहा—"हम ईश्वर-प्रार्थना

के लिये जमा हैं। कोई अपराध नहीं कर रहे हैं। हमें किसी का भय नहीं है। रुक्मिणी! भजन आरंभ करो।"

सिपाहियों के सरदार ने गरजकर सूबा का हुक्म सुनाया, और लोगों को तितर-बितर हो जाने की आज्ञा दी। पर पुरोहित शिवदत्त ने कहा—"भजन आरंभ करो। ये राक्षस हैं, हमारी प्रार्थना में विघ्न डालने आए हैं। पर ईश्वर हमारी रक्षा करेगा।"

सरदार ने एक हवाई फ़ायर की आज्ञा दी। सिपाहियों ने एक साथ बंदूकें उठाईं, और एक धड़ाका हुआ। पुरोहित शिवदत्त ने दृढ़ भाव से आकाश की ओर देखा। उन्हें जान पड़ा, जैसे इस धड़ाके के साथ ही आकाश का हृदय फट गया है, और उसका अमृत उन पर बरस जाने को उद्यत है। उन्होंने कहा—"आत्मा अमर है, शरीर नश्वर। मेरे बच्चो, तुम अपने कर्म में निरत होओ। फल की परवा मत करो।"

गोलियों की वर्षा होने लगी। कितने ही पुरुष, स्त्री और बालक कराह उठे, पर कोई अपने स्थान से टस से मस न हुआ। उनके कराह के स्वर रुक्मिणी के भजन की तान में मिल गए, और समस्त ग्रामवासी एक अभूतपूर्व संगीत में निमग्न हो गए।

सरदार ने अपनी शक्ति की ऐसी उपेक्षा देखकर उस भीड़ के ऊपर घोड़े दौड़ाने की सवारों को आज्ञा दी। बात-की-बात में सवारों ने चने के खेत के समान उस जन-पूर्ण मैदान को रौंद डाला, और आगे बढ़कर गाँव में आग लगाना शुरू कर दिया। प्रार्थना समाप्त होने तक सब उस मैदान में डटे बैठे रहे। उसके बाद जिसे जिधर मौक़ा मिला, वह गिरता-पड़ता उधर भागा। संग्रामसिंह की तीनों स्त्रियाँ, रुक्मिणी और मँगरू पुरोहित शिवदत्त के साथ एक सुरक्षित स्थान खोजकर वहाँ घायलों को ले जाने लगे। उनकी देखादेखी और लोग भी इस काम में लग गए। यह स्थान बस्ती के उत्तर एक डीह की आड़ में था, जिसके नीचे वह शुष्क नदी अपने गत वैभव का स्वप्न-सा देखती पड़ी थी। यहाँ से किसानों ने अपने-

अपने घरों को प्रचंड लपटों से आवृत देखा। वे उन लपटों में दीपक-शिखा पर पतंगों की भाँति जल मरने के लिये चंचल हो उठे, पर रुक्मिणी और पुरोहित शिवदत्त ने उन्हें समझाया, और ईश्वरीय न्याय पर भरोसा रखने के लिये कहा। जो ला सके, वे अपने ढोर, खाने-पीने के बर्तन और कपड़े-लत्ते भी लाए। घायलों की मरहम-पट्टी का कोई प्रबंध न था। उन्होंने ईश्वर के भरोसे रात काटी।

इस स्थान पर सबसे अधिक कष्ट पानी का था। रात के अँधेरे में कुछ लोग छिपकर गाँव के कुएँ से पानी ले आए थे, पर अब दिन को उन्हें कुएँ के पास जाने की हिम्मत न पड़ी। उसकी जगत पर सूबा के सिपाही बैठे हुए दिखाई पड़े, और उसके पास ही उनके खेमे गड़ गए। अब क्या हो? भूख तो सही जा सकती है, पर प्यास कैसे सही जाय? गाँववालों ने बैठकर मंत्रणा की। पुरोहित शिवदत्त ने कहा—"जब प्राण ही देना है, तब इस निर्जन स्थान में प्राण देने का कोई अर्थ न होगा। बेहतर है, हम सब नागल चलकर राजमहल के सामने प्राण-त्याग करें। हमारे राजा को मालूम तो होगा कि उसकी प्रजा पर क्या बीत रही है।"

पुरोहित शिवदत्त की यह राय सबों ने पसंद की। यह समाचार आस-पास के गाँवों में भी पहुँचाया गया। सभी निरुपाय और हताश हो रहे थे। संभव है, राजा का हृदय पसीज जाय, और वह अपने कर्मचारियों का अत्याचार रोके। यह सोचकर सबने रात होते ही नागल कूच करने का निश्चय कर लिया।

रुक्मिणी ने एक बैल-गाड़ी भेजकर पास के बाजार से कुछ खाद्य सामग्री मँगवाई, और डूह के नीचे, उसकी कंदराओं की आड़ में, उसने घायलों को लिटाने की व्यवस्था की। नदी के पार तीन मील पर एक गाँव था, जिसमें एक अगाध जल-पूर्ण कुआँ था। जो कुछ बर्तन उपलब्ध थे, एक बैल-गाड़ी में रखवाकर उसने उस कुएँ की ओर रवाना किया। मनुष्यों का गला तो सींचा जा सकता था, पर ढोरों के लिये क्या किया जाय? अपने आस-

पास पीड़ा और निराशा का यह तांडव देखकर वह व्याकुल हो उठी, और नदी की रेत में—जहाँ ढोर इधर-उधर से उड़कर आए सूखे तृण और लकड़ियाँ चबा रहे थे—आ बैठी, तथा आँखें बंद करके रोने लगी। उसका हृदय अंतर्वेदना से फटा जा रहा था। उसका मस्तिष्क सोचना छोड़ चुका था। उस नव-प्रभात में उसकी आँखों से निकले बड़े-बड़े मोतियों से सम-वेदना प्रकट करने के लिये न तो कोई कहीं हरित तृण था, और न कोई कहीं ओस का कण। ओह! यदि उसकी आँखों में इतना जल होता कि यह नदी भर जाती! या उसका कष्ट देखकर इस नदी का ही हृदय पसीज जाता! पर जब मनुष्य, जिसे भगवान् ने सोचने-समझने की शक्ति दी है, इतना निर्दय हो सकता है, तब ये तो जड़ पदार्थ हैं। वह अपने आप रोने लगी।

उसी समय ठाकुर संग्रामसिंह की तीनो स्त्रियाँ वहाँ आईं। लड़के को उन्होंने नदी की रेत में बैठाल दिया, और रुक्मिणी से कहने लगीं—"रोने से काम न चलेगा। जो कुछ भी करना हो, आज ही कल में कर डालना चाहिए। हम लोग क्यों न रातोरात चलकर सूबा का घर फूँक दें, और उसके बच्चों का गला घोट दें?"

उनके हृदयों में प्रतिहिंसा, घोर प्रतिहिंसा की आग धधक उठी थी। वे अपने पति पर किए गए अत्याचार का बदला लेने के लिये कुछ भी करने को आमादा थीं। उनके हृदयों में न कोई आशा रह गई थी, और न उनकी आँखों में आँसू शेष थे।

बच्चा ज़ोर से रो उठा। मँझली स्त्री ने उसे गोद में लेकर अपने स्तन से उसका मुँह लगाया, पर वहाँ दूध न था! बेचारी को इधर कई दिन से आधा पेट भी भोजन नहीं मिला था, दूध कहाँ से उत्पन्न होता! गाँव में यह अनुभव नया नहीं था। इस प्रकार मा के स्तन में दूध न रह जाने से कितने ही बच्चे काल के गाल में चले गए थे। संग्रामसिंह की शेष दो पत्नियों ने दक्षिण की ओर हाथ झटककर और अपनी उँगलियाँ चटकाकर

कहा—"हे भैरव ! सूबा का सत्यानास हो ! हे कालिका ! तुम उसके बच्चों का खून पियो।"

रुक्मिणी ने खड़े होकर सर्प की केंचुल के समान उस नदी को देखा। अभी वहाँ ठंडक थी, पर उसे मालूम था कि जैसे ही सूर्य ऊपर चढ़ेगा, उस नदी से लपटें उठने लगेंगी, और वहाँ रहना मुश्किल हो जायगा। उसे अपने पिता का ध्यान आया। पता नहीं, उनकी क्या दशा होगी। फिर उसे सेठ लक्ष्मीचंद का ध्यान आया। जिधर सेठजी हवाई जहाज पर उड़कर गए थे, उधर मुँह करके वह मन-ही-मन कहने लगी—सेठजी, तुमने कहा था, मैं नदी बनकर, नहर बनकर और मेंह बनकर आऊँगा, और तुम्हें शांति प्रदान करता रहूँगा। तुम्हारा यह जल-कष्ट मुझसे देखा न जायगा। क्षण-भर को उसे सब कुछ भूल गया, और उसके सामने सेठ लक्ष्मीचंद की आकृति आ गई। उसने मुस्किराकर कहा—सेठजी, अपना वादा भूल गए क्या, इससे अधिक जल-कष्ट अब कब होगा।

संग्रामसिंह की स्त्रियों को जान पड़ा, जैसे रुक्मिणी पागल हो गई है। वे आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगीं। उसी समय एक अघटित घटना घटी। नदी का तल उन्हें भीगा-सा नजर आने लगा, और पानी की एक पतली धार अपनी ओर धीरे-धीरे बढ़ती हुई प्रतीत हुई।

जिधर से पानी की धार आ रही थी, चारो स्त्रियाँ उधर ही बढ़ीं। क्रमशः उन्हें पानी बढ़ता हुआ प्रतीत हुआ। ज्यों-ज्यों पानी बढ़ा, वे किनारे की तरफ़ बढ़ती गईं। थोड़ी ही देर में वहाँ घुटने-घुटने पानी हो गया।

रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे किसी समय गज की टेर विष्णु ने समय पर सुनी थी, द्रौपदी की लाज कृष्ण ने समय पर पहुँचकर रक्खी थी, वैसे ही सेठ लक्ष्मीचंद ने उसकी आत्मा की पुकार सुन ली है, और वह उसके कष्ट से पानी-पानी होकर उसके पास दौड़े आ रहे हैं। उसके मन में आया कि कह दे, सेठजी ! सचमुच तुम ठीक रास्ते पर हो। बग़ैर आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों को काम में लाए भारत कृषि में वह स्थान प्राप्त नहीं कर

सकता, जो उसे अब तक विश्व में प्राप्त रहा है। पर इस भाव को उसने अपने पिता की स्मृति के नीचे दबा दिया। इस संबंध में पिता के तर्क सुन बग़ैर उसे कोई राय न क़ायम करनी चाहिए। पर लक्ष्मीचंद को धन्यवाद दिए बिना वह न रह सकी।' उसकी आँखों से जल की बूँदें टप-टप करके उस मटमैले, पर क्रमशः स्वच्छ होते हुए जल में जा पड़ीं, और उसमें विलीन हो गईं। रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे उसकी आँखों का जल इस नदी के पानी में छिप गया है, वैसे ही मानो सेठ लक्ष्मीचंद बाँहें फैलाए नदी के पार से चले आ रहे हैं, और वह उनमें आबद्ध होने को, उनमें छिप जाने को, चंचल हो उठी है। दूसरे ही क्षण उसे अपने पिता का ध्यान आया। उसने कल्पना की, मानो वह उसके इस सुखद संयोग से अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिये जिन सीकचों में बंद हैं, एक बार उन्हें तोड़कर बाहर निकल आना चाहते हैं। ओह ! पिता उसे कितना प्यार करते हैं, और वह कितनी स्वार्थी है कि उन्हें छोड़कर सेठजी की बाँहों में आबद्ध हो जाने के लिये चली जा रही है। उसने इस कल्पित सुख को भी अपने हृदय में स्थान न देना चाहा, और किंकर्तव्य-विमूढ़-सी उस बढ़ती हुई जल-धार को देखती हुई न-जाने क्या-क्या घंटों खड़ी बिसूरती रही।

एकाएक गाँववालों के कोलाहल ने उसे चौंका दिया। भूखे-प्यासे होने पर भी वे उस नदी के जल में कल्लोल करने लगे। लड़के-लड़कियाँ एक दूसरे पर पानी उलीचने और कीचड़ में लोटने लगीं। कितने ही लोग अपने ढोरों को नदी में लाकर नहलाने लगे।

नदी में जिस प्रकार पानी का संचार हुआ था, उसी प्रकार उनके हृदयों में आशा का संचार हुआ, और उनमें फिर नव-जीवन दिखाई पड़ने लगा। स्वामीजी के प्रति उनकी श्रद्धा और भी बढ़ी, और पानी को उन्होंने रुक्मिणी की तपस्या का फल समझा। उस दिन पुरोहित शिवदत्त ने भी खूब मल-मलकर स्नान किया, और वेद की उन ऋचाओं को गाना आरंभ किया, जिन्हें पढ़कर प्राचीन ऋषि लोग अपने कमंडलु में जल उत्पन्न किया

करते थे। नदी में जल लाने का सारा श्रेय वह स्वयं ही लेना चाहते थे, और उनका विरोध करनेवाला भी कोई न था।

तीसरे पहर तक कुछ खाद्य सामग्री भी आ गई। उससे लोगों ने अपनी क्षुधा मिटाई, और घायलों, वृद्धों तथा बच्चों का प्रबंध करके वे नागल जाने की तैयारी करने लगे। जब दिन डूब गया, और उस दिन के बढ़ते हुए जल में तारों ने बहुत दिनों बाद अपना मुखड़ा देखा, और भीगी मिट्टी की महक ने दिग्दिगंत में वसंत की-सी मादकता भर दी, तब ग्रामवासी पैदल और बैल-गाड़ियों पर भजन गाते हुए नागल के लिये रवाना हुए। आस-पास के गाँवों से भी इस प्रकार बैल-गाड़ियाँ और पैदल लोग निकले। वह उन गाँवों के इतिहास में एक अभूतपूर्व रजनी थी, और एक विचित्र प्रकार के उत्साह से उस जवार के किसानों के हृदय तरंगित हो उठे थे। उनके हाथ में कोई हथियार न था, पर तो भी वे अपने राजा से युद्ध करने निकले थे। उनका विश्वास था कि वे उसे अपने प्रेम से जीत लेंगे, और वह उनकी बात सुनेगा, तथा उनकी इच्छाओं की साकार प्रतिमा बन जायगा।

चौबासा में सूबा का निर्दयता-पूर्वक व्यवहार वे देख चुके थे, इसलिये नागल सिर्फ़ वे ही लोग गए, जो स्वस्थ और साहसी थे। पता नहीं, कब कैसी आवश्यकता आ पड़े। रातोरात वे नागल चले गए, और सबेरे जो नागल-निवासी जगे, उन्होंने राजमहल के सामने सहस्रों किसान पुरुषों और स्त्रियों को जमा होते देखा। इसका पता सूबा को भी चला, और उसने वृद्ध दीवान के पास तार भेजा कि इधर के किसानों ने बग़ावत कर दी है, और वे नागल में लूट-पाट करने गए हैं। इस तार से दीवान साहब ने फ़ौज को तैयार रहने का ऑर्डर दे दिया था, और राजमहल के सामने सवार और पैदल सैनिकों का मज़बूत पहरा बैठा दिया था। राजमंदिर से लेकर राज-महल तक के मार्ग में एक किनारे से क़तार-की-क़तार बैल-गाड़ियाँ खड़ी दिखाई पड़ीं, और उनमें जो बैल जुते थे, वे उस तालाब पर घूमते-फिरते नज़र आने लगे, जिसमें गिरफ़्तार होने से पूर्व सर कृपाशंकर ने स्नान किया

था। बारी-बारी से किसानों के जत्थों ने भी इसी तालाब पर आकर स्नान किया, और उनके कपड़े पेड़ों की डालों से बँधे हुए सूखते नज़र आने लगे। नागल की सड़कों और राजमहल के सामने ख़ासा मेला-सा लग गया। नागल-राज्य में किसानों का ऐसा जमाव कभी नहीं हुआ था। वहाँ के निवासी बलवे की आशंका से भय-त्रस्त हो उठे, और दूकानदारों को अपनी दूकानें खोलने का साहस न हुआ।

सूर्योदय होने के साथ ही राजमहल का फाटक खुला, और वृद्ध राजमाता अपनी सेविकाओं के साथ देव-पूजन के लिये निकलीं। उन्हें देखते ही किसानों के समूह ने एक स्वर से कहा—"राजमाता की जय! दुहाई राज-माता की!" इस गगन-भेदी स्वर से सारा राजमहल गूँज उठा। राजा साहब अपने पलँग पर चौंककर बैठ गए, और आँखें मलने लगे, तथा नागल-निवासियों के दिल दहल गए। यह स्वर जेल की चहारदीवारियों को पार करके सर कृपाशंकर और मुखिया संग्रामसिंह के भी कान में पड़ा, और उन्हें विश्वास हो गया कि उनका कष्ट-सहन व्यर्थ नहीं गया।

जो किसान-स्त्रियाँ उनके पास थीं, उनसे राजमाता ने क्षीण स्वर में कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों जमा हुए हो?"

"राजा साहब से अपना दुःख कहने के लिये।"

"तुम्हें क्या दुःख है?"

"आप राजमाता हैं। आप हम सबकी माता हैं। क्या हमें देखकर आप यह नहीं जान सकतीं कि हमें क्या दुःख है। एक दुःख हो, तो बतावें।"

"अच्छा, मैं तुम्हारे लिये ईश्वर से प्रार्थना करूँगी। मुझे भगवान् के मंदिर में जाने दो।"

एक बार फिर राजमाता की जय का गगन-भेदी नारा लगा, और किसानों ने राजमाता के जाने के लिये मार्ग बना लिया। राजमाता के जाने से जो मार्ग बना था, उस पर दीवान ने कुछ घुड़सवार दौड़ाने की चेष्टा

की, पर किसानों ने मार्ग को फिर ढक लिया, और घोड़ों का बिना उन्हें कुचले आगे बढ़ना असंभव हो गया। दीवान को निश्चय हो गया कि ये बाग़ी हैं, और दरबार के बाहर निकलने पर उपद्रव खड़ा करेंगे। उनके मन में आया कि वह गोली चलाकर उन्हें तितर-बितर कर दें, और मैदान साफ़ कर दें, पर राजमाता के वापस लौट आने तक उन्होंने सब्र से काम लेना ही उचित समझा। मार्ग और मंदिर में राजमाता ने सुना कि ये किसान बग़ावत कर चुके हैं, और नागल में उत्पात करने आए हैं, पर जिन कानों से उन्होंने अपना जय-जयकार सुना था, और जिन आँखों से उन्होंने किसानों को श्रद्धा-पूर्वक मार्ग देते हुए देखा था, उनके सही-साबुत होते हुए उन्हें इन बातों पर विश्वास न हुआ। सदा की भाँति स्वस्थ चित्त से पूजन करने के बाद जब वह वापस लौटीं, तब उन्होंने किसानों को एक विचित्र संगीत में तन्मय पाया। उनके मध्य में रुक्मिणी सितार लिए बैठी थी। सितार के स्वर में वह जो पद कहती थी, उसी को सब किसान और स्त्रियाँ एक साथ मिलकर दुहराती थीं। राजमाता ने उनकी इस तन्मयता को भंग करना मुनासिब न समझा। जब यह स्वर्गीय संगीत समाप्त हुआ, तब वह उस भीड़ के बीच से आगे बढ़ीं। एक बार फिर राजमाता की जय हुई, और उनके लिये इस प्रकार मार्ग बन गया, मानो उन सब किसानों ने इस प्रकार मार्ग बनाने और बिगाड़ने का वर्षों अभ्यास किया हो। असल बात यह थी कि उन सबके हृदयों में एक विचार, एक भावना लहर मार रही थी, और सब-के-सब उसी एक भावना से संचालित हो रहे थे। वे अपना पृथक् व्यक्तित्व खो चुके थे। सब व्यक्तियों का एक समूह बन गया था, और वह एक व्यक्ति की भाँति काम करता था।

जब राजमाता भीड़ को पार करके राजमहल के फाटक के पास आ गईं, तब दीवान साहब ने चिल्लाकर कहा—"तुम लोग यहाँ से चुपचाप चले जाओ, और जो कुछ कहना हो, एक आवेदन-पत्र के रूप में लिखकर हमारे पास भेजो। यदि पाँच मिनट के अंदर तुमने यह स्थान खाली न कर दिया,

तो मैं मजबूर होकर सैनिकों को गोली चलाने और तुम्हें बल-पूर्वक तितर-बितर करने का हुक्म दूँगा।"

इसके उत्तर में रुक्मिणी ने खड़े होकर कहा—"हम अपने राजा के कान तक अपनी कष्ट-कथा पहुँचाने आए हैं। हम दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं। राजा ही इसका निवारण कर सकता है। हम सूबा के अत्याचारों से त्रस्त हैं। राजा ही उसे संवरण कर सकता है। हमारे शुभचिंतक बेकार जेल में बंद किए गए हैं। राजा को क्या इसका पता है। अब हम अधिक जुल्म नहीं सह सकते। हम यहाँ से तब तक नहीं हटेंगे, जब तक राजा से हमें यह आश्वासन न मिल जायगा कि वह हमारी माँगों पर विचार करेंगे।"

रुक्मिणी के इन वाक्यों को उस सारे समूह ने एक स्वर से दुहराया, और राजमाता को संपूर्ण राजमहल नींव से हिलता-सा नजर आया।

दीवान साहब ने सैनिकों से कहा—"फ़ायर करो।"

राजमाता ने चिल्लाकर कहा—"ठहरो।"

सैनिकों ने अपनी बंदूकें फिर साधारण स्थिति में कर लीं।

किसानों ने फिर चिल्लाकर कहा—"राजमाता की जय!"

दीवान साहब ने राजमाता से कहा—"आपको राजकाज में इस प्रकार दख़ल देने की जरूरत नहीं है।"

राजमाता ने कहा—"ठीक है; पर इतने आदमियों के प्राण तुम किसके हुक्म से लेने जा रहे हो?"

दीवान ने राजमाता को वह आज्ञा-पत्र दिखलाया, जो उन्होंने क़रीब एक घंटा पहले दरबार से प्राप्त किया था।

उसे देखकर राजमाता को अत्यंत कष्ट पहुँचा। वह अपनी सेविकाओं-समेत किसानों के दल में शरीक हो गईं, और बोलीं—"अच्छी बात है। अब आप गोली चलाने का हुक्म दीजिए।"

किसानों के समूह ने फिर एक बार राजमाता का जय-जयकार किया।

ऐसी भी परिस्थिति आ सकती है, यह दीवान साहब ने न सोचा था। दरबार अपनी माता का कितना आदर करते हैं, वह यह बात जानते थे। वह दौड़े-दौड़े उनके पास गए, और उनसे सारी कथा कह सुनाई। वह अपनी माता की एकमात्र संतान थे, और मा के अगाध प्रेम का उन्हें परिचय था। उन्हें इस दलील पर विश्वास न हुआ कि राजमाता ने ही किसानों को उभारा है। वह गंभीर हो गए। राजकाज को पूरा-पूरा नौकरों के भरोसे छोड़ देने की अपनी भूल उन्हें महसूस हुई। उन्होंने दीवान साहब से कहा—"फ़ौज हटा लीजिए।"

"और अगर उन्होंने सारे राजमहल और नगर को लूट लिया, तो ?"

"तो यह राजमहल और नगर सब उन्हीं के पसीने की कमाई का फल है। इस राज्य की पत्ती-पत्ती उन्हीं के रक्त से सींची गई है। मेरे सारे ठाट-बाट के वे ही बनानेवाले हैं। यदि वे इसे नष्ट करने पर तुल गए हैं, तो शौक़ से करें। उन्हें इसका भी पूरा अधिकार है।"

"आपकी बात मेरी समझ में नहीं आई।"

"मैं राजा हूँ। मैं जो हुक्म देता हूँ, वह करो। फ़ौज हटा दो, और राजमाता से कहो, महल के अंदर आवें।"

"और आपका पहला हुक्म ?"

"देखूँ।"

दीवान साहब ने राजा साहब के हाथ में उनका पहला आज्ञा-पत्र रख दिया।

"इस पर मैंने अंधे होकर हस्ताक्षर किए थे।" कहते हुए राजा साहब ने उसे टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

पराजित योद्धा के समान हत-बुद्धि और गत-वैभव होकर दीवान साहब महल के बाहर निकले। सैनिकों को उन्होंने कूच का ऑर्डर दिया,

और सारे पहरेदार हटा लिए। राजमाता से कहा—"अब आप कृपा करके महल में पधारें।"

"और इन किसानों का क्या होगा ?"

"राजा साहब स्वयं इनसे बातें करेंगे।"

राजमाता महल के अंदर चली गईं। उनके जाने के बाद ही राजा साहब का एक अंग-रक्षक बाहर निकला, और उसने बिगुल बजाकर ज़ोर से कहा—"आप सबसे एक साथ बातें करना दरबार के लिये संभव नहीं है। पर यदि आप अपने एक या दो प्रतिनिधि महल के अंदर भेजें, तो दरबार उनसे बातें करने के लिये तैयार हैं।"

सर्व-सम्मति से पुरोहित शिवदत्त और रुक्मिणी किसानों की ओर से बातें करने के लिये महल के अंदर भेजे गए।

राजा साहब ने अभी मुँह-हाथ तक न धोया था। किसानों के विद्रोह-पूर्ण गान और नारों से वह उत्तेजित हो उठे थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि बात क्या है। उन्होंने गोली चलाकर उन उपद्रवी किसानों को तितर-बितर करने की आज्ञा दे दी थी। परंतु जब चिक की आड़ से राजमहल के नीचे उन्होंने राजमाता का समुचित सम्मान करते देखा, तब उन्हें निश्चय हो गया कि इनका उद्दंड भाव राजवंश के प्रति नहीं है। इन्हें वास्तव में कोई ऐसा कष्ट है, जिसकी सुनवाई नहीं हुई है। जब वह विलायत में थे, और राजगद्दी पर नहीं बैठे थे, तब उन्होंने सोचा था कि वह प्रजा की एक कौंसिल बनाएँगे, और उसकी सलाह से राज्य करेंगे। परंतु गद्दी पर बैठने के बाद उन्हें यह सुझाया गया कि यह हिंदोस्तान है, यहाँ कौंसिल आदि नहीं चल सकती। यहाँ डंडे के ज़ोर से ही शासन हो सकता है। तब वह चुप हो रहे, और राजकाज की ओर से सर्वथा उदासीन हो गए। आज उन्हें एकाएक अनुभव हुआ कि उन्होंने कर्मचारियों के हाथ में अपनी असहाय प्रजा को छोड़कर बड़ी भूल की है। वह इसी चिंता में लीन थे कि रुक्मिणी और शिवदत्त उनके सामने लाए गए।

वह अपने निजी कमरे में, एक बढ़िया गद्दीदार कुर्सी पर, बैठे हुए थे। सामने छोटी-सी मेज़ थी, और उसके चारो ओर वैसी ही तीन-चार कुर्सियाँ और पड़ी थीं। राजा साहब ने खड़े होकर उनका अभिवादन किया, और उन्हें बैठाकर स्वयं भी बैठ गए।

राजगद्दी पर बैठने के बाद यह प्रथम अवसर था, जब वह अपनी प्रजा का दुख-सुख उसी के मुख से सुनने के लिये तैयार हुए थे। पुरोहित शिवदत्त ने संस्कृत के कई श्लोक पढ़ने के बाद उन्हें आशीर्वाद दिया, और उसके बाद अकाल तथा सूबा के अत्याचारों की कथा कह सुनाई। राजा साहब ने कहा—"इतना बड़ा मजमा ले आने से पहले आप एक बार मुझसे अकेले क्यों नहीं मिले?"

"अकेले मिलने आता, तो जेलखाने में बंद कर दिया जाता। इस लड़की का बाप, मेरा प्रतिद्वंद्वी, अकेले आया था, पर आपसे मिलने नहीं पाया, और जेल में ठूँस दिया गया।"

रुक्मिणी ने कहा—"मैं चाहती हूँ, उन पर खुली अदालत में मुक़द्दमा चलाया जाय और उनका क़सूर प्रमाणित किया जाय।"

"बिलकुल वैसा ही होगा, जैसा आप लोग कहेंगे। यदि मैं प्रजा को सुख नहीं पहुँचा सका, तो इस बात की प्रतीक्षा न करूँगा कि वह आकर मुझे गद्दी से उतारे, मैं स्वयं इस पद का त्याग कर दूँगा। मुझे दुःख है कि मैंने अपने कर्मचारियों का इतना अधिक विश्वास किया!"

"हमें आपकी न्याय-प्रियता पर पूरा विश्वास था। मेरे पिताजी का कहना था कि राजा के कान तक हमारा कष्ट पहुँचा, तो हो नहीं सकता कि वह उस पर विचार न करें। इसी विश्वास से प्रेरित होकर वह आपसे मिलने आए थे।"

इस प्रकार तीनो में बहुत-सी बातें हुईं। अंत में रुक्मिणी ने अपनी

जेब से निकालकर राजा साहब के सामने वे प्रस्ताव रक्खे, जिन्हें लेकर सर कृपाशंकर उनसे मिलने आए थे। राजा साहब ने उन प्रस्तावों को ध्यान से पढ़ा, और कहा—"आप लोग शांति-पूर्वक वापस लौट जायँ। मैं स्वयं दीवान साहब के साथ चौबासा में आकर इस मामले की जाँच करूँगा, और उसके बाद आप सबकी राय से तय करूँगा कि क्या होना चाहिए। आपके स्वामीजी से मैं आज ही जेल में मिलूँगा, और उन्हें भी साथ लाऊँगा।"

रुक्मिणी मोटे सूत की साड़ी पहने हुए थी, और उसके शरीर पर कोई आभूषण भी न था, तथापि उसके सौंदर्य और बोलचाल का राजा साहब पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह उसकी किसी भी बात की उपेक्षा नहीं कर सके। उनका अभी विवाह नहीं हुआ था। कई जगह विवाह की बातचीत चल रही थी। उनके मन में आया कि क्या वे लड़कियाँ राज-कन्याएँ होते हुए भी इतनी सुंदर और शिष्ट होंगी। रुक्मिणी के बारे में बहुत कुछ उनके मन में जानने की इच्छा हुई, पर उन्होंने उस समय उप-स्थित समस्याओं से बाहर बातचीत करना मुनासिब न समझा। उन्होंने केवल अपना वह सौजन्य-पूर्ण, शिष्ट और कोमल भाव प्रकट किया, जो श्रेष्ठ लोग स्त्रियों के प्रति प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

दोनो को उन्होंने आदर-पूर्वक बिदा किया। बाहर आकर रुक्मिणी ने कहा—"ईश्वर को धन्यवाद है कि राजा साहब ने हम सबकी प्रार्थना सुन ली। हमारे दुःख से वह वास्तव में दुखी हैं, और शीघ्र ही वह हमारा दुःख दूर करने का प्रयत्न करेंगे।"

किसान स्त्री-पुरुष राजमहल के सामने इस आनंद-समाचार से नाच-से उठे। उन्होंने अपने ऐसे उदार राजा का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। यह बात दीवान साहब ने राजमहल के अंदर जाकर राजा साहब से कही। राजा साहब ने तत्काल छज्जे पर आकर किसानों को दर्शन दिया। जय-जयकार से आकाश गूँज उठा, और राजा साहब ने दोनो हाथ जोड़कर

और मस्तक झुकाकर अपनी प्रजा से इस प्रेम को ग्रहण किया। अब किसान संतुष्ट थे। इसके बाद उन्होंने तत्काल अपनी-अपनी बैल-गाड़ियाँ तैयार कीं, और गाते हुए अपने-अपने गाँवों को रवाना हुए।

उसी दिन राजा साहब की मुहर के साथ सूबा के पास यह आज्ञा-पत्र पहुँचा कि वह चौबासा से सैनिक हटा ले, और जब तक दूसरा हुक्म न मिले, अपने निवास-स्थान से कहीं बाहर न जाय, और न कोई हुक्म निकाले।

---

[१३]

दूसरे दिन सबेरे चौबासा के निवासी जब सोकर उठे, तब ऐसा जान पड़ा, मानो जो कुछ हो गया, वह एक स्वप्न था। घरों के छप्पर जलकर राख हो गए थे, और काली, नंगी दीवारें सूबा के ज़ुल्म की कहानी कहने के लिये गरदन ऊँची किए खड़ी थीं। गाँव के गिर्द जो नदी पड़ी सो रही थी, वह मानो इस कांड से जग उठी थी, और लबालब भरी थी। उसका पाट कहीं आठ गज़ से अधिक नहीं था, पर इतना कभी वह बरसात में भी नहीं भरी थी।

सर कृपाशंकर की नई स्कीम के अनुसार गाँववाले अपना घर वैसे भी गिराते। झोपड़ों में आग लगवाकर सूबा ने मानो उनके काम को आसान कर दिया था। इसलिये नदी को लबालब भर जाते देखकर उन्हें अपने घरों के जल जाने का उतना भी दुःख नहीं हुआ, जितना विपरीत अवस्था में होता।

सूबा के पास दरबार का आज्ञा-पत्र पहुँच चुका था, इसलिये उसने सिपाहियों को वापस बुला लिया था। सिपाहियों के चले जाने से गाँववाले प्रसन्न और निश्चिंत भाव से अपने घरों की सफ़ाई करने में लगे थे। किसी प्रकार मामूली छाया करके और फ़र्श साफ़ कर वे उनमें तब तक दिन गुज़ारना चाहते थे, जब तक स्वामीजी छूटकर न आ जायँ, और उनकी राय से नए मकान न बन जायँ।

पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे, सभी धूल-धूसरित हो रहे थे। रुक्मिणी भी फाँड़ बाँधे अपना घर साफ़ करने लगी थी। उसके चेहरे पर गर्द छा गई थी। उसके केश और कपड़े भी गर्द से सन गए थे। जब वह पलक उठाती

या बोलने के लिये मुंह खोलती थी, तब केवल यह प्रतीत होता था कि उसका शरीर भी उन तत्त्वों का बना है, जिनसे विधाता मानव-प्रतिमा बनाते हैं। इस प्रकार अपना घर साफ़ करके वह नदी में नहाने जाने के लिये एक लोटा और धोती लेकर जैसे ही अपने घर के छप्पर-विहीन द्वार पर आकर खड़ी हुई, वैसे ही सूबा के एक सिपाही ने वहाँ प्रकट होकर कहा—"आपको सूबा ने बुलाया है, यह जानने के लिये कि आपकी और राजा साहब की क्या बातें हुई हैं।"

"मैं सूबा के पास नहीं चल सकती।"

"आप न चलेंगी, तो हम बल-पूर्वक ले चलेंगे।"

रुक्मिणी को एक नई विपत्ति-सी आती हुई प्रतीत हुई। उसका सामना करने के लिये वह उपाय सोचने और अपने हृदय में शक्ति-संचय करने लगी। इसी बीच में एक मोटरकार वहाँ आकर खड़ी हुई।

यह सूबा की कार थी, और इस पर उसने चार जवान रुक्मिणी को बल-पूर्वक पकड़ लाने के लिये भेजे थे। उसका ख़याल था कि राजा साहब में यह आश्चर्य-जनक परिवर्तन इसी लड़की के रूप के जादू ने कर दिया है। यदि वह इस लड़की को ग़ायब कर दे, तो उसका काम बहुत कुछ बन सकता है। रुक्मिणी ने पुरोहित शिवदत्त को बुलवाया। संग्रामसिंह की स्त्रियाँ और गाँव के और भी कई स्त्री-पुरुष आ गए। सबकी राय यही ठहरी कि इस समय रुक्मिणी का सूबा के पास जाना उचित नहीं है।

पुरोहित शिवदत्त ने सिपाहियों से कहा—"राजा साहब से बातचीत के समय मैं भी उपस्थित था। यह तो अभी निरी लड़की है। इससे कोई मतलब नहीं। सारी बातें मुझसे हुई थीं। गाँव का अगुआ मैं हूँ। पर तुम्हारे नालायक़ सूबा से मैं भी मिलना मुनासिब न समझूँगा। यदि वास्तव में वह जानना चाहता है कि क्या बातें हुई हैं, तो उससे कहो, यहीं आकर सब समझ जाय।"

सिपाहियों ने चाहा कि बल-प्रयोग करें, पर गाँव के वहाँ एकत्र हुए स्त्री-पुरुषों का रुख़ देखकर उनकी हिम्मत न पड़ी। वे मजबूती के साथ फिर आने की धमकी देकर वापस लौट गए, और एक सिपाही यह देखने के लिये रह गया कि रुक्मिणी कहाँ जाती और क्या करती है।

रुक्मिणी नदी में नहाने चली गई। उसके साथ गाँव के लड़के-लड़कियाँ भी रवाना हुई, और नदी के विषय में उससे तरह-तरह के प्रश्न करने लगीं। पर भावी भय की कल्पना करके वह अत्यंत गंभीर हो उठी। वह क्या करे। सूबा की अपवित्र दृष्टि के सामने उपस्थित होने से यह कहीं अच्छा है कि वह इस नदी में डूबकर मर जाय। उसे लक्ष्मीचंद का ध्यान आया। यह नदी उन्हीं के स्नेह का एक स्वरूप ही तो है। इसमें सदा के लिये अदृश्य हो जाना कितना सुखकर है? फिर उसे राजा साहब की उस उदार मुखाकृति का स्मरण हो आया, जो उसने एक दिन पूर्व देखी थी। उसे मालूम हुआ, मानो राजा साहब गाँव में इस मामले की जाँच के लिये आया ही चाहते हैं, और सूबा तथा उसके अत्याचारों का अंत अत्यंत समीप है। क्या वह इतने समय तक धैर्य के साथ प्रतीक्षा नहीं कर सकती। ओफ़्! पर अब उसका एक-एक मिनट पहाड़ के समान गुज़रने लगा। उसे जान पड़ा, जैसे उसके जीवन की नौका पार लगकर डूबना चाहती है। सारा काम बनकर बिगड़ जाना चाहता है। पल-पल में उसे एक झपकी-सी आती, और उस झपकी में उसकी आँखों के सामने एक भयानक दृश्य नाच जाता। उसे मालूम होता, मानो सूबा के सैनिक गाँव में जितने पुरुष, स्त्री और बालक हैं, सबका क़त्ल करके उसे बल-पूर्वक पकड़े लिए चले जा रहे हैं। वह सिहर उठती। गाँववालों का वह बहुत कष्ट देख चुकी थी। उनका अधिक कष्ट देखने का उसमें धैर्य न रह गया था। वह नहीं चाहती थी कि उसके बचाने में इतनी जानें जायें। सहसा उसकी कल्पना में उसके पिता की गंभीर मुख-मुद्रा सजीव हो उठी। मानो वह कह रहे हैं—बेटी, परीक्षा का यही अवसर है। हमें सब कष्टों को अपने ऊपर झेलकर ग्रामवासियों को बता

देना है कि कष्टों का सामना किस प्रकार करना चाहिए। तू स्वेच्छा से सूबा के पास मत जा। पर यदि उसके सिपाही बल-प्रयोग करें, और तुझे विवश कर दें, तो बेशक चली जा। पर गाँववालों का व्यर्थ में खून मत होने दे।

परंतु स्त्री और पुरुष में एक अंतर है। पुरुष प्रत्येक अवस्था में साहस का परिचय दे सकता है, और अपनी आन बनाए रह सकता है। पर स्त्री के सामने अपनी लज्जा की रक्षा करने का भी प्रश्न है। यदि बंदी कर लेने के बाद शत्रु स्त्री की लज्जा का अपहरण करने पर आमादा हो जाय, तो वह अपनी रक्षा कैसे करे? उसके लिये तो सुगम उपाय यही है कि शत्रु के हाथ में पड़ने से पूर्व वह जान दे दे। उसने सोचा, संग्रामसिंह की स्त्रियों से कोई छुरी लेकर प्राण देने के लिये तैयार रहूँ, और जैसे ही सूबा के सिपाही शरीर में हाथ लगावें, वह छुरी पेट में भोंक लूँ। सूबा मेरा प्राण नहीं पा सकता। उसको अगर मेरी लाश की आवश्यकता है, तो बेशक ले ले।

इस प्रकार तर्क-वितर्क के द्वारा एक मत स्थिर कर लेने पर उसका चित्त कुछ शांत हुआ। गाँव के अर्द्ध-नग्न बालक-बालिकाओं का मन प्रसन्न करने के लिये वह उनके ऊपर पानी उलीचने लगी, और वे भी उसके चारो ओर कलोल करने लगे। स्नान के पश्चात् उसने मोटे सूत की स्वच्छ, श्वेत साड़ी पहनी, और अपने लंबे केशों को आगे की ओर एक काले गेंद की भाँति बाँधकर लोटे में पानी लिए, और बग़ल में भीगी धोती दबाए, लड़कों के तरह-तरह के प्रश्नों का उत्तर देती हुई वह घर लौटी। वह बहुत मंद गति से आगे बढ़ रही थी, तब भी कुछ छोटे बच्चे उसे पकड़ने के लिये और उसकी उँगली पकड़कर उसके साथ-साथ चलने के प्रयत्न में गिरते-पड़ते आगे बढ़े आ रहे थे।

सहसा गली के छोर पर उस मैदान में, जिसमें ग्रामवासी जमा होकर ईश-प्रार्थना किया करते थे, उसे एक कार दिखाई पड़ी, और हृदय धक से हो गया। यह क्या, सूबा के सिपाही आ पहुँचे! उसने पीछे की ओर मुड़-

कर गाँव के बालक-बालिकाओं के समूह को देखा—सब नंगे बदन! कुछ कोपिंद लगाए थे, कुछ को वह भी नसीब नहीं था। कुछ के हाथों में चाँदी के पतले कड़े पड़े थे, और कुछ के सिरों पर गाँव के मेलों से ख़रीदकर लाई गई काग़ज़ की टोपियाँ थीं। वे नंगे-बदन और ख़ाली-पेट बच्चे अच्छे कपड़ों और खाने-पीने की चीज़ों के लिये उदास नहीं थे। कल क्या होगा, इसकी उन्हें चिंता नहीं थी। रुक्मिणी को पाकर वे बहुत ख़ुश थे। उसे उनके पास पहुँचाकर मानो विधाता ने उनके सारे अभावों की पूर्ति कर दी थी। सूबा—जिसका पहला फ़र्ज़ था इन बच्चों की भलाई सोचना, इनके स्वास्थ्य और शिक्षा की फ़िक्र करना—इनके हाथ से वह वस्तु भी छीने ले रहा है, जो अचानक इन्हें मिल गई है। ओफ़्! इन बच्चों का क्या होगा? रुक्मिणी की आँखें डबडबा आईं। बच्चों को अपने पास इकट्ठा करके रुक्मिणी ने उन्हें मूक दृष्टि से देखा। दुखिया भारत-माता के लालो! खेद है, मैं तुम्हारी कुछ सेवा नहीं कर सकी, और बिदा की घड़ी आ पहुँची! मन-ही-मन कहती हुई, किसी की पीठ थपथपाती हुई, किसी का मुख चूमती हुई, किसी को एक हाथ से गोद में उठाकर फिर मृदुता-पूर्वक भूमि पर खड़ा करती हुई वह आगे बढ़ी। मोटर की उपेक्षा करके वह सीधे पहले संग्रामसिंह के मकान में जाना चाहती थी। एकाएक उसके कान में एक परिचित स्वर गूँज उठा—"रुक्मिणी!"

उसने देखा, सामने लक्ष्मीचंद खड़े मुस्किरा रहे हैं। उसका भय दूर हुआ, उसने भी मुस्किराने की चेष्टा की।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी, मुझे क्षमा करो। अभी मैं यहाँ नहीं आना चाहता था, पर यह सुनकर कि चौबासा में गोली चली है, और गाँव जला दिया गया है, मैं अपनी बेचैनी दबा न सका। आख़िर मनुष्य ही हूँ, और मनुष्य का मनुष्य के लिये चिंतित होना स्वाभाविक है।"

सहसा उन्हें दूर पर गर्द उड़ती हुई दिखाई दी, और घोड़ों की टापों की आवाज़ सुनाई पड़ी।

"यह क्या ?"

"संभवतः सूबा इस गाँव पर फिर हमला करना चाहता है। वह इस गाँववालों को मारकर मुझे जीवित पकड़ ले जाना चाहता है।"

लक्ष्मीचंद क्रोध से काँप उठे। उन्होंने कहा—"रुक्मिणी, मेरे प्राण रहते तुम्हारा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।"

उन्होंने अपनी जेब से पिस्तौल निकाल ली।

रुक्मिणी का सरल स्त्री-हृदय लक्ष्मीचंद के इस साहस पर निछावर हो गया। पर उसने कहा—"सेठजी, यह मेरी परीक्षा का समय है। पिता की इच्छा मैं जानती हूँ। गोली का जवाब गोली से देना हमारा धर्म नहीं है। साहस-पूर्वक गोलियों की बौछार को सीने पर लेने में ही हमारी जीत है। हमारी अब तक की सफलता का यही कारण है।"

"सफलता या विनाश! रुक्मिणी! मुझसे यह न होगा कि ये कुत्ते तुम पर आक्रमण करें, और मैं चुपचाप खड़ा देखता रहूँ।"

पुरोहित शिवदत्त अपने घर से बाहर निकल आए थे। सारी परिस्थिति उनकी समझ में आ गई। उन्होंने कहा—"हे ईश्वर! अब क्या हो? रुक्मिणी, तुम भागो। मैं प्राण रहते इन्हें रोकूँगा।"

"मैं कायर नहीं हूँ। मैं भी प्राण देना चाहता हूँ।" लक्ष्मीचंद ने कहा।

रुक्मिणी संग्रामसिंह के घर की ओर बढ़ी। लक्ष्मीचंद ने हाथ पकड़कर उसे रोका, और कहा—"फ़ौरन् मेरी कार पर बैठो। अधिक सोच-विचार करने का समय नहीं है। यदि तुम्हें इस आग में कूदना ही है, तो यह तो तुम्हें सदैव धधकती मिलेगी। इस प्रकार शत्रु के हाथ में पड़ने से कोई लाभ नहीं।"

हथियारबंद सवार अब स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। आग की लपटों के समान उन सबको भस्म कर देने के लिये वे बढ़े चले आ रहे थे।

लक्ष्मीचंद ने चिल्लाकर कहा—"रुक्मिणी, जल्दी! जल्दी! मैं कहता हूँ, मेरी यह एक बात मान लो। ठंडे दिल से विचार करने के बाद यदि तुम इस आग में कूदने का ही निश्चय करोगी, तो मैं तुम्हें यहाँ छोड़ जाऊँगा।"

रुक्मिणी ने पुरोहित शिवदत्त की ओर देखा। शायद यह कुछ सलाह दे सकें। पर वह किंकर्तव्य-विमूढ़-से खड़े थे। उन्हें रुक्मिणी के लिये सब ओर खतरा दिखाई पड़ा। उन्होंने मन-ही-मन कहा—स्वामीजी, तुम बहुत बुद्धिमान् हो, इसमें संदेह नहीं, पर लड़की का अब तक विवाह न करके तुमने बड़ी भूल की है। तुम्हें इसके लिये अवश्य पछताना पड़ेगा। सवार गाँव के बाहर जो मंदिर था, उसके पास आ गए, और उसी गति से गाँव में प्रविष्ट होने लगे। लक्ष्मीचंद ने बल-पूर्वक रुक्मिणी को उठाकर अपनी कार में डाल दिया, और तत्काल उस पर बैठकर उसे स्टार्ट किया।

सवारों ने अपनी चाल और तेज़ की, पर लक्ष्मीचंद की मोटर हवा हो चुकी थी। सवारों के पीछे सूबा ने एक बड़ी कार भी भेजी थी, जिस पर उसके कई विश्वासी जवान सवार थे। यह कार उसने इसलिये भेजी थी कि जब सवार गाँव में उत्पात मचावें, तब ये लोग रुक्मिणी को लेकर चंपत हो जायँ। दौड़ में घोड़े मोटर को नहीं पा सकते थे, इसलिये वे पीछे हो गए; सूबा की कार आगे बढ़ी, और देखते-ही-देखते वह भी हवा हो गई।

कुछ दूर आगे जाने पर सेठ लक्ष्मीचंद ने पीछे मुड़कर देखा, एक कार उनके पीछे द्रुत गति से दौड़ी आ रही थी। उन्होंने कहा—"रुक्मिणी, तुम आगे की सीट पर आकर गाड़ी चलाओ, और मैं पीछे पिस्तौल लेकर बैठता हूँ। यदि शत्रु के ये श्वान इतने निकट आ जायँगे कि रक्षा का उपाय मुश्किल जान पड़ेगा, तो मैं इन पर पिस्तौल चलाऊँगा।"

"और वे भी तो हथियारों से लैस होंगे?"

"तो इसके क्या यह अर्थ हैं कि हम आत्मसमर्पण कर दें। प्राण रहते ऐसा कभी न होगा। मैं जो कहता हूँ, वह करो।"

रुक्मिणी अपने पिता की परम आज्ञाकारिणी पुत्री थी। आज्ञा देने की अपेक्षा किसी की आज्ञा का पालन करने ही में उसके स्वभाव की विशेषता थी। उसने उस समय अपने मस्तिष्क से काम लेना बंद कर दिया, और जैसा लक्ष्मीचंद ने कहा था, वैसा ही किया।

अब वह आगे की सीट पर थी। उसके दोनो हाथ कार के हैंडिल पर थे, और दोनो आँखें सामने के मार्ग पर। वह पूर्ण मनोयोग से कार चला रही थी। वह निर्जन तथा ऊबड़-खाबड़ प्रदेश था, और इस प्रकार प्रतीत होता था, मानो कोई समुद्र, जिसमें बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही हों, एकाएक जमकर ठोस हो गया हो। सड़क जैसे इस ठोस समुद्र पर फेन की एक लंबी, पतली लकीर के समान सूखकर रह गई हो। कहीं-कहीं दो-एक पेड़-पौदे और झाड़ियाँ दिखाई पड़ जाती थीं, जिन पर बैठी हुई दो-एक चिड़ियाँ सन्नाटे को चीरती हुई इस मोटर की दौड़ को देखकर भय से बोल उठती और उड़ जाती थीं। जब कार ऊँचे पर होती, तब उसे दूर तक फैला हुआ यह प्रदेश और सामने सड़क दिखाई दे जाती थी, और जब निचाई में पहुँचती, तो जान पड़ता था कि अब सड़क का अंत ही आ गया। इस प्रकार उसकी कार कभी पीछा करनेवाले शत्रुओं की निगाह में आती, कभी ओझल होती, उनसे आँख-मिचौनी-सी खेलती आगे बढ़ी जा रही थी। पीछे लक्ष्मीचंद इस प्रकार झुके और पिस्तौल साधे बैठे थे, जैसे सैनिक अपनी खाई में आक्रमणकारी की प्रतीक्षा में तैयार होकर बैठता है। रास्ते में उन दोनो से कोई बात न हो सकी। दोनो के ध्यान दो तरफ़ थे।

धूप तेज थी, और उस निर्जन प्रदेश में मोटरों की इस दौड़ को देखने के लिये सिवा सूर्य के और कोई न था। और, वह अकेला सूर्य मानो इसीलिये ठीक सिर के ऊपर आ गया था। कभी-कभी ये मोटरें सड़क पर बसे गाँवों के बीच से निकलती थीं। उनकी विचित्र तेजी से कुत्ते भूँक उठते थे, और पीछे छूटते हुए गर्द के बादलों से गाँव ढक जाते थे।

लगभग एक घंटा इस प्रकार चले जाने के बाद रुक्मिणी को सामने

रेल की सड़क दिखाई पड़ी, और तार के स्तंभ अपने सिरों पर अगणित संदेशों का भार उठाए हुए-से प्रतीत हुए। एकाएक उसने चौंककर पुकारा—"मिस्टर सेठ!"

"हाँ।"

"अब क्या हो! सामने रेल की सड़क है, और क्रासिंग का फाटक?"

सेठ लक्ष्मीचंद ने सामने की ओर देखा, एक आदमी क्रासिंग का फाटक बंद कर रहा है। उन्होंने रेल की लाइन के दोनो छोरों की ओर दृष्टि दौड़ाई। रेलगाड़ी का कहीं नाम तक न था, और रेल की पटरियाँ शैव के मस्तक पर लगे चंदन की दो आड़ी, पतली रेखाओं के समान चमक रही थीं, और वह क्रासिंग ऐसी दिखाई पड़ रही थी, मानो इन चंदन-रेखाओं के बीच में भस्म का गोल धब्बा लगा हो। उन्हें रेल की वे पटरियाँ और वह क्रासिंग साक्षात् मुंडमाल धारण किए हुए मरघटनाथ के मस्तक के भयानक शृंगार-से प्रतीत हुए। रुक्मिणी ने मोटर की गति मंद की। और कोई चारा भी तो नहीं था। बात करते मोटर फाटक पर आकर खड़ी हो गई। लक्ष्मीचंद और रुक्मिणी, दोनो उससे उतरे, और रेल की लाइन पर आ गए। दूसरी ओर एक अधेड़ आदमी हरी झंडी लिए खड़ा था। रेल के आने की आवाज तक अभी न सुनाई पड़ती थी।

लक्ष्मीचंद ने उस बुड्ढे के पास जाकर बड़ी विनय से कहा—"दादा! फाटक खोल दो, मुझे निकल जाने दो। जो कहो, सो इनाम दूँगा।"

झंडीबरदार लालची व्यक्ति था। जो तनख्वाह पाता था, वह उसके प्रतिवर्ष बढ़ते हुए परिवार के लिये यथेष्ट न थी।

"१०) लूँगा।" उसने कहा।

"२०) लो, पर जल्दी करो।" लक्ष्मीचंद ने तत्काल कोट की जेब से मनीबैग निकाला, और उसके हाथ पर दस-दस रुपए के नोट रखकर कहा। झंडीबरदार अपने जनेऊ में बँधी चाभी हाथ में लेते हुए फाटक की ओर बढ़ा। लक्ष्मीचंद और रुक्मिणी तत्काल फिर कार पर सवार हुए।

"क्या खड़े सोच रहे हो ? जल्दी करो।" लक्ष्मीचंद ने कहा।

फाटक पर झुके हुए झंडीबरदार ने कहा—"सरकार! मैं इन रुपयों को हजम नहीं कर सकूँगा। ये लीजिए। मैं फाटक नहीं खोल सकता।"

लक्ष्मीचंद और रुक्मिणी, दोनो ने पीछे मुड़कर देखा, एक गर्द का बादल उन्हें तेज़ी से आगे बढ़ता हुआ प्रतीत हुआ।

"जल्दी करो दादा! जल्दी करो। मेरे लिये एक-एक मिनट बहुमूल्य है।"

उस आदमी ने ताले में चाभी डाली, और एक दीर्घ निःश्वास ली। लक्ष्मीचंद कार से कूदकर फिर उसके पास पहुँचे, और बोले—"इधर लाओ चाभी।"

वह चिल्ला उठा—"उधर देखिए, धुआँ दिखाई पड़ रहा है। रेल आ रही है। लूकी के समान आती है।"

लक्ष्मीचंद के मन में आया कि इसके हाथ से चाभी छीनकर फाटक खोल लें, और पार निकल जायँ, पर उस आदमी ने मुट्ठी में चाभी इस प्रकार पकड़ ली कि उसका छुड़ाना कठिन हो गया।

गर्द का बादल और भी क़रीब आता दिखाई पड़ा। रुक्मिणी ने कहा—"हाय! अब क्या हो?"

उसने रेल की पटरी के उत्तरी-पश्चिमी छोर को देखा। भक-भक करती हुई गाड़ी चली आ रही थी। जो सड़क छोड़ आई थी, उसने उसकी ओर देखा। सूबा की मोटरकार स्पष्ट हो उठी थी। उसने फिर कहा—"हाय! अब क्या हो?"

उसे जान पड़ा, जैसे एक ओर से रेल और दूसरी ओर से एक मोटरकार दौड़ी चली आ रही है, और दोनो उसके ऊपर से निकलना चाहती हैं। उसके हाथ-पाँव ढीले हो गए, और बदन पसीने से तर हो गया।

लक्ष्मीचंद ने उस आदमी से चाभी छीनना और फाटक खोलना अब

व्यर्थ समझा। उन्होंने उससे कहा—"अच्छा दादा! लाल झंडी दिखाओ, जो माँगोगे, दूँगा। हमारी रक्षा करो।"

उस आदमी को अपनी जीविका जाने का भय था। इसके लिये भी वह तैयार न था। और कोई उपाय न देखकर लक्ष्मीचंद ने अपना पिस्तौल उस झंडीबरदार की छाती से लगा दिया, और कहा—"लाल झंडी! एक, दो, तीन!"

बेचारे के हाथ-पाँव फूल गए। प्राणों का मोह किसे नहीं होता। उसने लाल झंडी खोल दी। रेलगाड़ी की चाल कुछ मंद पड़ी, और एंजिन की सीटी बजी। ड्राइवर मानो वहाँ रुकना न चाहता था, और रुकने का कारण जानना चाहता था। लक्ष्मीचंद ने रुक्मिणी से कहा—"गाड़ी में चढ़ो! झटपट! झटपट!" रुक्मिणी कूदकर गाड़ी में सवार हो गई, और उसके बाद ही लक्ष्मीचंद भी उस पर सवार हो गए। अंदर मुसाफ़िरों ने उनका विरोध किया। लक्ष्मीचंद बोले—"गाड़ी लुट जायगी! आप हमें चुपचाप आने दीजिए। पीछे डाकू आ रहे हैं।"

फिर भी एक आदमी फाटक रोके खड़ा रहा। लक्ष्मीचंद ने उस पर भी पिस्तौल तानी। आश्चर्य से चीख़कर वह अपनी जगह पर इस प्रकार सिकुड़ गया, मानो वहाँ हो ही नहीं। दोनो सही-सलामत गाड़ी के अंदर दाखिल हो गए, और उनकी जान में जान आई।

गाड़ी की चाल फिर तेज हुई। लक्ष्मीचंद के पिस्तौल जेब में रखते ही झंडीबरदार ने फिर हरी झंडी दिखा दी थी। दोनो ने गाड़ी के खुले द्वार से सूबा के कार की ओर देखा। वह आकर फाटक पर खड़ी थी, और उसके सवार उसमें बैठे इस प्रकार आँखें खोले रेल को देख रहे थे, जैसे कोई सुखद स्वप्न देखने के बाद अभी-अभी जागे हों, और सोच रहे हों कि क्या देखा था। लक्ष्मीचंद की मोटर उनके पास ही खाली खड़ी मानो उनका उपहास कर रही थी। रुक्मिणी मुस्किराई, और लक्ष्मीचंद ने हाथ हिलाकर उन्हें इस प्रकार नमस्कार किया, जैसे कोई विजयी योद्धा अपने पराजित प्रतिद्वंद्वी पर अपनी विजय का गर्व प्रकट करता है।

सूबा के वे सहायक गाड़ी को एकटक देखते रहे। उसके बाद जब फाटक खुला, तब वे आगे बढ़े। और उस ओर मुड़े, जिधर एक सड़क उस सड़क से फूटकर कुछ दूर रेल के समानांतर गई थी, पर आगे ऊबड़-खाबड़ खेत थे। उनकी इस मुसीबत को लक्ष्मीचंद और रुक्मिणी ने दूसरी ओर आकर देखा, और लक्ष्मीचंद ने हाथ हिलाकर फिर उन्हें तिरस्कार और उपहास-मिश्रित बिदाई दी। जब वे आँखों से बिलकुल ओझल हो गए, तब लक्ष्मीचंद ने एक खाली स्थान पर रुक्मिणी को बैठाया, और उसके पास बैठते हुए कहा—"रुक्मिणी, तुम्हें मेरे हाथों से कोई छीन नहीं सकता, तुम मेरी हो।"

---

[१४]

जिस तेज गाड़ी में वे सवार हुए थे, वह हिसार से रिवाड़ी जा रही थी। बीच में किसी स्टेशन पर उतरना उचित न समझकर वे सीधे रिवाड़ी तक चले गए। रिवाड़ी-स्टेशन पर उतरने के बाद लक्ष्मीचंद रुक्मिणी को लेकर जब प्रथम दर्जे के वेटिंग रूम में पहुँचे, और वहाँ रुक्मिणी ने एक बड़े दर्पण में अपनी आकृति देखी, तब वह कुछ चौंकी-सी। उसके केश अब भी आगे की ओर उसी प्रकार बँधे थे, और साड़ी भी उतनी स्वच्छ न थी, जितनी गाँव में दिखाई पड़ती थी। दिल्ली छोड़ने के बाद यह पहला दिन था, जब उसने दर्पण में अपना मुख देखा था। यह बात नहीं थी कि जिस गाँव में वह अपने पिता के साथ जाकर बसी थी, उसमें दर्पण थे ही नहीं। स्त्रियाँ छोटे-छोटे दर्पण रखती थीं, जिनमें उन्हें मस्तक का वह भाग दिखाई पड़ जाता था, जहाँ उन्हें सिंदूर की बिंदी लगानी होती थी। पर रुक्मिणी ने ऐसे दर्पण से कभी काम न लिया था। उसे दिल्ली के वे दिन याद आए, जब उसे घंटों शृंगार में लग जाते थे। ओह! वह कितना बदल गई है। उसे अपने शरीर का बिलकुल ही ध्यान न रह गया था। लक्ष्मीचंद जैसे उसके मन की बात ताड़ गए। उन्होंने आदमी भेजकर तुरंत बाजार से रुक्मिणी की नवीन रुचि के अनुरूप मोटे सूत की एक श्वेत साड़ी और जंकर मँगवाया, तथा स्टेशन के कर्मचारियों से अच्छा साबुन और कंघा आदि लेकर उसे दिया, और स्नान करके वस्त्र बदलने के लिये कहा। रुक्मिणी को स्नान करने के लिये एक बाथ-रूम में भेजकर वह स्वयं दूसरे बाथ-रूम में चले गए।

स्नान के बाद वस्त्र बदलकर और केश दुरुस्त करके रुक्मिणी जब

वेटिंग हॉल में आई, तब उसने देखा कि लक्ष्मीचंद उससे पहले ही स्वच्छ होकर आ गए हैं, और उनके आज्ञानुसार स्टेशन से संयुक्त होटल के कर्मचारी विविध भोजनों की तश्तरियाँ मेज पर लाकर रख रहे हैं।

दोनो ने भोजन करना आरंभ किया। दिन-भर की भूखी होने पर भी रुक्मिणी से खाया न जाता था। उसे गाँव के उन बच्चों का ध्यान आया, जो उसे घेरे रहते थे। उसे मँगरू और मुखिया संग्रामसिंह की तीनो स्त्रियों और लड़के का ध्यान आया। पुरोहित शिवदत्त और दयानिधान की याद आई। फिर जेल में बंद अपने पिता और संग्रामसिंह की, जो उसी की रक्षा करने के कारण जेल गए थे, याद करके वह विह्वल हो गई। उसे जान पड़ा, जैसे वह कायर है, और युद्ध-क्षेत्र से भाग आई है। पता नहीं, उन सब लोगों पर क्या बीतती होगी, और वह यहाँ सुरक्षित स्थान पर स्वादिष्ठ भोजन का आनंद ले रही है। उसके मुँह का कौर मुँह ही में रह गया, और वह इधर-उधर बेचैनी से इस प्रकार देखने लगी, जैसे कोई मुक्त पक्षी पिंजरे में प्रथम बार बंद किए जाने पर देखता है।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी ! धैर्य से काम लो। मैं पहले भी कहता था, और अब भी कहता हूँ कि ग्रामीणों के उद्धार का जो तरीक़ा तुमने और तुम्हारे पिता ने सोचा है, वह अव्यावहारिक और असाध्य कठिनाइयों से कुंठित है।"

"मिस्टर सेठ ! स्त्री-हृदय तर्क नहीं जानता।"

"तुम्हारे सामने मैं कोई तर्क नहीं उपस्थित करना चाहता। पर मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि तुम्हे प्रसन्न देखूँ।"

"मेरी प्रसन्नता उन ग्रामीणों की प्रसन्नता पर निर्भर है, जो अकाल से पीड़ित हैं, और गृह-विहीन हो रहे हैं। जी में आता है, कब उनके बीच में पहुँचूँ, और उनके दुख-सुख में हिस्सा बटाऊँ।"

"उन्हीं ग्रामीणों के उद्धार का मैंने भी अपने ढंग से प्रयत्न किया है। और, मैं चाहूँगा कि पहले तुम उसे देख लो।"

रुक्मिणी दूसरी ओर देख रही थी। उसके कानों में मानो ये शब्द पड़े ही नहीं। वह गाँव में इसलिये जाकर बसी थी कि गाँव की स्त्रियों के सामने आधुनिक नारीत्व का, साहस और धैर्य का, एक आदर्श उपस्थित करे। पर जब परीक्षा का अवसर आया, तब मानो वह भाग निकली। तो क्या वह कायर है ? उसकी आँखों के सामने वह दृश्य नाच गया, जब उसके पिता ने अपनी संभाषण शक्ति के द्वारा इन भोले ग्राम-वासियों पर अपना विश्वास स्थापित किया था, और एक उज्ज्वल भविष्य का आकर्षक स्वप्न उन्हें दिखाकर वर्तमान को और भी कष्टकर बना लेने के लिये उन्हें उत्साहित किया था। उनके आदेशानुसार गाँववालों ने जब आपत्तियों को निमंत्रित किया, तब मानो अपने पिता को उन असहायों के बीच में अकेला छोड़कर वह भाग निकली। ओफ़् ! उसे अपने प्राणों का कितना मोह है। खतरों से वह किस क़दर घबराती है। वह गाँव में बसने योग्य नहीं।

मनुष्य को सबसे अधिक पश्चात्ताप तब होता है, जब वह अपने आपको अपनी ही नजरों में गिरा हुआ देखने लगता है। रुक्मिणी ऐसे ही पश्चात्ताप का शिकार हो गई थी। उसकी भूख जाती रही, और स्वच्छ कपोल एक विचित्र प्रकार की बेबसी के आँसुओं से भीगने लगे।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी ! प्राचीन स्मृतिकारों ने स्त्रियों के कई अवगुण गिनाए हैं। मैं देखता हूँ, इतने ऊँचे दर्जे की शिक्षा प्राप्त करने और देश-विदेश की सैर करने के बाद भी तुम उन अवगुणों की शिकार हुई जा रही हो। मैं फिर कहूँगा, जल्दबाज़ी से काम बिगड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में धैर्य से काम लेने से मनुष्य को सफलता मिलती है।"

रुक्मिणी उठकर खड़ी हो गई। किसी भी प्रकार के विवाद के लिये वह कदापि तैयार न थी। वह जल्दी-से-जल्दी गाँव पहुँच जाना चाहती थी।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"कम-से-कम उतने समय तक तो तुम्हें धैर्य धारण करना ही चाहिए, जितने समय में छोटे-से-छोटे मार्ग से जल्दी-से-जल्दी

पहुँचा जा सकता है । फिर बजाय उस गाँव में चलने के इस समय नागल चलना अच्छा होगा । जान-बूझकर सूबा की पहुँच में मैं तुम्हे नहीं ले चल सकता । वह अपना पद और प्रतिष्ठा बनाए रहने के लिये कुछ भी कर सकता है । तुम्हारा क़त्ल तक वह कर सकता है । अभी उसके हाथ में शक्ति बाक़ी है । उचित यह होगा कि नागल पहुँचकर जल्दी-से-जल्दी पहले तुम उसे शक्ति-हीन करने का प्रयत्न करो । जब तुम्हें मनुष्य का चोला और एक ऐसा मस्तिष्क मिला है, जो पूर्ण विकसित हो चुका है, तब तुम उस मस्तिष्क से काम क्यों न लो ?"

रुक्मिणी को यह सलाह पसंद आई । उसने कहा—"चलो, नागल ही चलो, और वहाँ पहुँचने पर क्या मेरी पिता से भेंट हो सकती है ?"

"प्रयत्न से सब संभव है ।"

"अच्छा, तो चलो ।"

लक्ष्मीचंद ने एक रेलवे-कर्मचारी से टाइमटेबुल लाकर उस प्रांत का नक़्शा खोला, और कहा—"देखो, गाड़ी पर चढ़ने पर हमें पहला स्टेशन यह मिला था ।" लक्ष्मीचंद ने नक़्शे में एक ख़ास स्थान पर उँगली रक्खी, और रुक्मिणी ने उस पर अपनी दृष्टि गड़ाई ।

"हाँ, और कदाचित् वह क्रासिंग यहाँ पर होगी ।" रुक्मिणी ने अपनी सबसे छोटी उँगली से नक़्शे में इशारा किया । वह सेठ लक्ष्मीचंद के बहुत पास आ गई थी, और उसकी श्वास उन्होंने अपने कपोल पर अनुभव की । ओह ! वे दिन कितने सुंदर होंगे, जब रुक्मिणी सदैव उनके इतने ही निकट होगी ।

लक्ष्मीचंद ने विना हिले-डुले टाइमटेबुल खोलकर कहा—"उस ओर दूसरी जानेवाली गाड़ी आठ बजे रात को मिलेगी ।" उन्होंने अपनी कलाई पर बँधी हुई घड़ी देखी । ६ बजकर कुछ मिनट हुए थे । लक्ष्मीचंद ने फिर नक़्शा खोलकर कहा—"देखो, क्रासिंग के बाद यह स्टेशन है । यहाँ से

एक कच्चा रास्ता मेरे केंद्रीय कार्यालय तक गया है । दो-तीन बार मैं इस स्टेशन से वहाँ तक आया-गया हूँ । मैं केंद्रीय कार्यालय से वहाँ कार मँगवा सकता हूँ । मेरे केंद्रीय कार्यालय से तुम्हारा नागल पहुँचना बहुत आसान होगा । मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा ।"

आगे का कार्य-क्रम स्थिर हो जाने से रुक्मिणी का चित्त कुछ ठिकाने हुआ, और लक्ष्मीचंद के बहुत अनुनय-विनय करने पर उसने थोड़ा-बहुत खाया भी ।

गाड़ी आने में अभी देर थी, इसलिये दोनो स्टेशन के उस पार, जिधर बस्ती नहीं थी, वायु-सेवन के लिये निकल गए । यह रास्ता पेड़ों के झुरमुट की आड़ में छिपे एक गाँव से होकर गया था । गाँव की स्त्रियाँ फटे और मैले वस्त्र पहने एक कुएँ पर पानी खींचने के लिये झगड़ रही थीं, और पास ही नंगे-धड़ंगे, निर्बल शरीर के बच्चे खेल रहे थे । कुएँ के बग़ल एक अधेड़ ग्रामवासी अपने हुक़्क़े के धुएँ में अखिल विश्व की शांति और सुख के दर्शन करता हुआ एक टूटी चारपाई पर बैठा था, और चारपाई के नीचे से एक दुबला कुत्ता इन नवागंतुकों पर टूट पड़ने का ढोंग रच रहा था । बुड्ढे ने कहा—"बेवक़ूफ़ ! आदमी भी नहीं पहचानता ! चोर-डाकू कहीं इस तरह के होते हैं ?"

यह बात लक्ष्मीचंद के कान में पड़ गई । उन्होंने घूमकर कहा—"दादा ! जितने भी तुम अच्छी पोशाक और अच्छी सूरत के आदमी देखो, उन सबको लुटेरा समझो । कुत्ता ठीक समझ रहा है ।"

बुड्ढा उठ खड़ा हुआ । उसने कहा—"नहीं सरकार !" वह समझ रहा था, ये अच्छी पोशाक और सूरतवाले लोग ज़रूर कोई अफ़सर हैं, और उससे परिहास कर रहे हैं ।

"क्यों ? अगर ऐसा न होता, तो ये लोग अपनी अच्छी पोशाक और सूरत के तुम्हें भी साझीदार न करते । जब तुम इस संसार में आए हो, तो तुम्हें भी इन चीज़ों का हक़ है । तुम्हारे हक़ हम लोग मारे बैठे हैं ।"

"अपना-अपना भाग्य है।" बुड्ढा बोला, और उसे जोर से खाँसी आई। उसने कहा—"सरकार! इधर महीनों से तबियत खराब है। जरा भी बात करने को मुँह खोलता हूँ, तो दम फूलने लगता है।" फिर जोर से खाँसने लगा।

"कोई इलाज नहीं करते हो?" रुक्मिणी ने पूछा।

"इलाज? बेटी, यह तो पूछो कि पेट-भर कभी खाया है! सब रोगों की दवा अच्छा भोजन है। एक बार सरकारी अस्पताल में गया था। डॉक्टर ने थोड़ी-सी दवा दी, और कहा—'दूध पियो और फल खाओ।' पर ये चीजें क्या हम गाँववालों को कभी नसीब हो सकती हैं। उस दवा को मैंने खेत में फेंक दिया, और घर चला आया।" बुड्ढे ने एक दीर्घ निःश्वास ली, और जोर-जोर से खाँसने लगा।

उसे और कष्ट देना उचित न समझ दोनो आगे बढ़े। लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी! क्या इस गाँव के लोग कम दुखी हैं। आज शायद ही कोई गाँव हो, जहाँ के निवासी खुशहाल हों। सर्वत्र एक प्रश्न है। सर कृपाशंकर की राय है कि शिक्षित भारतीय ग्रामों में बस जायँ, और उनमें शिक्षा तथा घरेलू उद्योग-धंधों का प्रचार करें। यह गाँव के प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं है। गाँवों की आबादी वैसे ही बहुत घनी है। वहाँ से कुछ आदमी हटाकर शहरों में बसाए जायँ, तो कुछ हो भी सकता है। पर शहरों के शिक्षित लोग गाँव में जाकर बसेंगे, तो बेचारे गाँववालों को जो भोजन प्राप्त हो रहा है, वह भी न होगा। ये दिमाग़वाले लोग उसे खा जायँगे। यह एक व्यापक प्रश्न है। हमें व्यापक दृष्टि से ही इस पर विचार करना होगा।"

"मिस्टर सेठ! गाँव के निवासियों के लिये आपके हृदय में दर्द नहीं है। यदि दर्द होता, तो आप भी हमारी भाँति उनके बीच में बस जाते, और उनके दुःख को अपना दुःख बना लेते।"

"रुक्मिणी! तुम स्त्री हो। स्त्रियाँ इस प्रकार की ग़लत हमदर्दी

का इज़हार आदि काल से ही देती आई हैं। पर सर कृपाशंकर जब ऐसे विश्व-विख्यात पुरुष होकर ग़लत ढंग से सोचते हैं, तब समझ में नहीं आता कि क्या कहूँ।"

"आपकी बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आई। आपमें सबसे बड़ा दोष यह है कि आप बात को स्पष्ट ढंग से नहीं कहते। हमदर्दी जाहिर करने का यह तरीक़ा ग़लत कैसे है?"

"धृतराष्ट्र अंधे थे। उनके साथ पूरी हमदर्दी जाहिर करने के लिये गांधारी ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। आज इसीलिये वह आदर्श नारी कही जाती है। पर मैं कहूँगा, उसका तरीक़ा ग़लत था। उचित यह था कि वह अपनी आँखों की कुछ ज्योति उन्हें भी देती। उनकी आँखें बन जातीं। पर कदाचित् संसार इस प्रकार के ग़लत तरीक़े पर किए गए त्याग को अधिक महत्त्व देता है।"

रुक्मिणी ने कहा—"बिना स्वयं वैसे ही दुख से दुखी हुए दुखी के साथ सहानुभूति प्रकट की ही नहीं जा सकती।"

"खूब! अंधे के साथ अंधे बनकर, लँगड़े के साथ लँगड़े बनकर और काने के साथ एक आँख दाबकर यदि सब लोग सहानुभूति प्रकट करने लगें, तो उन बेचारों का जीवन भार हो जाय। यह सहानुभूति प्रकट करना नहीं, उनका उपहास करना है। मुझे माफ़ कीजिए, यदि कहूँ कि आजकल आप अपने पिता के साथ किसानों का ऐसा ही उपहास कर रही हैं।"

रुक्मिणी मुस्किराई, पर शीघ्र ही गंभीर होकर बोली—"यदि आप हमारी दृष्टि से संसार को देख सकते, तो ऐसा न कहते।"

"आपकी दृष्टि से भी देख रहा हूँ, और अपनी दृष्टि से भी। और दोनो की तुलना भी कर रहा हूँ। पर आप केवल अपनी ही दृष्टि से देखना जानती हैं, औरों की दृष्टि की उपेक्षा ही आपकी विशेषता है।"

"मैं पूछती हूँ, बताइए, किसानों को सुखी बनाने का और क्या उपाय है?"

"मैं बताता हूँ, सुनिए। यदि किसानों को लँगोट लगाए देखकर हम भी लँगोट लगाकर उनके बग़ल में खड़े हो जायँ, तो संसार चाहे हमें जितना बड़ा हमदर्द और त्यागी कहे, किंतु यह किसानों का उपहास ही होगा। उन्होंने लँगोट बेबसी की हालत में लगाया है, और हमने स्वेच्छा-पूर्वक। हमें उस रूप में देखकर उन्हें तसल्ली हो सकती है, उनका दुःख नहीं कम हो सकता। पर यदि हम लँगोट न पहनकर अपने सरीखा कोट उन्हें पहना सकें, मोटा न खाकर उन्हें अपने सरीखा महीन खिला सकें, झोपड़ी में न बसकर उन्हें महल में बसा सकें, तो हमारी सहानुभूति सच्ची सहानुभूति होगी, और हम उन्हें वास्तव में सुखी बना सकेंगे।"

"जहाँ नब्बे सैकड़ा लोग ग़रीबी के शिकार हों, वहाँ यह कैसे संभव हो सकता है?"

"दिमाग़ हमें यही सोचने के लिये मिला है। किसी मकान में आग लगने पर हम जलतों के साथ हमदर्दी प्रकट करने के लिये उस आग में नहीं कूद पड़ते, प्रत्युत उन्हें उस आग से निकालने का उपक्रम करते हैं।"

रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे लक्ष्मीचंद के कथन में कुछ सचाई है। नदी के रूप में उमड़ी उनकी सहानुभूति का एक उदाहरण देखकर वह उन पर मुग्ध हो चुकी थी। प्यासों के साथ प्यासों मरने की अपेक्षा उनके लिये पानी की खोज करना कहीं उत्तम है। वह लक्ष्मीचंद की बातें सुनने के लिये तैयार हुई। उसने पूछा—"किसानों के उद्धार का आपने क्या तरीक़ा सोचा है?"

"सोचा ही नहीं है, मैंने अमल भी शुरू कर दिया है। मेरे केंद्रीय कार्यालय में पहुँचकर तुम्हें इसका कुछ आभास मिलेगा।"

रुक्मिणी चुप हो रही। वे बहुत दूर निकल आए थे। दूर पर उस गाँव का कोलाहल सुन पड़ रहा था, जिसे वे छोड़ आए थे। वे फिर स्टेशन की ओर लौटे। लक्ष्मीचंद के मन में आया कि वह अपने प्रति रुक्मिणी के गुप्त प्रेम को एक बार फिर जगाने की चेष्टा करें। एकांत और अंधकार! प्रेमियों को ऐसे अवसर बहुत कम मिलते हैं। पर वह वादा कर चुके थे कि इस प्रकार की चर्चा नहीं करेंगे, इसलिये चुप रह गए।

जब वे स्टेशन पर आए, हिसार जानेवाली गाड़ी आ चुकी थी। वे तत्काल फ़र्स्ट क्लास के एक डिब्बे में सवार हो गए। जीवन में यह प्रथम अवसर था, जब वे गाड़ी पर चढ़े थे, और उन्हें बिदाई देनेवाला स्टेशन पर कोई न था। रुक्मिणी ने सोचा, वह भी एक जीवन था, और कितना सुंदर था, पर लक्ष्मीचंद का ध्यान इस ओर न था। रुक्मिणी को पाकर वह अखिल विश्व को पा गए थे, और सब कुछ भूला हुआ था।

रुक्मिणी एक बर्थ पर बैठी, कुछ देर बाद लेट रही, और सो गई। लक्ष्मीचंद दूसरी बर्थ पर बैठे, और डिब्बे के भीतर फैले हुए विद्युत्-प्रकाश में वह रुक्मिणी के मुख-मंडल की ओर एकटक देखते रहे। डिब्बे की छत से लगा पंखा तेज़ी से घूम रहा था, और उसकी हवा से रुक्मिणी के वस्त्र फहरा रहे थे। उसकी अलकें भी हिल रही थीं, और अलकों से मुक्त हुए तीन-चार लंबे बालों का एक जत्था रह-रहकर उसके मृदुल कपोलों को स्पर्श कर रहा था। गाँवों के जल-वायु और कठोर जीवन की छाप भी उसके मुख पर स्पष्ट थी, पर उसके सौंदर्य में फ़र्क़ नहीं पड़ा था। उस समय उसका मुख ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो चंद्रमा अपनी संपूर्ण ज्योति लेकर उस डिब्बे में आ गिरा है। लक्ष्मीचंद के मन में आया कि वह अपनी जगह से उठें, और चुपके से उसके चंद-मुख पर एक चुंबन अंकित कर दें। उन्होंने इस बात को सोचा ही नहीं। वह अपनी जगह से उठे, और रुक्मिणी के मुख पर झुके भी, पर उसे स्पर्श करने का बल उनके मन में न आया। जैसे कोई चोर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के बाद बहुत कुछ आगा-पीछा सोचकर लौट पड़ता है, वैसे ही लक्ष्मीचंद भी, बिलकुल चोर की भाँति, चुपके-चुपके आकर फिर अपनी जगह पर बैठ गए। उन्हें अपने आप पर बड़ी हँसी आई।

इस प्रकार रेलगाड़ी विविध मुसाफ़िरों को लिए दौड़ी जा रही थी। रुक्मिणी सो रही थी, और लक्ष्मीचंद बैठे तरह-तरह के सपने देख रहे थे।

क्या रुक्मिणी कभी उनकी हो सकती है ? इस प्रकार प्रश्न के साथ ही उनके हृदय में सर कृपाशंकर की रहस्यमयी गंभीर मुखाकृति भी उदित हो उठी। उन्हें जान पड़ा, जैसे सर कृपाशंकर अत्यंत स्वार्थी पुरुष हैं। अपने सुख और सुविधा के ख़याल से वह रुक्मिणी को विवाह नहीं करने देते। यह सच है कि वह उसे विवाह करने से रोकते नहीं, पर ऐसी परिस्थिति में अपने को डालते रहते हैं कि रुक्मिणी उन्हें छोड़ ही नहीं सकती। ओह ! रुक्मिणी में कितना त्याग है। स्त्री की समस्त ख़ूबियाँ इसमें विद्यमान हैं। पर सर कृपाशंकर के मारे उन समस्त ख़ूबियों को विश्व देखने से वंचित रह जायगा। पर वह स्वयं क्या स्वार्थी नहीं हैं ? क्या वह अपने सुख के लिये ही रुक्मिणी को अपनी पत्नी नहीं बनाना चाहते ? पद्मा के साथ वह ब्याह क्यों नहीं कर लेते ? उन्हें वह घड़ी याद आई, जब जोधपुर में पहुँचने पर पद्मा ने उनसे अपनी स्त्रियोचित लज्जा का परित्याग करके उनकी होकर रहने की बात कही थी, और उन्होंने उसे निराश किया था। ओफ़् ! उस समय वह बेचारी कितनी दुखी हुई थी। रुक्मिणी, यदि तुम्हें पद्मा का हृदय मिला होता ! पद्मा को निराश करने का उन्हें कुछ पश्चात्ताप भी हुआ। रुक्मिणी मानो अपने जाति के प्रति किए गए उपेक्षा-भाव का उनसे बदला ले रही हो। उन्होंने रुक्मिणी को एक बार फिर देखा। नहीं, पद्मा इस मुख की समता नहीं कर सकती। पद्मा मेरे और रुक्मिणी के संबंध को जानती थी। यह जानकर उसे प्रेम की इस आग में नहीं कूदना था। उनके मन में फिर आया कि वह रुक्मिणी का मुख उठकर चूम लें। उन्हें इसका सर्वथा अधिकार है। पर इस बार जैसे ही वह अपने स्थान से उठे, वैसे ही गाड़ी की गति कुछ मंद हुई, और बाहर स्टेशन की रोशनी का आभास मिला। उन्होंने घड़ी देखी। दोनो सुइयाँ एक दूसरी का आलिंगन करती हुई बारह बजा रही थीं। आगे वह स्टेशन था, जहाँ उन्हें उतरना था। उन्हें अपने कर्तव्य का ध्यान आया। उन्होंने रुक्मिणी के कान के पास मुँह ले जाकर धीरे से कहा—"रुक्मिणी ! उठो। हमारा स्टेशन आ गया।"

रुक्मिणी आँखें मलती हुई उठ बैठी। उसने पूछा—"क्या वक़्त है ?"

"बारह। इधर देखो। घड़ी की दोनो सुइयाँ मिलकर एक हो गई हैं। पर समय से अधिक इस समय एक दूसरी से अलग होकर हमें हमारी-तुम्हारी जुदाई की सूचना दे रही हैं।"

रुक्मिणी ने अपनी साड़ी सँभालते हुए कहा—"मिस्टर सेठ ! और ये सुइयाँ फिर-फिर मिलेंगी, और हम-तुम भी फिर-फिर मिलेंगे।"

वह अपनी स्वाभाविक हँसी हँसी। लगभग चार घंटे सो लेने से उसके झंकृत स्नायु-तंतु स्वस्थ हो गए थे, और जो बातें दिन में हुई थीं, वे एक युग के समान बीती हुई प्रतीत हो रही थीं।

स्टेशन पर उन्हें कई आदमी स्वागतार्थ उपस्थित मिले। लक्ष्मीचंद की तार द्वारा दी गई हिदायत के अनुसार वे सब स्टेशन पर उपस्थित थे। स्टेशन से उतरकर बाहर खड़ी अपनी कार पर उन्होंने पहले रुक्मिणी को बैठाया, फिर स्वयं बैठे। आगे ड्राइवर ने बैठकर मोटर की रोशनी के बटन दाबे। दोनो ओर दो बल्ब चमक उठे, और आगे का मार्ग स्पष्ट हो उठा। दूसरे ही क्षण कार अंधकार में विलीन हो गई।

---

[१५]

एक अजीब घर्र-घर्र की आवाज़ से रुक्मिणी की आँखें खुल गईं। बिस्तर पर लेटे-ही-लेटे उसने ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ दृष्टि दौड़ाई। सूत की बनी एक जालीदार खिड़की से प्रातःकालीन सूर्य की किरणें उसके कमरे में आ रही थीं। सबसे पहले उसकी दृष्टि उसी खिड़की पर गई। उसे देखते ही वह कुछ चौंकी-सी। रात को उसे मालूम हुआ था, जैसे वह किसी विशाल इमारत में प्रवेश कर रही हो। पर उसे प्रथम बार यह मालूम हुआ कि वह ईंट-पत्थर की इमारत में नहीं, एक विशाल टेंट के अंदर है। अपने ऊपर पड़ी सफ़ेद चद्दर उसने हटा दी, और ग़ौर से बिस्तर देखना शुरू किया कि वही बिस्तर है या नहीं, जिस पर वह लेटी थी। उसने इधर-उधर पड़े सुंदर तकियों को देखा। उन पर वे ही बेलें कढ़ी थीं, जिन्हें उसने रात में एक लैंप के क्षीण प्रकाश में देखा था। पलँग के पास ही एक छोटा-सा टेबुल पड़ा था, और उस पर एक नवीन पुस्तक पड़ी थी। रुक्मिणी ने उसे खोला। वह कृषि-संबंधी वैज्ञानिक यंत्रों का सूचीपत्र था, जो दो ही एक दिन पहले आया जान पड़ता था; क्योंकि उस पर तारीख़ के साथ लक्ष्मीचंद के हस्ताक्षर थे। वह अपने तंबू से बाहर निकली, और उस तरफ़ दृष्टि दौड़ाई, जिधर से घर्र-घर्र की आवाज़ शुरू हुई थी। एक विशाल एंजिन—जो दो बड़े-बड़े पहियों पर खड़ा था, और जिसमें आगे की ओर ढोलनुमा एक ऐसा पहिया लगा था, जिसमें फावड़ों के समान कई दाँत उभरे थे—आगे बढ़ता चला आ रहा था। यह ढोलनुमा पहिया ऊपर-नीचे और दाएँ-बाएँ भी जा सकता था, और बड़ी तीव्र गति से घूम रहा था। यह एंजिन अपने इस आगे के पहिए द्वारा, जो अंदर से पोला था, एक गहरी

हमारा स्टेशन आ गया।"

खाईं खोदता हुआ आगे बढ़ता आ रहा था। इस एंजिन को किस प्रकार आगे बढ़ना है, इसके लिये चूने से दूर तक दो समानांतर सफ़ेद लकीरें खिंची थीं। ये लकीरें उत्तर से दक्षिण को गई थीं। इनके दोनो ओर दूर तक भूमि चौरस की जा चुकी थी, और हाल ही की जोती हुई-सी प्रतीत हो रही थी। इन लकीरों के समानांतर और इनमें क़रीब एक फ़र्लाङ्ग के फ़ासले पर बिजली के खंभों की एक ऊँची क़तार गई थी, जिस पर बिजली के मोटे तार दौड़ाए जा चुके थे। बीच-बीच में उसे वैसे ही कुछ टेंट भी दिखाई पड़े, और पूर्व-पश्चिम फ़ौजी बारकों के ढंग पर कुछ उठती हुई इमारतों के भी लक्षण प्रतीत हुए। थोड़ी दूर पर गर्द से ढकी वह कार खड़ी थी, जिस पर वह रात में यहाँ आई थी। उसने रास्ते को देखा, जिससे वह आई थी। रास्ता उसे हाल का बना हुआ प्रतीत हुआ, और दोनो ओर थोड़े-थोड़े फ़ासले पर मिट्टी और बालू के ढेर लगे थे, जिनसे उसने यह अनुमान किया कि शीघ्र ही वह सड़क पक्की बन जायगी।

इस प्रकार बाहर देख-भालकर रुक्मिणी फिर टेंट के अंदर लौट आई। अब उसे यह चिंता हुई कि लक्ष्मीचंद आएँ, और वह उनके साथ नागल जाय। यह सोचते हुए वह एक कुर्सी पर बैठने ही जा रही थी कि उसे एकस मवयस्का युवती का परिचित चेहरा बाहर से टेंट में झाँकता हुआ प्रतीत हुआ।

"कौन? मिस पद्मा?"

"हाँ! और तुम यहाँ कैसे?"

इस टेंट में सेठ लक्ष्मीचंद स्वयं ठहरा करते थे, और जिस पलँग पर रुक्मिणी लेटी थी, वह उन्हीं का था। पद्मा ने यह जानने के लिये टेंट में झाँका था कि सेठजी जग रहे हैं या नहीं। उनके स्थान पर रुक्मिणी को देखकर उसे कुछ आश्चर्य भी हुआ था, और कुछ रोष भी। पर रुक्मिणी का दयनीय वेश देखकर उसका रोष सहानुभूति में परिणत हो गया था।

पद्मा दौड़कर रुक्मिणी से लिपट गई। रुक्मिणी का घबराया हुआ और उदास चेहरा देखकर वह उसे प्रसन्न करने का उपाय सोचने लगी। उसने अनुमान किया, अवश्य रुक्मिणी को कोई विपत्ति यहाँ लाई है।

उसने पूछा—"सेठजी कहाँ हैं?"

"रात हम दोनो साथ ही आए थे। मुझे यहाँ आराम करने की सलाह देकर वह अन्यत्र शयन करने चले गए थे। पर मुझे आश्चर्य है कि वह अभी तक उठे नहीं। मेरा कार्य ऐसा है, और उन्हें उस संबंध में इतनी चिंता है कि वह देर तक सो नहीं सकते। वह आते ही होंगे।"

पद्मा ध्यानावस्थित-सी हो गई।

"क्या सोच रही हो बहन?"

"मैं सोचती हूँ, वह कहाँ सो सकते हैं? मेहमानों के लिये जितने टेंट खड़े किए गए हैं, वे सब भरे हैं। उनका टेंट यही है। बग़लवाला मेरा है। कहीं एक भी फ़ालतू बिस्तर नहीं है!"

दोनो युवतियों ने सेठजी को इधर-उधर खोजा, पर उनका कहीं पता न चला। वे उस स्थान पर गईं, जहाँ कारें और लारियाँ खड़ी करने के लिये छाया बनी थी। पद्मा ने कहा—"एक टैक्सी नहीं है। वह अवश्य अकेले ही ड्राइव करते हुए कहीं बाहर चले गए हैं। पर ख़ैर, जब वह आपसे वादा कर चुके हैं, तब अवश्य आते होंगे। तुम इस बीच में नहाओ-धोओ, कपड़े बदलो, और थोड़ी चाय पियो।"

पद्मा रुक्मिणी को अपने टेंट में ले गई, और उसने अपनी पोशाकों के संदूक़ उसके लिये खोल दिए कि वह चाहे जिन्हें पहन ले। रुक्मिणी ने मामूली, स्वच्छ वस्त्र चुने, और झटपट स्नान इत्यादि से निवृत्त हुई।

पद्मा ने इस बीच में जल्दी-जल्दी चाय तैयार की, दूध गरम किया, और कुछ फल तथा खाने की अन्य वस्तुएँ एक छोटी-सी मेज़ पर रक्खीं। दोनो युवतियाँ एक साथ खाने बैठीं।

एक प्याले में चाय डालने के बाद उसमें थोड़ा दूध और चीनी मिलाते हुए पद्मा ने कहा—"मिस रुक्मिणी, सेठजी तुम्हें कितना प्यार करते हैं, यह मैं जानती हूँ। यह जानते हुए भी मैं इनकी ओर आकृष्ट हुई हूँ। इनके प्रेम ने मेरे जीवन की सारी इच्छाओं को सर्वथा विपरीत दिशा में प्रवाहित कर दिया है। पर मुझे ऐसा जान पड़ता है, जैसे मैंने अपनी जीवन-नौका एक अनंत तूफ़ान-सागर में डाल दी है, और वह कहाँ जाकर लगेगी, इसका मुझे कुछ भी आभास नहीं मिलता। मुझे विश्वास है, तुम मुझ पर रहम करोगी, और मुझे माफ़ कर दोगी।"

रुक्मिणी कुछ चौंकी-सी। लक्ष्मीचंद सर्वगुण-संपन्न एक ऐसे युवक थे, जिन पर कोई भी युवती मुग्ध हो सकती थी। पर कोई उन्हें उससे छीनने की चेष्टा करेगी, इसका उसे ध्यान न था। इसमें संदेह नहीं कि रुक्मिणी विवाह करना नहीं चाहती थी। वह अपने पिता के कार्य को अपना कार्य बना चुकी थी। पर वह सेठजी पर अपना एकांत अधिकार समझती थी। उसे ऐसा प्रतीत होता था, जैसे यौवन अनंत है, और सेठजी का उससे इस प्रकार प्रेम की भिक्षा माँगना अनंत काल तक जारी रहेगा। यह स्थिति क्या कम सुखकर है? इसमें ज़रा भी परिवर्तन उसे जैसे पसंद न था।

उसने कहा—"लक्ष्मीचंद की और मेरी भेंट इँगलैंड के एक गाँव में हुई थी। उस समय उन्हें भी फ़ुरसत थी, और मुझे भी। हम दोनो तब अपने आपको भूल गए थे। हम चाहें, तो विवाह कर सकते हैं, कोई बाधा नहीं है; पर हमने अपने-अपने सिरों पर जो उत्तरदायित्व ले रक्खे हैं, वे विवाहितों के सँभाले नहीं सँभल सकते। इसलिये यह बहुत संभव है कि हम एक अनिश्चित काल तक और कभी विवाह न करें।"

रुक्मिणी के कथन में दृढ़ता थी। पर पद्मा डिगी नहीं। उसने कहा—"पर मुझे जान पड़ता है, जैसे मैं बिना लक्ष्मीचंद को देखे जीवित नहीं रह सकती। तुम्हारे-इनके संबंध को मैं जानती हूँ, और इसमें संदेह नहीं कि

तुम्हारे निकट में अपराधिनी हूँ। पर क्या तुम मुझे माफ़ करोगी, और आज्ञा दोगी कि मैं सेठजी को प्यार करूँ, तथा उन्हें अपना समझूँ ?"

पद्मा ने पराजित हो जाने पर आत्मसमर्पण करनेवाले योद्धा के समान अनुनय-भरी दृष्टि से रुक्मिणी की ओर देखा। रुक्मिणी को उस पर दया आई। उसने कहा—"पद्मा, तुम्हें सेठजी को प्यार करने का पूरा अधिकार है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

रुक्मिणी यह कहने को तो कह गई, पर उसका हृदय जैसे कुचल-सा गया। पद्मा उसे बड़ी ही स्वार्थिनी स्त्री प्रतीत हुई। उसके जी में आया कि वह पद्मा के कपड़ों को उतार फेंके, और वहाँ से चली जाय, और कहीं जी भरकर रोए।

उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया, और अन्यमनस्क-सी होकर एक नारंगी छीलना आरंभ किया। पद्मा ने फिर कोई बात न की। दोनो युवतियाँ कुछ क्षण अपने-अपने काम में लगी रहीं। इस बीच में रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे वह पद्मा के साथ कुछ रुखाई से पेश आई है। उसने कहा—"मिस पद्मा, इस समय मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। कोई अनुचित बात कह जाऊँ, तो क्षमा करना।"

पद्मा ने मुस्किराकर कहा—"बहन, बिलकुल यही अवस्था मेरी है। तुम भी मेरी बातों का बुरा न मानना।"

दोनो युवतियों ने विषय बदला। पद्मा बोली—"परसों यहाँ एक अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित होगा। बाहर तुमने जिस नहर को खुदते हुए देखा है, वह कल शाम तक तैयार हो जायगी, और परसों उसमें पानी आ जायगा। उस नहर के उत्तरी सिरे पर भी एक वायु-कूप सेठजी ने बनवाया है। परसों वह खोल दिया जायगा, और नहर बहने लगेगी। उसी दिन यहाँ इस कृषि-कार्य के संचालकों की एक सभा होगी, और एक वृक्षोद्यान, एक गोशाला और एक प्रयोगशाला की नींव रक्खी जायगी। डेरी-संबंधी आवश्यक ज्ञान मुझे है, इसलिये सेठजी

चाहते हैं कि मैं उस कार्य को सँभाल लूँ। यद्यपि मैंने कभी यह सोचा नहीं था कि मेरा कार्य-क्षेत्र यह होगा, पर भविष्य अपने हाथ में नहीं है, और उसे कोई जान भी नहीं सकता।"

रुक्मिणी ने सामने पड़ी हुई चिक की आड़ से बाहर के उस मरु-प्रदेश को देखा। कहीं पेड़-पत्ती का निशान तक न था। एक स्थान पर ताड़ के दो-एक ऊँचे वृक्ष वहाँ भी उसे सतयुगी योगियों के समान तप में निरत-से प्रतीत हुए। मानो वे उससे कह रहे थे—ईश्वर है। पर उसे ऐसा भी जान पड़ रहा था, मानो उससे शीघ्र ही यह कहने के लिये कि ईश्वर नहीं है, और मनुष्य अपने बुद्धि-बल से सृष्टि का स्रष्टा, विकास-प्रदाता और संहारकर्ता, सभी हो सकता है, उस भूमि से अगणित अंकुर निकलेंगे।

टेंट के बाहर के उस बाह्य जगत् को इस प्रकार देखती हुई रुक्मिणी अपने विचारों में लीन हो रही थी कि एकाएक उसे उस ओर एक सुसज्जित चपरासी दौड़ता हुआ आता प्रतीत हुआ। चिक के पास आकर वह एकाएक रुक गया, और उसके हाँफने की आवाज़ अंदर तक आने लगी। थोड़ा शांत होने पर उसने ज़ोर से पुकारा—"बीबीजी !"

पद्मा उसे देख रही थी। वह उसी का चपरासी था। उसने अपनी जगह से बैठे-ही-बैठे कहा—"अंदर चला आ।"

चपरासी ने आकर बड़ी सावधानी से उसके सामने एक लिफ़ाफ़ा रख दिया। रुक्मिणी ने लिफ़ाफ़े पर एक दृष्टि डालते ही जान लिया कि यह सेठ लक्ष्मीचंद की लिखावट है। उसने उसे तत्काल उठा लिया, और पद्मा से मुस्किराते हुए पूछा—"खोलूँ ?"

"आपको पूरा अधिकार है।"

रुक्मिणी ने लिफ़ाफ़ा तुरंत खोल डाला, और बड़ी उत्सुकता से पढ़ना आरंभ किया।

पद्मा ने पूछा—"क्या लिखा है ?"

रुक्मिणी ने वह पत्र पद्मा के हाथ में दे दिया । पद्मा जब पत्र पढ़ चुकी, तब सेठजी पर कुछ रुष्ट-सी होकर बोली—"स्त्री का प्रेम पुरुष को कार्य में असफल, व्यवहार में झूठा, अनुत्तरदायी और जीवन में आवारा बना देता है । मैं देखती हूँ, सेठजी इसी ओर जा रहे हैं । और, मेरी प्यारी रुक्मिणी, मुझे माफ़ करो, यदि मैं कहूँ कि इसमें तुम्हारा बड़ा हाथ है ।"

रुक्मिणी के कान में मानो ये शब्द पड़े ही नहीं । वह सोच रही थी, सेट लक्ष्मीचंद के हृदय में उसके लिये कितना प्यार है ! वह रातोरात नागल चले गए, और सबेरे जब वह जलपान करने बैठी है, वह राजमहल के फाटक पर ठोकर खा रहे होंगे ! सेठजी का यह लिखना कि रियासतों में मनुष्य नहीं बसते, उसे ठीक नहीं जँचा था । वह राजा साहब से स्वयं बातें कर चुकी थी, और उनकी सहृदयता तथा राज्य की भलाई करने की उत्कट इच्छा की ज्योति उनकी आँखों में देख चुकी थी । राजमाता की देवी-स्वरूप मूर्ति भी उसके सामने आ चुकी थी । सूबा और दीवान साहब उनके सर्वथा विपरीत उदाहरण थे । वे साक्षात् राक्षस-से थे । उनकी छाती के भीतर भी मनुष्य का हृदय धुक-धुक कर रहा है, यह मानने के लिये वह तैयार न थी । उसकी समझ में रियासतों में देवता और राक्षस, दोनो मित्र-भाव से पास-पास बसते हैं । उसने देवता और राक्षस, दोनो देखे हैं, पर कदाचित् सेठजी ने केवल राक्षस ही देखे हैं । वह जानती थी, नागल में उसे कोई भय नहीं हो सकता, पर अपना यह विश्वास वह सेठजी के हृदय में न उत्पन्न कर सकी । इसलिये वह अकेले गए । उसने पद्मा की ओर देखा, और कहा—"पुरुष की मनोवृत्ति भी अजीब होती है । वह सोचता है, स्त्री अपनी मर्यादा की रक्षा अपने आप नहीं कर सकती । इसलिये वह स्वयं उसकी रक्षा का उपाय रचता है । उसे एक सुरक्षित स्थान में क़ैद कर देता है । उसे और क़ैदख़ाने को घर कहता है ।"

पद्मा अपनी ही धुन में मस्त थी । उसने कहा—"ओफ़् ! वह कितने

अनुत्तरदायी और लापरवाह होते जा रहे हैं । कितने बड़े-बड़े आदमी यहाँ डेरों में उनके मेहमान बने बैठे हैं, और वह प्रेमाभिनय करते हुए इधर-उधर चक्कर काट रहे हैं । यह बात जब सब लोगों को मालूम होगी, तो वे क्या कहेंगे ?"

रुक्मिणी ने तब भी पद्मा की इन बातों पर ध्यान न दिया । उसने कहा—"बहन, मुझे एक कार दिलवाओ । मैं स्वयं नागल जाना चाहती हूँ ।"

"एक गाड़ी रेलवे-क्रासिंग के पास पड़ी है, दूसरी स्वयं सेठजी लेकर न-जाने क्यों नागल में जा बैठे हैं, तीसरी बिला सफ़ाई तुम्हारे सामने है । इतने मेहमान यहाँ आए हुए हैं, मालूम नहीं, किसे कैसी ज़रूरत पड़े । सेठजी को पागल बनाकर अब आप भी पागलपन की ओर क़दम न रक्खें । उन्हें आने दें । आप यहाँ रहेंगी, तो संभव है, वह शीघ्र वापस आ जायें । पर यदि आप नागल चली जायँगी, तो सेठजी कदाचित् ही इधर आवें । और, तुम देखती हो, उन्हें यहाँ रहने की कितनी ज़रूरत है ।"

रुक्मिणी ने कुछ उत्तेजित होकर कहा—"बहन पद्मा, तुम क्या कहती हो ? सेठजी मजनूँ और फ़रहाद नहीं हैं, और न ऐसे प्रेमी सच्चे प्रेमी कहे जा सकते हैं । वह कृष्ण-जैसे प्रेमी हैं, और उनका प्रेम संयमित है, वह कर्तव्य-पालन में कदापि बाधा नहीं डाल सकता । यह सत्य है कि उन्हें यहाँ इस समय रहना चाहिए था, पर उन्होंने अब जो कार्य हाथ में लिया है, वह इस जलसे से गुरुतर है । तुम बताओ, मुझे एक कार देती हो या नहीं ? यदि न दे सको, तो मैं पैदल जाऊँगी ।"

पद्मा को जान पड़ा, जैसे रुक्मिणी ने उसे धमकाया हो । ओह ! पुरुष का प्रेम स्त्री को कितना घमंडी, दुराग्रही और प्रबल बना देता है । और, उसका अभाव उसे कितना कायर बनाता है । यह बात पद्मा को अपने और रुक्मिणी के जीवन में चरितार्थ होती-सी प्रतीत हुई । क्षण-भर को उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे वह विधवा और रुक्मिणी सधवा नारी है ।

रुक्मिणी जो चाहे, सो कह और कर सकती है, पर उसके पास जैसे सिवा धैर्य के साथ सहने और चुप रहने के और कोई रास्ता ही नहीं है। उसकी आँखों में एक अजीब कल्पित तिरस्कार के आँसू छलछला आए, और वह सिसकने लगी।

रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे वह पद्मा के साथ बहुत ही रुखाई से पेश आई है। उसने उसके निकट अपनी कुर्सी लाकर कहा—"पद्मा, मेरी प्रत्येक बात पर तुम एक ऐसे दृष्टिकोण से विचार करती हो, जो तुम्हें सिवा कष्ट के और कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता। मेरे वृद्ध पिता रियासती जेल की कठोर यातनाएँ सह रहे हैं, मेरे गाँव के व प्यारे किसान, जिन्हें तुम अपनी मुस्किराहट से प्रसन्न कर चुकी हो, बेघर-बार हो रहे हैं। मैं स्वयं एक राक्षस के चंगुल से बड़ी मुश्किल से निकल सकी हूँ। मेरा इस पीड़ा के पर्वत के नीचे जीवित दबा रहना क्या संभव है? ऐसे अवसरों पर क्या कोई अकर्मण्य होकर धैर्य धारण करके बैठे सकता है? पिता और देश की सेवा के सामने मैं पुरुष के प्रेम को तुच्छ समझती हूँ। इस समय मेरी आँखों के सामने देश और मेरे पिता की मूर्ति नाच रही है। मैं उन दोनो से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकती। तुम मेरी सहायता करो। मुझे किसी प्रकार नागल पहुँचाओ।"

पद्मा का कष्ट कुछ कम हुआ। आदमियों को समुचित सलाह देकर और मेहमानों के आगत-स्वागत का पूरा प्रबंध करके वह रुक्मिणी के साथ नागल को रवाना हुई।

दोनो युवतियाँ कुछ ही दूर गई थीं कि उन्हें सामने गर्द से ढका एक छोटा-सा बवंडर-सा उठता और द्रुत गति से उनकी ओर आता हुआ प्रतीत हुआ।

पद्मा ने कार रोक दी, और कहा—"सेठजी आ रहे हैं! इतनी तेजी से और कोई मोटर नहीं चला सकता।"

रुक्मिणी ने उस गर्द के कंपित और गतिमान् वृक्ष पर दृष्टि डाली।

वायु-वेग से जब वृक्ष हिलते हैं, तब जैसे पत्तियों में डालियों का पता नहीं चलता, वैसे ही उस गर्द में सेठजी की कार का उसे कुछ बोध न हुआ, पर उसका भी हृदय बोल रहा था कि हो-न-हो, यह सेठजी ही हैं। उसका चित्त कुछ स्वस्थ हुआ, और उसने अपने आस-पास की प्रकृति पर दृष्टि डाली। मीलों लंबे खेत जोते जा चुके थे, और उनके बीच में सड़कें कुट रही थीं। बिजली, तार और टेलीफ़ोन के खंभे खड़े हो चुके थे, और उन पर तार दौड़ाए जा रहे थे। गंदे पानी के निकास के लिये एक बड़ी नाली बनाई जा चुकी थी। यह नाली दूरी पर एक बड़े तालाब में मिलाई गई थी। जिसमें इस गंदे पानी को जमा करके और उसे फिर सिंचाई के लिये उपयोग में लाने का प्रबंध हो रहा था। इस हिस्से में भी बहुत-से अनेक प्रकार के मकान बनते हुए दिखाई पड़े।

पद्मा ने कहा—"बस, अब पानी आने की देर है। दो ही तीन महीने में यह स्थान नंदन-वन हो जायगा। यहाँ के-से वृक्ष, फल-फूल और क्षेत्र सारे भारत में न मिलेंगे। भारतीय पूँजी का सबसे बड़ा उपयोग बेशक यही है कि यहाँ बड़े पैमाने पर मशीन से खेती की जाय। कितने आश्चर्य की बात है कि यह बात सेठजी के सिवा और किसी भी धन-कुबेर को अब तक न सूझी थी। भारत के उद्धार का एकमात्र मार्ग यही है। मुझे विश्वास है, सेठजी का नाम इतिहास में भारतीय कृषि के उद्धारक के रूप में अमर रहेगा।"

पर रुक्मिणी को जान पड़ा, जैसे सेठजी यह सब आयोजन उसका और उसके पिता का उपहास करने के लिये कर रहे हैं। वह संसार का भ्रमण कर चुकी थी, और कनाडा आदि में बड़े-बड़े कृषि-फ़ार्म देख चुकी थी। उसका यह अनुभव था कि ऐसे कृषि-क्षेत्रों से पूँजी लगानेवालों के सिवा और किसी को कुछ लाभ नहीं हो सकता। क्योंकि शेष जनता मजबूर हो जाती है, और उसकी आनंद-पूर्वक गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है।

उसने कहा—"इसमें संदेह नहीं कि यदि सारे देश में ऐसे ही फ़ार्म

खुल जायँ, तो देश हरा-भरा और खुशहाल जान पड़ेगा, परंतु हमारी जनता में कोई जीवन न रह जायगा। वह सब-की-सब एक मशीन का पुर्ज़ा बन जायगी। पति जब काम से छुट्टी पाकर लौटेंगे, तब घरों के द्वार पर पत्नियों की मुस्किराहट के बजाय उन्हें मनहूसियत के साथ झूलते हुए ताले मिलेंगे, और उनकी स्त्रियाँ चलने में उनके समान तेज़ न होने के कारण उनसे भी पीछे पहुँचेंगी, और देखेंगी कि घर में अभी चिराग़ तक नहीं जला, तथा दिन-भर का थका-माँदा, भूखा पति चूल्हे में आग सुलगाने की अनधिकार चेष्टा कर रहा है। उनके लड़के शायद उनसे भी पीछे पहुँचें, क्योंकि थके रहने पर भी वे रास्ते में थोड़ा-बहुत बिना खेले न रहेंगे, और देर से पहुँचने के कारण मालिक के प्रतिनिधियों से भी अधिक मा-बाप की फटकार सहेंगे। इस प्रकार गृहस्थी में उन्हें कोई आनंद न रह जायगा। और, उस आनंद की प्राप्ति के लिये जितना कमाकर लावेंगे, उस सबकी शराब पी जायँगे।"

पद्मा बोली—"परंतु तब भी उन स्वतंत्रजीवी किसानों से मज़े में रहेंगे, जो अपना हल अलग चलाते हैं, परंतु ख़ाली पेट काम पर जाते और ख़ाली पेट वापस लौटते हैं। यह मैंने माना कि उनकी स्त्रियाँ गोबर से लीप-पोतकर घर स्वच्छ रक्खेंगी, उनके स्वागत में चिराग़ जला रक्खेंगी, और चूल्हा भी सुलगा रक्खेंगी, पर पकावेंगी क्या? उनके शरीर में मांस भी तो न होगा कि उसी को काटकर पका दें। वे और उनके बच्चे ख़ाली पेट सो जायँगे, और भूख से उन्हें नींद न आएगी। आनंद की प्राप्ति के लिये तंबाकू मिलनी तो दूर, उन्हें अन्न ही नसीब नहीं हो रहा है।"

रुक्मिणी ने एक दीर्घ निःश्वास ली। उसके सामने वह गाँव नाच गया, जहाँ उसने भूख के कारण मा के स्तन में दूध न रह जाने से नवजात बच्चों को मरते देखा था। पद्मा के कथन में उसे बहुत कुछ सचाई जान पड़ी। पर जो उपाय सेठजी ने सोचा है, और उसकी पद्मा ऐसी वकालत कर रही है, वह रुक्मिणी को मौजूदा हालत में भी बुरा

जान पड़ा। मनुष्य हाड़-मांस का बना पुतला है। उसमें विविध आकांक्षाएँ और इच्छाएँ हैं। उसे एक बड़ी मशीन का पुर्ज़ा बना देना, उसमें जो थोड़ा-बहुत जीवन बाक़ी है, उस पर भी कुठाराघात करना है। परंतु....। रुक्मिणी गंभीर चिंतन में लीन हो गई।

एकाएक उसके कान में पद्मा के ये शब्द पड़े, और वह चौंक-सी उठी।

"यह सेठजी की कार नहीं जान पड़ती।"

रुक्मिणी ने सामने की ओर देखा। एक तेज़ मोटर उनकी ओर बढ़ी आ रही थी। उसके पीछे गर्द का एक बादल छूटता जाता था। कार के पीछे भी कुछ लोग बैठे हुए जान पड़ते थे। मूर्ति के समान अटल एक मनुष्य उसे चला रहा था, पर उसकी बाह्य आकृति सेठजी की परिचायक नहीं थी। उसने कहा—"पद्मा बहन, कार चलाओ। यह सेठजी नहीं हैं।"

पद्मा ने गाड़ी स्टार्ट की। दूसरे ही क्षण दोनो मोटरें एक दूसरी के सामने आईं। दोनो पर बैठे हुए लोगों ने एक दूसरे की ओर देखा। रुक्मिणी को एक भयानक पुरुष की मनहूस आकृति दिखाई पड़ी, और वह कुछ शंकित-सी हुई। पद्मा ने कहा—"यह सूबा की कार है। वह स्वयं चला रहा है। कदाचित् सेठजी से मिलने जा रहा है।"

"कौन सूबा! नागल-राज्य का सूबा?"

"हाँ, सेठजी के पास प्रायः आता-जाता है। पर इसकी दृष्टि बिड़ाल की-सी है, और मुझे यह आदमी बिलकुल पसंद नहीं।"

रुक्मिणी ने कहा—"पद्मा, कार तेज़ करो। बहुत संभव है, यह आदमी मेरा ही पीछा कर रहा हो। चौबासा और आस-पास में किसान इसके जुल्म से त्रस्त हैं। मेरे पिता को इसी ने जेल में डाल रक्खा है, और मुझे इसी ने इस प्रकार भयत्रस्त कर रक्खा है। मुझे ताज्जुब है, सेठजी ऐसे-ऐसे आदमियों से मैत्री रखते हैं।"

पद्मा बोली—"पर तुमने देखा नहीं, उसका चेहरा कितना उतरा हुआ है। मुझे तो ऐसा जान पड़ा, जैसे वह बिलकुल मर गया हो, उसमें जान ही न हो। ओह! इसी आदमी से सेठजी तुम्हें बचाते फिर रहे हैं।"

रुक्मिणी ने कहा—"हाँ-हाँ। गाड़ी तेज़ करो। इसकी दृष्टि से ओझल हो चलो। मैं सारा क़िस्सा बताऊँगी।"

पद्मा ने कार को उसकी पूर्ण गति पर छोड़ दिया, और रुक्मिणी ने पीछे की ओर देखा। जहाँ तक वह देख सकी, उसे गर्द का एक बादल छाया हुआ मिला। उसके पार उसे कुछ न दिखाई पड़ा।

---

[१६]

जल के बाहर क्या हो रहा है, इसका सर कृपाशंकर और संग्रामसिंह को कोई पता नहीं था। उस दिन जब राजमहल के बाहर किसानों ने अपना प्रदर्शन किया था, और उच्च स्वर में नारे लगाते हुए अपनी बात कही थी, तब उनके कान में भी वह आवाज़ पहुँची थी। उसके बाद क्या हुआ? वे सब वापस चले गए या तोपों से उड़ा दिए गए, इसका उन्हें कुछ आभास न मिला।

सर कृपाशंकर आशावादी मनुष्य थे। उनका विश्वास था कि नेक-नीयती से किए गए कार्य का फल सदैव अच्छा होता है, और ऐसे कार्य के लिये जो कष्ट सहना पड़ता है, वह जनता में साहस और धैर्य की वृद्धि करता है। वे समूह के सुख-दुख को अपना सुख-दुख बनाने निकले थे। इसलिये उनका इस प्रकार सोचना स्वाभाविक था। परंतु मुखिया संग्रामसिंह समूहवादी न थे। उनके सामने सिर्फ़ अपनी समस्याएँ थीं। उन्हें सिर्फ़ अपने सुख-दुख का ध्यान था। अपने बाद वह अपने पड़ोसियों, परिचितों और गाँववालों की चिंता कर सकते थे। पर यहाँ जेल में आकर उन्हें पड़ोसी और परिचित, सभी भूल गए थे। उनकी कल्पना की चील अपने ही घर के चारो ओर मँडरा रही थी, और वह अपनी तीनो स्त्रियों तथा बच्चे के लिये चिंतित थे। इधर उन्हें विश्वास हो चला था कि वह इस जेल से छूटकर अब बाहर नहीं जा सकते। जिस प्रकार बिल्ली चूहे को खेला-खेलाकर मारती है, उनका खयाल है, जेल के अधिकारी उन्हें भी धीरे-धीरे मार डालेंगे। पानी में डूबता हुआ मनुष्य जिस प्रकार बचने की कोई आशा न रह जाने पर हाथ-

पाँव ढीले कर देता है, वैसे ही वह भी शिथिल हो उठे थे, और अत्यंत उदासी के साथ अंत समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। सर कृपाशंकर को छोड़कर जेल में उन्हें जितने भी मनुष्य मिले, सब निर्दयी, स्वार्थी और राक्षस-से प्रतीत हुए। जेल के अधिकारी उन्हें साक्षात् यमदूत-से जान पड़े।

सर कृपाशंकर और संग्रामसिंह, दोनो एक साथ बैठे बाध बट रहे थे। सबेरे ६ बजे से ही वे इस काम में जुटे थे, और दोपहर के खाने के समय थोड़ा विश्राम लेने के अतिरिक्त उन्होंने विश्राम न लिया था। ३५० गज़ उन्हें बटकर देना था, पर अभी २०० गज़ भी पूरा नहीं हुआ था। उनके करतलों में छाले पड़ गए थे, और कलाइयों में मोच-सी आ गई थी। शाम के पाँच बजने में अभी दो-तीन घंटे देर थी, पर तब तक यह काम पूरा हो जायगा, इसकी उन्हें आशा न थी। काम पूरा न होने पर कोड़े पड़ेंगे या काल-कोठरी में बंद होना पड़ेगा, यह भी वे जानते थे। अब तक संग्रामसिंह का ढंग यह था कि वह काम नहीं करते थे, और उसके लिये जो सज़ा मिलती थी, उसे भुगत लेते थे। उनका कहना यह था कि जब हर हालत में सज़ा मिलेगी ही, तब काम करके ही शरीर को क्यों थकाएँ। पर सर कृपाशंकर का यह मत था कि हमें नियमों का पालन यथाशक्ति करना चाहिए, और जो नियम कड़े हों, उन्हें बदलवाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसलिये वह जेल के नियमों के अनुसार स्वयं भी काम करते थे, और संग्रामसिंह को भी काम करने के लिये उत्साहित करते थे। आज दोनो सबेरे से ही बाध बटने बैठे थे, और सर कृपाशंकर यह भी देखना चाहते थे कि साधारण शक्ति का आदमी कितना बाध बट सकता है। उनका ख़याल था कि जब नियम ऐसा है, तब अवश्य इसके मुताबिक़ काम होता रहा होगा।

साढ़े चार बजे के क़रीब जेलर साहब उनकी बारिक में दाखिल हुए। उनके बाध नापे गए। अभी डेढ़ सौ गज़ भी नहीं पहुँचे थे।

जेलर साहब ने बिगड़कर कहा—"ऐसी सुस्ती, कोड़े के बग़ैर ये लोग नहीं दुरुस्त होंगे।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"आज हमने एक मिनट को भी दम नहीं लिया। जो काम आपने हमें दिया है, वह एक दिन में एक मनुष्य नहीं कर सकता। क्या आप अपने पुराने रिकार्ड में देखकर बता सकते हैं कि कभी किसी क़ैदी ने जितना आप चाहते हैं, उतना बाध बटकर दिया है?"

"अबे बुड्ढे! तू मेरा अफ़सर नहीं है, जो इस तरह की बातें करता है?"

"अच्छा, यदि कोई अफ़सर आ जाय, और इस तरह का सवाल कर बैठे, तो आप उसे कुछ तो जवाब देंगे ही।"

जेलर साहब बिगड़ खड़े हुए, और वार्डरों को हुक्म दिया—"टाँग दो इस बुड्ढे को, और पाँच कोड़े लगाओ।"

सर कृपाशंकर दीवार के सहारे टाँग दिए गए, और उन पर तड़ातड़ पाँच कोड़े पड़े। इसके बाद जेलर साहब का ध्यान संग्रामसिंह की ओर गया। वह बोले—"ऐसा अकड़बाज़ क़ैदी मैंने नहीं देखा। दो आदमी इसकी दाढ़ी पकड़कर उठाओ, और इसे इधर-उधर टहलाओ।"

संग्रामसिंह ने बैठे-ही-बैठे एक विचित्र तिरस्कार के भाव से जेलर साहब की ओर देखा। जेलर साहब ने कहा—"ओह! यह कितना गुस्ताख़ है।" उनकी पीठ पर जूते से एक ठोकर लगाते हुए बोले—"खड़ा हो! सुअर।"

संग्रामसिंह लेट रहे। संग्रामसिंह को उठाने के लिये जेलर साहब ने स्वयं आगे बढ़कर उनकी दाढ़ी पकड़ी, और तेज़ी से एक झटका दिया। संग्रामसिंह का सिर मुर्दे के सिर के समान एक ओर को घूम गया। पर एकाएक जेलर साहब बड़े ज़ोर से चौंक उठे।

वार्डरों ने आगे बढ़कर देखा कि क्या मामला है। जेलर साहब की तीन उँगलियाँ संग्रामसिंह के दाँतों के अंदर आ गई थीं, संग्रामसिंह ने बल-पूर्वक उनमें दाँत गड़ा दिए थे, और उन्हें काटकर चबा जाना चाहते थे। "हाय-हाय! बचाओ-बचाओ।" कहकर जेलर साहब चिल्ला उठे। दूसरे हाथ से जूता उठाकर उन्होंने संग्रामसिंह के मुँह पर पट-पट मारना शुरू किया, और वार्डरों ने भी संग्रामसिंह का सिर उठा-उठाकर जमीन पर पटक-पटक दिया, पर कोई परिणाम न निकला। लोगों को ऐसा जान पड़ा, जैसे संग्रामसिंह मर गए हों, और उनके दाँत इस तरह चिपक गए हों, जैसे मुर्दे के दाँत आपस में चिपक जाते हैं। एक वार्डर ने दूर खड़े होकर कहा—"हुजूर, इसमें जान नहीं है।"

जेलर साहब को मारे दर्द के सब कुछ भूल गया। वह संग्रामसिंह के सिर के पास बैठकर इस तरह विलाप करने लगे, जिस तरह कोई विधवा स्त्री अपने पति की लाश के पास बैठकर रोती है।

उसी समय जेल में राजा साहब ने प्रवेश किया। उनके पीछे दीवान साहब, सूबा और अन्य कई राज्य-कर्मचारी थे।

ये लोग सीधे उस स्थान पर आए। और, क्या हो रहा है, यह समझने में उन्हें देर न लगी। राजा साहब को देखकर जेलर साहब ने अपनी कराह की आवाज कुछ कम करने की चेष्टा की, और उठना चाहा, पर संग्रामसिंह अब भी मुर्दा बने लेटे थे, और जेलर साहब का हाथ उनके मुंह में जकड़ा हुआ था। सूबा ने राजा साहब के पास आकर उनसे कहा—"हुजूर, अब अपनी आँखों से देखें कि यह आदमी कितना बदमाश है!"

सूबा की बातों पर कोई ध्यान न देकर राजा साहब ने पूछा—"क्या मामला है!"

जेलर ने कहा—"हुजूर! इसने मेरा हाथ उछलकर अपने मुंह में भर लिया।"

"क्यों?"

"अब इसके पेट की बात मैं क्या जानूं। हाय! हाय!!"

जेलर साहब फिर संग्रामसिंह के सिर के पास बैठकर रोने लगे। दीवान साहब ने कहा—"हुजूर, पहले इसे छुड़ाना चाहिए।"

राजा साहब संग्रामसिंह के चेहरे की ओर झुके। दीवान साहब ने कहा—"हुजूर, आप उसके नजदीक न जायें। उस पर खून सवार है।"

राजा साहब ने इसकी परवा न की। उन्होंने संग्रामसिंह से प्रेम-पूर्वक कहा—"क़ैदी! मैं तुम्हारी सब शिकायतें सुनूँगा। कहो, तुम्हें क्या कष्ट है?"

संग्रामसिंह ने राजा साहब की ओर देखा। पर किसी मनुष्य में न्याय की भावना है, यह विश्वास उनके दिल से निकल गया था। उनका खयाल था कि इस क़सूर की सजा में मालूम नहीं, क्या यातनाएँ सहनी पड़ें। इसलिये अब चुप ही रहना अच्छा है। उनका खयाल था कि इस रूप में उन्हें लोग जल्दी मार डालेंगे, और यह उनकी एक क्षत्रिय की मौत भी होगी। लड़ते-ही-लड़ते मरना क्षत्रिय का धर्म है। लोहा न सही, जब तक नाखून और दाँत सलामत हैं, तब तक क्षत्रिय को लड़ना चाहिए।

जेलर साहब की उँगलियों से खून निकलकर संग्रामसिंह के मुंह के चारो ओर फैल रहा था, और जेलर साहब पीड़ा के मारे बेहोश-से हुए जा रहे थे।

दीवार से लटके हुए सर कृपाशंकर ने जोर से कहा—"संग्रामसिंह, हमारे राजा हमारे पास खड़े हैं। हमारे दुख-दर्द की कहानी ही इन्हें जेल में खींच लाई है। जेलर साहब को छोड़ दो, और उठ बैठो। राजा साहब न्याय करेंगे।"

राजा साहब और संग्रामसिंह, दोनो ने एक साथ सर कृपाशंकर की ओर देखा।

"यह कौन आदमी है?" राजा साहब ने पूछा।

"हुजूर, किसानों को इसी ने उभारा है।" सूबा बोला।

"हूँ।" राजा साहब की आज्ञा से वार्डरों ने तत्काल सर कृपाशंकर को खोला। बंधन-मुक्त होते ही सर कृपाशंकर सबसे पहले संग्रामसिंह के पास पहुँचे। उनके मुँह में उँगली डालकर उन्होंने बल-पूर्वक उनका मुँह खोला, और जेलर साहब का हाथ बाहर निकाला। उनकी एक उँगली संग्रामसिंह के मुँह में भी रह गई थी। अब वह उठकर बैठ गए थे, और राजा साहब की ओर संदेह-भरी दृष्टि से देखते हुए उस उँगली को इस प्रकार चबा रहे थे, जैसे कोई लड़का पौंडे की गँडेरी चूसता और चबाता है।

सर कृपाशंकर ने राजा साहब से संक्षेप में पूर्व-कथा कह सुनाई, और कहा—"कष्ट-सहन की एक सीमा होती है। मुझे दुःख है, मेरा साथी उस सीमा के पार नहीं जा सका, और अधीर हो उठा। उसके इस कार्य से मैं अत्यंत लज्जित हूँ। पशुता का बदला भी मैं प्रेम से लेना चाहता हूँ। यह आदमी, जो यहाँ आने से पूर्व अत्यंत सहृदय और उदार था, बेक़सूर पिटते-पिटते आज इस गति को पहुँच गया है। आखिर मनुष्य ही है। जेलर साहब ने इसे दाढ़ी पकड़कर खींचा, और यह व्यवहार यह सह न सका। पर मैं कह सकता हूँ कि यह उतना निर्दयी, उतना उद्दंड, उतना गिरा हुआ नहीं है, जितना आपका जेलर और सूबा है।"

"कौन, मैं?" सूबा ने कड़ककर कहा।

"हाँ, तुम! राजा के प्रतिनिधि होने के कारण तुम पर प्रजा की रक्षा का भार है। पर तुम उसके भक्षक बने हो। इस आदमी का क्या क़सूर है। यही न कि तुमने मेरी असहाय बेटी को अपना शिकार बनाना चाहा, उसे रात के अँधेरे में अपने नौकरों को अपहरण करने

के लिये भेजा, और इस आदमी ने जान पर खेलकर उस लड़की की रक्षा की। यह वीर है, तुम कायर हो। तुम्हारे राज्य में अधिकारी के रूप में रहते किसी भी स्त्री की इज्जत सुरक्षित नहीं कही जा सकती। तुम सूबा बनाए जाने लायक़ नहीं हो। मेरा खयाल है, तुम्हारी इन काली करतूतों की खबर राजा साहब को नहीं है।"

सूबा के मन में आया कि दृढ़ता-पूर्वक कह दे—यह आदमी कितना फ़रेबी और मक्कार है। पर सर कृपाशंकर की स्पष्ट और सत्य होने के कारण दृढ़ वाणी के सामने उसे बोलने का साहस न हुआ। राजा साहब ने उसकी ओर ग़ौर से देखा। सूबा ने अपना सिर नीचा कर लिया, और गुन-गुन करके कुछ कहा, जिसे शायद वह स्वयं भी सुन और समझ नहीं सका।

राजा साहब ने सब क़ैदियों को बुलाकर पूछा कि उन्हें क्या कष्ट है। पर जेलर साहब की गृद्ध्र-दृष्टि के सामने क़ैदियों को कुछ कहने का साहस न हुआ। कौन जाने, वे सच्ची बात कह दें, तो राजा साहब के जेल से बाहर जाते ही जेलर उनकी क्या दुर्दशा करे। सब क़ैदियों ने कहा—"सरकार! हमें यहाँ बहुत आराम है। इतना सुख हमें कभी अपने घर में भी नहीं मिला।" पर राजा साहब को ऐसा जान पड़ा, जैसे क़ैदियों के अंदर से स्वयं जेलर बोल रहा हो। उनकी बेबसी ने उन्हें द्रवित कर दिया। जेलर और अन्य अधिकारियों को उन्होंने हटा दिया। संग्रामसिंह तथा सर कृपाशंकर को भी हटा दिया, और क़ैदियों से कहा—"मैं तुम्हारा राजा हूँ। मुझे इस बात की फ़िक्र है कि तुम लोगों को अब आगे कोई कष्ट न हो। मुझसे निर्भय होकर अपना दुख-सुख कहो।"

जेलर और वार्डरों की निगाह से दूर होने तथा राजा साहब के मुख से ऐसे वचन सुनने से क़ैदियों का साहस कुछ बढ़ा, और उन्होंने अपनी रामकहानी कहनी आरंभ की। किस प्रकार उनसे काम लिया जाता है, कैसा रद्दी भोजन उन्हें मिलता है, रात में किस प्रकार वे घंटे-

घंटे पर जगाए जाते हैं, बात-बात में किस प्रकार उन पर मार पड़ती है, आदि बातें उन्होंने रो-रोकर राजा साहब से कहीं । राजा साहब देश-विदेश की सैर कर चुके थे। कई एक विदेशी जेल भी देख चुके थे। उनके मुक़ाबले में उन्हें अपने राज्य का यह जेल साफ़ नरक-सा प्रतीत हुआ। बहुत-से क़ैदी उन्हें ऐसे भी मिले, जिन्हें यह भी नहीं बताया गया था कि उनका क्या क़सूर है । केवल अधिकारियों की अप्रसन्नता के कारण वे जेल में ठूँस दिए गए थे । उन पर क़ायदे से कोई मामला न चला था। राजा साहब को अपने राज्य में न्याय की भी अवहेलना जान पड़ी। इधर क़ैदियों की यह दशा देखी, और उधर किसानों का यह प्रदर्शन वह देख चुके थे। इन सब बातों का उन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। जैसे किसी सुंदर बाग़ में भैंसे घुस पड़ते हैं, तो यह नहीं विचार करते कि क्या नष्ट करना चाहिए, और क्या बचाना चाहिए; सब पर मुँह मारते चले जाते हैं, वैसे ही राजा साहब को अपने राज्य के कर्मचारी जान पड़े। उन्हें सब स्वार्थी, निर्दयी और दंभी प्रतीत हुए। प्रजा की भलाई सोचने-वाला उन्हें कोई भी न मिला। उन्हें अनुभव हुआ, जैसे उनका राज्य-प्रबंध लुटेरों का एक दल है, और वह उस दल के सरग़ना। यही क्रम जारी रहा, तो विनाश अवश्यंभावी और अत्यंत निकट है। राजा साहब सिहर उठे। जिस विधाता ने जन्म से ही उन पर ऐसा महान् उत्तरदायित्व लादा था, उसने उन्हें ऐसा बेख़बर कैसे बनाया! उन्होंने अपने बीते जीवन पर एक दृष्टि डाली, मन-ही-मन अपने आपको भी एक बहुत बड़ा अपराधी घोषित किया, और पश्चात्ताप की अग्नि में उनका हृदय झुलसने लगा ।

इधर राजा साहब क़ैदियों के जंगल में इस प्रकार भटके हुए थे, उधर मौक़ा पाकर सूबा जेलर के साथ सर कृपाशंकर के पास पहुँचा। सूबा ने सर कृपाशंकर से कहा—"आप अपना बयान बदल दीजिए, मैं आपको चौबासा-जैसे दो-तीन गाँव और दूँगा, और नक़द जो कहिए, दूँगा।"

"मुझे धन का मोह नहीं है ।"

"किसी चीज़ का मोह आपको है ? किसी बात का ख़याल आप कर सकते हैं ?"

जेलर साहब ने कहा—"बुड्ढे आदमी, नासमझी मत करो। सूबा की बात मान लो। न मानोगे, तो सूबा का कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर तुम कहीं के न रहोगे ।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"मैं सुख नहीं चाहता। सुख से मैं ऊब गया हूँ। धन और संपत्ति की मैंने कभी परवा नहीं की। मैं इस राज्य में केवल दुःख भोगने के लिये बसा हूँ। कष्ट की कहानी ही मैंने सुनी थी, स्वयं कष्ट का अनुभव नहीं किया था। मैं आप लोगों का कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे उन कष्टों का अनुभव कराया, जो इस देश की जनता के कष्ट हैं । इन्हीं कष्टों की बदौलत आज मैं अपने देशवासियों के बहुत निकट आ गया हूँ। उनमें मिल गया हूँ। दुख-दर्द की कुछ और तसवीरें बाक़ी हों, तो मुझे दिखाइए। मैं सब देखना चाहता हूँ।"

सूबा ने अपनी कमर में बँधी तलवार म्यान से बाहर निकाल ली, और सर कृपाशंकर के गले के पास ले जाकर कहा—"बोलो, क्या चाहते हो ? मौत या ज़िंदगी ?"

"मौत को तो मैं बहुत पीछे छोड़ आया हूँ। अब मैंने ज़िंदगी शुरू की है। और, मेरी यह ज़िंदगी मुझसे कोई छीन नहीं सकता। बादल का बरसकर मिट जाना ही जीवन है। फूल का खिलने के बाद किसी देवता के चरणों पर चढ़ जाना ही जीवन है। मनुष्य का मनुष्य के लिये मर जाना ही सच्ची ज़िंदगी है।"

सूबा ने तलवार म्यान में रख ली, और जितना उग्र वेष उसने धारण किया था, उतना ही मृदुल होकर बोला—"स्वामीजी, आप-जैसा मनुष्य मैंने आज तक नहीं देखा। किसी को मैंने भय से वश में किया है, किसी को लालच से; किसी को प्रेम से और किसी को विनय

से। पर आप एक विचित्र मनुष्य मुझे मिले हैं। कृपा-पूर्वक बताइए, क्या कोई उपाय है, जिससे मैं आपको प्रसन्न कर सकूँ।"

"हाँ, एक उपाय है। अपने अपराधों के लिये माफ़ी माँगो, और सच्चे हृदय से इसके लिये प्रायश्चित्त करो।"

"मैं अपनी हार कभी नहीं स्वीकार कर सकता।"

"अपराध करते जाना और उन्हें छिपाने का प्रयत्न करना क्या जीवन की सबसे बड़ी हार नहीं है?"

सूबा ने सर कृपाशंकर की दाढ़ी पकड़ ली, और गुस्से से काँपते हुए कहा—"दुष्ट! लात के देवता बात से नहीं मानते।"

ठाकुर संग्रामसिंह अब तक चुपचाप ये सब बातें सुन रहे थे। सूबा को ग़ाफ़िल देखकर उन्होंने उसकी तलवार म्यान से खींच ली, और चाहा कि उसका सिर काटकर अलग कर दें। सर कृपाशंकर ने तत्काल उनका हाथ पकड़ लिया।

इसी समय उस कमरे में राजा साहब ने प्रवेश किया। ठाकुर संग्रामसिंह ने सूबा की तलवार फिर उसकी कमर से लटकती म्यान में रख दी, और सूबा ने भी सर कृपाशंकर की दाढ़ी छोड़कर राजा साहब की ओर देखा।

सूबा और जेलर साहब क्या कर रहे थे, यह समझने में राजा साहब को देर न लगी। उन्होंने सूबा को डाँटकर कहा—"कल सबेरा होने के बाद अगर तुम नागल-राज्य की सीमा के अंदर दिखाई पड़े, तो इसी जेल में बंद कर दिए जाओगे, और तुम्हें इन कृत्यों का बदला मिलेगा।" इसके बाद उन्होंने नायब जेलर को बुलाकर जेलर साहब से चार्ज ले लेने के लिये कहा, और उन्हें बरखास्त किया। फिर वह सर कृपाशंकर से बोले—"आप आज से मेरे क़ैदी नहीं, मेहमान हैं।" और संग्रामसिंह की ओर देखकर कहा—"और बहादुर किसान! तुम भी मेरे मेहमान हो।"

वह सबको साथ लेकर राजमहल में वापस चले गए।

---

[१७]

सेठ लक्ष्मीचंद ने नागल नगर में जैसे ही प्रवेश किया, राजमहल की घड़ी ने टन-टन-टन करके तीन बजाए। इस घंटे की आवाज़ के सिवा उन्हें और कोई शब्द न सुनाई पड़ा। सारा नागल नगर आधी रात तक नाचनेवाली नर्तकी की भाँति थककर सुप्त पड़ा था, और जन-शून्य सड़कों की बिजली की बत्तियाँ उसके कंठ-हार के समान चमक रही थीं। सेठजी सीधे राज्य के अतिथि-गृह के द्वार पर गए। लता-वृक्षों से आच्छादित यह एक सुंदर बँगला था। फाटक बंद था, इसलिये उन्होंने बाहर से मोटर की हार्न बजाई। अतिथि-गृह का चपरासी आँख मलता हुआ फाटक पर आया। सेठजी ने आज्ञा देने के स्वर में कहा—"फाटक खोलो।"

चपरासी ने द्वार खोल दिया, और वह अंदर गए। अतिथि-गृह में कोई आगंतुक नहीं ठहरा था। चपरासी ने पूछा—"चाय तैयार करूँ?"

"नहीं, मैं सोऊँगा। मुझे तड़के ही दीवान साहब से मिलना है।"

चपरासी उन्हें एक सोने के कमरे में ले गया। बिजली का बटन दबाते ही कमरा जगमगा उठा। उसमें एक सुंदर पलँग बिछा था, और कमरा अप-टु-डेट दर्शनीय वस्तुओं से सुसज्जित था। सेठजी पलँग पर ऐसे कूद पड़े, जैसे गर्मी से व्याकुल होने पर कोई व्यक्ति शीतल जल के कुंड में कूदता है। अपनी आँखें बंद करते हुए उन्होंने चपरासी से कहा—"रोशनी बुझा दो, और मुझे सोने दो।"

चपरासी ने उनकी आज्ञा का पालन किया। जब वह वहाँ से अपनी कोठरी में आया, तब उसने मन-ही-मन तर्क करना शुरू किया कि यह आदमी कौन हो सकता है ? इसके पास अतिथि-गृह में ठहरने का परवाना है या नहीं ? यदि नहीं है, तो उसने क्यों ठहराया ? फिर तीन बजे रात ! यह कोई कहीं आने-जाने का समय है। चपरासी एक तो नींद से जागा था, दूसरे सेठजी के रोब में वह कुछ ऐसा आ गया कि उसे कुछ पूछ-ताछ करने का साहस न हुआ। उसने अपने मन को यह कहकर समझाया कि अच्छा, सबेरा होने दो, सब पता लगाऊँगा, और सोने का प्रयत्न करने लगा। पर उसे नींद न आई। बरामदे में बैठकर वह जोर-जोर से प्रभात-काल का भजन गाने लगा।

सेठजी ने पुकारा—"चपरासी, मना करो। कौन गा रहा है ? मुझे सोने दो।"

बेचारा कम तनख्वाह का नौकर था। पता नहीं, अपनी रुचि के अनुसार गाते रहने का क्या फल निकले। वह चुप हो रहा, और मन-ही-मन इस नवागंतुक को कोसने लगा। जब सबेरा हुआ, और सेठजी न उठे, तब चपरासी कुछ चिंतित हुआ। यह आदमी, जो सबेरे ही दीवान साहब से मिलना चाहता था, इतना बेखबर क्यों सो रहा है। घर में बीबी-बच्चों को मारकर यहाँ आत्महत्या करने तो नहीं आया। एक अजीब कल्पित भय से वह काँप उठा, और पसीने-पसीने हो गया। उसे किसी काम से कहीं जाना होता था, तो नींद नहीं आती थी। वह निश्चय न कर सका कि यह आदमी जीवित है या मर गया।

जब माली और अन्य नौकर बँगले में काम करने आए, तब चपरासी की जान में कुछ जान आई। उसने सबसे नवागंतुक के विषय में बतलाया, और सलाह पूछी कि क्या करना चाहिए। माली ने कहा—"आजकल दरबार अपने कर्मचारियों से बहुत नाराज़ हैं। सुना नहीं, कल एक क़ैदी की शिकायत पर जेलर साहब नौकरी से हटा

दिए गए, और वह क़ैदी भी ऐसा नहीं, नर-मांस खानेवाला क़ैदी। जेलर साहब की उँगली काटकर रेवड़ी की तरह चबा गया। आज वह क़ैदी राजा साहब का मेहमान बना महल में मौज कर रहा है। पता नहीं, महल से निकलते ही किस पर हमला करे, और किसका मांस एक और नोच ले।"

इस बातचीत ने सेठजी की निद्रा भंग कर दी। वह अपने बिस्तर से पड़े-पड़े इनकी बातें सुनने लगे। एक दूसरे नौकर ने कहा—"और चौबासा के वह स्वामीजी भी छूट गए, जिन्होंने किसानों को बलवा करने के लिये उभारा था। और, सूबा को, जो राज्य की रक्षा में जी-जान से लगा था, हुक्म हुआ है कि वह चौबीस घंटे के अंदर राज्य के बाहर निकल जाय।"

"चौबीस नहीं, बारह।" माली ने कहा।

चपरासी ने कहा—"जब बड़े-बड़े राज्य-कर्मचारियों का यह हाल है, तब हम लोग तो ज़रा-सी भी शिकायत पर सीधे फाँसी पर लटका दिए जायँगे।"

इसी समय सेठ लक्ष्मीचंद ने पुकारा—"चपरासी !"

"हुज़ूर।"

चपरासी दौड़ा-दौड़ा अंदर गया। लक्ष्मीचंद ने पूछा—"चौबासा के स्वामीजी छूट गए ?"

"सुनता तो हूँ।"

"कौन कहता है ? उसे अंदर बुलाओ।"

चपरासी माली और उन सबको अंदर ले गया। सबों ने स्वामीजी और संग्रामसिंह के छूटने तथा महल में दरबार के मेहमान बनने की कथा बड़े रोचक ढंग से कही।

चपरासी ने कहा—"हुज़ूर ! आप लोग बड़े आदमी हैं, खता माफ़ हो, तो एक बात कहूँ।"

"कहो।"

"जब से राजा साहब ने उस लड़की को देखा है, वह बिलकुल बदल गए हैं। मैंने उसे इधर से जाते देखा था। मानो अप्सरा स्वर्ग से उतर आई हो। अब अगर उसमें बुद्धि होगी, तो इस रियासत पर वही राज्य करेगी। राजा साहब उसी से विवाह करेंगे।"

सेठजी कुछ चौंके, और उनके चेहरे पर आश्चर्य का भाव अंकित हो उठा।

माली बोला—"हुज़ूर, आश्चर्य न करें। यह बात जरूर है कि इस रियासत के राजा लोग सदा राजकन्या से ही ब्याह करते रहे हैं। परंतु हमारे नए राजा साहब बिलकुल बदले हुए आदमी हैं। इन्हें पुरानी चाल-ढाल एक भी पसंद नहीं। यह सब कुछ कर सकते हैं।"

सेठजी एक गंभीर चिंतन में लीन हो गए। रुक्मिणी कितनी सरल है, यह वह जानते थे। चिकनी-चुपड़ी बातों का उस पर असर हो सकता है, यह भी वह जानते थे। उन्हें जान पड़ा, जैसे उनके और रुक्मिणी के बीच में यह एक नई दीवार उठ रही है। दूसरे ही क्षण उन्हें अपने आप पर हँसी आई। रुक्मिणी उनके सिवा किसी की ओर कभी झुक नहीं सकती। उन्होंने इस निर्बल विचार को हृदय से निकाल देना चाहा। वह बिस्तर से उठ खड़े हुए, और चपरासी से पूछा—"बाथरूम दुरुस्त है? मैं स्नान करूँगा।"

"सब ठीक है।" चपरासी बोला।

सेठजी तत्काल स्नानादि से निवृत्त होकर और चपरासी को इनाम देकर जैसे ही उस अतिथि-गृह के बाहर निकले, उन्हें उस ओर आती हुई एक कार दिखलाई पड़ी। इस कार पर पद्मा और रुक्मिणी, दोनो बैठी थीं। दोनो ने दूर ही से उन्हें देख लिया था। वे मुस्किराती और कार की गति मंद करती हुई उनके निकट चली आ रही थीं। लक्ष्मीचंद ने फाटक के बाहर निकलकर उनका अभिवादन किया। रुक्मिणी ने

मोटर में बैठे-ही-बैठे उत्सुकता-पूर्वक पूछा—"पिताजी कैसे हैं, कुछ पता लगा?"

"सुना है, वह राजा साहब के मेहमान हैं।"

"और संग्रामसिंह?"

"वह भी।"

"आप गाड़ी में आइए। हम चलें, शीघ्र उनसे मिलें।"

सेठ लक्ष्मीचंद कार के पीछे बैठ गए। पद्मा ने फिर गाड़ी को स्टार्ट किया। रुक्मिणी मार्ग बतलाने लगी, और पद्मा कार चलाने लगी। सेठ लक्ष्मीचंद पीछे बैठे दोनो युवतियों का पृष्ठभाग अनुराग-भरी दृष्टि से देखते जाते थे। उस समय वे दोनो उन्हें एक-सी सुंदर प्रतीत हुईं। पर रुक्मिणी उन्हें अधिक प्यारी जान पड़ी।

एकाएक गाड़ी रुकी, और उनका ध्यान भंग हो गया। रुक्मिणी तत्काल मोटर से उतरी। उसे ज़मीन पर पहुँचा देख सेठ लक्ष्मीचंद भी ज़मीन पर जा पहुँचे। यद्यपि यह एक साधारण घटना थी, पर पद्मा का हृदय इस घटना से चूर-चूर हो गया। ओफ़! सेठजी उसके साथ क्षण-भर कार में बैठे भी नहीं रह सकते। रुक्मिणी के उतरते ही वह भी उतर गए। ओफ़! पुरुष का हृदय कितना स्वार्थी होता है। वह जिस स्त्री को चाहता है, उसी की तरफ़ पागल होकर दौड़ता है, और दूसरी उसके लिये अपना सर्वस्व ही क्यों न त्याग दे, उसकी ओर मुँह फेरकर देखता भी नहीं। पद्मा उदास हो गई, और कार के बाहर सिर निकालकर राजमहल की बाहरी दीवारों की कारीगरी देखने का प्रयत्न करने लगी। उसे जान पड़ा, जैसे उसका जीवन निरुद्देश है। नागल वह बिना प्रयोजन आई है। उससे प्रेम से दो बातें करनेवाला यहाँ कोई नहीं। रुक्मिणी दौड़कर प्राइवेट सेक्रेटरी के दफ्तर में पहुँची। लक्ष्मीचंद के जी में आया, वह भी उसके पीछे छाया की भाँति दौड़ जायँ, पर पद्मा को अकेली छोड़ना उन्हें अच्छा

न लगा। वह बोले—"पद्मा ! उतरो न, चुपचाप बैठी क्या सोच रही हो ?"

"आप जाइए, मेरी फ़िक्र न कीजिए। मैं यहाँ बैठी रहूँगी।"

पद्मा ने यह एक साधारण बात कही थी, पर उसका स्वर इतना भारी और बदला हुआ था कि सेठजी को उस पर दया आई। वह उसके निकट आकर बोले—"पद्मा ! तुम्हें क्या हो गया है ? तुम प्रसन्न क्यों नहीं हो ?"

पद्मा कुछ न बोली।

रुक्मिणी ने प्राइवेट सेक्रेटरी के कमरे से बाहर निकलकर पुकारा—"सेठजी, जल्दी आइए ! जल्दी !! और मिस पद्मा को भी लेते आइए। हम पिताजी के पास चलें।"

जल्दी में नवयुवक सेठ लक्ष्मीचंद को कुछ नहीं सूझा। उन्होंने कार का द्वार स्वयं खोलकर, मृदुलता-पूर्वक पद्मा का हाथ पकड़कर उसे सावधानी से नीचे उतारा। जब वह गाड़ी में उसे उतारने के लिये झुके थे, तब उनका मुख पद्मा के मुख के अत्यंत निकट आ गया था, और पद्मा उनकी साँसों को अपने कपोलों पर स्पर्श कर रही थी। यह जीवन में एक अत्यंत सुखकर अनुभव था। उसका हाथ सेठजी के हाथ में था। उसके मन में आया कि वह उठे न, और लक्ष्मीचंद उसे बल-पूर्वक उठाएँ, तथा उनकी बलिष्ठ बाँहों में इस प्रकार आबद्ध होने का मज़ा ले। पर उनकी साँस का स्पर्श होते ही उसके शरीर में रोमांच-सा हो आया, और उसे मालूम हुआ, मानो सेठजी उसके अधरों को चूमने जा रहे हैं। वह जल्दी में नीचे उतर आई, और उस कल्पित चुंबन के सुख से वंचित रह गई। पर उसका पश्चात्ताप बहुत कुछ कम हो गया। उसे जान पड़ा, जैसे वह धीरे-धीरे सेठजी को अपनी ओर आकर्षित कर लेगी। यह थोड़ी बात नहीं थी। सेठजी के हाथ का इशारा पाकर वह तुरंत उनके साथ वहाँ पहुँच गई, जहाँ रुक्मिणी खड़ी थी। वहाँ

से प्राइवेट सेक्रेटरी के साथ महल के विभिन्न भागों में होते हुए ये लोग उस कमरे में पहुँचे, जहाँ सर कृपाशंकर और मुखिया संग्रामसिंह थे। सर कृपाशंकर एक आरामकुर्सी पर लेटे थे, और कोड़े लगने से बदन में जो पीड़ा हो रही थी, उसे भुलाने की चेष्टा कर रहे थे। संग्रामसिंह को भी कम चोट नहीं आई थी, पर जेल से मुक्त हो जाने पर उन्हें सब कुछ भूला हुआ था, और शीघ्र ही अपनी स्त्रियों से जा मिलने की प्रसन्नता के आगे वह दर्द कुछ भी नहीं था।

एकाएक रुक्मिणी के साथ सेठ लक्ष्मीचंद और पद्मा को आया हुआ देखकर सर कृपाशंकर उनका अभिवादन करने के लिये उठ खड़े हुए। इतने ही समय में उनका चेहरा पीला पड़ गया था, और वह बर्षों के मरीज़-से प्रतीत हो रहे थे। रुक्मिणी ने उनके पास पहुँचकर कहा—"हाय ! पिताजी ! आपकी यह दुर्दशा !"

उसकी आँखों से बड़े-बड़े मोती निकल पड़े। सर कृपाशंकर ने पुत्री को अपने निकट खींचा, और उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा—"यह मुसीबत बीच में इसलिये झेलनी पड़ गई कि हम इसके लिये तैयार होकर न चले थे। पर जहाँ इतना कष्ट मिला, वहाँ एक नया अनुभव भी हुआ। किसान की समस्या केवल रोटी ही की समस्या नहीं, सम्मान-पूर्वक जीवन बिताने की भी समस्या है। और, मनुष्य के लिये सम्मान का प्रश्न रोटी से पहले का प्रश्न है। इसलिये जो कुछ हुआ, वह सर्वथा क्रम-बद्ध ही हुआ है। तुम्हें यह जानकर ख़ुशी होगी कि सूबा अपने स्थान से हटा दिया गया है, और अब उसे रियासत में आने की भी मनाही हो गई है।"

रुक्मिणी की समझ में अब आया कि सूबा इतना उदास क्यों था। उसने पद्मा की ओर देखा। पद्मा ने सर कृपाशंकर से मार्ग में आते समय सूबा के मिलने की बात कही, और ज़ोर से हँसी। सर कृपाशंकर ने कहा—"पद्मा, यह हँसने की बात नहीं है। सूबा इतना अत्याचारी क्यों हो गया

हैं ? हम शिक्षितों का काम है कि यह देखें, और ऐसा प्रयत्न करें कि दुबारा ऐसे पदों पर रहकर लोग इस प्रकार जुल्म करना पसंद न करें।"

रुक्मिणी ने सूबा के रियासत से निकल जाने की बात पर संतोष की साँस ली, और संक्षेप में सर कृपाशंकर से गाँववालों की दृढ़ता तथा अपनी विपत्ति की कहानी कह सुनाई। सर कृपाशंकर ने गद्गद होकर कहा—"बेटी, सत्य के पक्ष में सहन किया गया कष्ट कभी निष्फल नहीं जाता। विपत्ति जैसे आई थी, वैसे ही उसका अंत भी हो गया। अब हमारा आगे का मार्ग साफ़ है, और राज्य की ओर से हमें सब प्रकार की सुविधाएँ मिलेंगी।"

सेठ लक्ष्मीचंद ने रुक्मिणी की मर्यादा की किस प्रकार रक्षा की, यह सुनकर सर कृपाशंकर की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्होंने और भी गद्गद स्वर में कहा—"बेटी, लक्ष्मीचंद वीर और साहसी हैं। उनके साथ जो स्त्री रहेगी, उसे कभी दुख नहीं हो सकता। वह स्त्री का सम्मान करना जानते हैं, इसलिये जब उन्होंने मुझसे तेरे साथ विवाह करने का प्रस्ताव किया, तब मैंने कोई आपत्ति नहीं की।"

रुक्मिणी ने पिता की इस बात पर सिर नीचा कर लिया। उसने कोई उत्तर न दिया। यह चर्चा पद्मा को भी बहुत पसंद नहीं आई। केवल लक्ष्मीचंद के लिये यह प्रिय चर्चा थी, पर वह अकेले इसे जारी रखने में समर्थ न थे। सर कृपाशंकर ने विषय बदला, और सेठजी का कार-बार कैसा चल रहा, यह पूछा। सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"आप जानते हैं, प्राचीन हल-बैलों में मेरा विश्वास नहीं है। मेरा यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि विना बड़े पैमाने पर, वैज्ञानिक ढंग से, खेती किए भारत का उद्धार नहीं हो सकता। अपने इसी विश्वास के अनुसार आपके गाँव के पास ही मैंने भी एक प्रयोग आरंभ किया है। कई एक हवाई कुएँ तैयार हो गए हैं। हमें पानी की कमी न रहेगी। आपके गाँव के पास जो नदी सूखी पड़ी थी, वह भी आपको जल-पूर्ण मिलेगी।"

मुखिया संग्रामसिंह चुप बैठे थे। नदी के जल-पूर्ण होने की बात सुनकर बोले—"सेठजी, आपको धन्य है। आपने ईश्वर के भी कान काट लिए। मैं चाहता हूँ, कब यहाँ से चलूँ, और उस नदी में स्नान करूँ। उसमें कब तक पानी रहेगा ?"

"बारहो मास।"

"ओहो-हो !" मुखिया संग्रामसिंह अपना कुरता उतारने लगे। मानो नदी में स्नान करने जा रहे हों।

इसी समय एक सेवक ने आकर सर कृपाशंकर से कहा—"दरबार भोजन पर बैठे हैं, और आपको बुला रहे हैं।"

सर कृपाशंकर ने तत्काल कहा—"दरबार से कहो, तीन मेहमान और आए हैं, क्या वे भी आवें ?"

सेवक तुरंत जाकर वापस आया, और बोला—"हाँ, चलिए। सबको बुला रहे हैं।"

सब लोग राजमहल के भोजनालय की ओर रवाना हुए। सफ़ेद संगमरमर का फ़र्श था। थोड़े-थोड़े फ़ासले पर ऊन के कोमल आसन बिछे थे। आसनों के सामने संगमरमर की सुंदर चौकियाँ रक्खी थीं। उन पर सोने-चाँदी के बर्तनों में विविध पकवान रक्खे थे। राजा साहब अपने दरबार की परंपरा के अनुसार एक रंगीन रेशमी वस्त्र धारण किए हुए एक आसन पर बैठे थे। सर कृपाशंकर के साथ इस मंडली को देखकर वह उठ खड़े हुए, और हाथ जोड़कर सबका स्वागत किया, तथा विनम्रता-पूर्वक एक-एक व्यक्ति को एक-एक आसन पर बैठाला, और भोजन आरंभ हुआ। सर कृपाशंकर ने सेठ लक्ष्मीचंद, रुक्मिणी और पद्मा का राजा साहब से परिचय कराया।

परोसनेवाले आते, और दबे पाँवों चुपचाप वस्तुएँ रखकर चले जाते। राजा साहब जो रेशमी वस्त्र पहने थे, वह उनके कंधे पर भी पड़ा था,

पर उनकी गौरवर्ण की बलिष्ठ छाती और मांसल भुजाओं को ढक न सका था। उनका चेहरा भरा हुआ और अंगूर के समान सरस था। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें कभी रुक्मिणी और कभी पद्मा की ओर जाने को चंचल हो रही थीं। पर उन्होंने उनका समुचित नियंत्रण किया, और किसी पर उनका यह मनोभाव प्रकट न हो पाया।

इस भोजन के बीच में एक बार राजमाता स्वयं वहाँ आईं। उनका यह क़ायदा था कि वह रसोईं घर में जाकर नित्य कोई-न-कोई वस्तु अपने हाथ से बनाती थीं, और उसे स्वयं अपने पुत्र तथा उसके साथ खानेवालों को परोसती थीं। उनकी समझ में स्त्री का यह सबसे बड़ा कर्तव्य था, जिसका वह प्रत्येक अवस्था में पालन करती थीं।

स्वामीजी के सामने स्व-निर्मित वस्तु रखते हुए उन्होंने रुक्मिणी की ओर देखा।

"यही आपकी लड़की है?"

"हाँ।"

"उस रोज़ मैंने इसे सितार बजाते देखा था। इसका ब्याह अभी नहीं हुआ?"

"नहीं।"

"यह मेरे राज्य की रानी होने लायक़ है।"

राजा साहब और सेठ लक्ष्मीचंद, दोनों ने एक साथ रुक्मिणी की ओर देखा। वह सिर नीचा किए चुपचाप अपनी रोटी खाने में लगी थी। राजमाता के इस कथन के प्रति उसके चेहरे पर सेठजी को कोई विरोध का भाव नहीं दिखाई पड़ा। उनका कौर मुँह में ही रह गया। उन्हें जान पड़ा, जैसे उनके पैरों के नीचे से धरती खिसकी जा रही है, और वह तथा उनकी कृषि-संबंधी सारी बड़ी-बड़ी मशीनें उसी में समाई जा रही हैं।

उन्होंने साहस करके कहा—"इससे बढ़कर क्या बात होती? परंतु रुक्मिणी ने विवाह न करने की क़सम-सी खा ली है। यह विवाह नहीं करेंगी।"

"क्यों?" राजमाता ने पूछा।

"इन्हें देश-सेवा की धुन है। यह अपने पिता के साथ ग़रीबी का जीवन बिताने निकली हैं।"

"यह हमारी रियासत की लड़की नहीं है?" राजमाता ने आश्चर्य से पूछा।

सर कृपाशंकर सेठ लक्ष्मीचंद के पास ही बैठे थे। उन्होंने अपने पैर के एक अँगूठे से सेठजी का पैर दाबा। उनका तात्पर्य यह था कि सेठजी कोई ऐसी बात न कहें, जिससे उनका कोई भेद खुले।

सेठ लक्ष्मीचंद के हृदय में सर कृपाशंकर के प्रति एक प्रकार की अश्रद्धा का भाव उदय हुआ। यह व्यक्ति, जो संसार में महापुरुष के रूप में पुजा जा रहा है, इस प्रकार अपनी असलियत क्यों छिपाना चाहता है। इस सत्य के हामी का यह आचरण क्या असत्य पूर्ण नहीं है। अश्रद्धा के साथ ही सेठ लक्ष्मीचंद के हृदय में सर कृपाशंकर के प्रति अविश्वास का भाव भी उदय हुआ। उन्होंने सोचा, जो एक सत्य छिपा सकता है, वह दूसरा सत्य भी छिपा सकता है। कौन जाने, स्वामी नामधारी यह महा-पंडित अपनी पुत्री को मुझसे ब्याह करने के लिये मना कर रहा हो, और उसे इस रियासत की रानी बनाना चाहता हो। एक विचित्र प्रकार के कल्पित भय और अविश्वास से सेठ लक्ष्मीचंद त्रस्त हो उठे। उन्होंने कहा—"नहीं, यह आपकी रियासत की नहीं हैं।"

सर कृपाशंकर ने कहा—"जन्म बेशक इस रियासत में नहीं हुआ, पर अब इस रियासत से भिन्न हमारा अस्तित्व नहीं है। हम चौबासा के किसानों में इतना घुल-मिल गए हैं कि अब उनसे अलग नहीं हो सकते।"

राजा साहब ने एक बार सर कृपाशंकर और एक बार उनकी पुत्री को ध्यान से देखा। दोनो के चेहरे उन्हें परिचित जान पड़े। थोड़ी देर सोचने के बाद उन्होंने पूछा—"स्वामीजी, आप सर कृपाशंकर तो नहीं हैं? यदि आप सर कृपाशंकर हैं, तो मेरा ख़याल है, मैंने आपको विलायत में देखा है। मेरी कापी पर आपके दस्तख़त मौजूद हैं, और मिस रुक्मिणी! वह गाँव, वह समुद्र का तट तुम्हें याद है? वहाँ हम-तुम एक साथ नाच चुके हैं।"

सेठ लक्ष्मीचंद को एक नई बात मालूम हुई। राजा साहब के प्रति उनके हृदय में ईर्ष्या की आग धधक उठी। वह रुक्मिणी के मुख की ओर देखने लगे कि वह क्या कहती है।

रुक्मिणी ने सेठ लक्ष्मीचंद की ओर देखा। उनकी मनोव्यथा को उसने उनके चेहरे पर अंकित देखा। उसके मन में आया कि कह दे—सेठजी, मैं तुम्हारी हूँ, व्यर्थ चिंता न करो। पर यह उपयुक्त अवसर न था। फिर भी उसने सेठजी को व्यर्थ चिंतित होने से बचाना चाहा। वह बोली—"राजा साहब, इसमें संदेह नहीं, मैं इँगलैंड में थी, और संभव है, आपके साथ भी नाचने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ हो। पर मैं सबसे अधिक सेठजी के साथ नाची थी, और एक समय तो ऐसा आया था, जब मैं अपने आपको भूल-सी गई थी।"

लक्ष्मीचंद का चित्त कुछ शांत हुआ। राजमाता ने सर कृपाशंकर के पास आकर और उन्हें ग़ौर से कुछ क्षण देखने के बाद कहा—"स्वामीजी, सच बताइए, सर कृपाशंकर आप ही हैं?"

"हाँ, वह बदनाम मनुष्य मैं ही हूँ। मुझे वह घड़ी याद है, जब राजा साहब ने मुझसे मेरा हस्ताक्षर माँगा था। उस समय हस्ताक्षर लेनेवालों की बड़ी भीड़ थी, पर पता नहीं क्यों, मैंने राजा साहब का पक्षपात किया, और सबसे पहले मैंने इन्हीं को हस्ताक्षर दिया।"

"मुझे भी वह समय याद है।" राजा साहब ने हँसकर कहा।

"आप मेरी रियासत में छिपकर क्यों आए? प्रकट रूप से क्यों न आए?" राजमाता ने पूछा।

सर कृपाशंकर ने संक्षेप में उनके सामने अपनी कठिनाइयाँ रक्खीं, और कहा—"इस समय मैं सबसे अधिक यश से घबराता हूँ। लोगों के मुख से अपनी वाहवाही सुनते-सुनते मैं ऊब गया हूँ। छिपकर न आता, तो इससे कैसे बचता। भले-बुरे की पहचान कैसे होती। और, समाचार-पत्रों के उन प्रतिनिधियों से, जो मेरे समय पर दीमक के समान फिर-फिर लगते हैं, कैसे पिंड छुड़ाता।"

राजमाता ने एक ठंडी साँस ली। सार्वजनिक सेवा और ख्याति भी क्या वस्तु है। वह मनुष्य को अपना व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करने के अयोग्य बना देती है। कुछ सोचने के बाद वह फिर बोलीं—"स्वामीजी, आपके ग्रंथों को पढ़कर मैं तो बिलकुल बदल गई हूँ। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, मानो सारा विश्व मेरा घर हो, और सारे प्राणी मेरे भाई-बंद हों। मेरे जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन करनेवाले मेरे अज्ञात गुरुदेव! मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ!"

सर कृपाशंकर ने कहा—"देखिए, आपने अब मेरे साथ अन्याय करना आरंभ किया। आप मुझे अपने से इतना दूर क्यों कर रही हैं। सब मनुष्य समान हैं। सब सबके गुरु हैं। अभ्यास से सब मनुष्य सब कुछ बन सकते हैं। एक ही मनुष्य सब काम नहीं कर सकता, इसलिये विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न मनुष्य विशेष योग्यता प्राप्त करके एक दूसरे की परस्पर सहायता करते हैं, और सच पूछो, तो आजकल दिमाग़ से काम करनेवालों की उतनी ज़रूरत नहीं, जितनी हाथ से काम करनेवालों की। हमारे देश में आदिकाल से ही लोग दिमाग़ से काम करते आए हैं। वेद, पुराण, उपनिषद् रचनेवालों ने मोटे काम को हेय समझा। आज इसीलिये हम अकर्मण्य बन गए और भूखों मर रहे हैं। मेरा ख़याल है, जो मेहतर सड़क बटोरता है, वह उतना ही ऊँचे दर्जे का देश-सेवक है, जितना वह

व्यक्ति, जो राजसभा में विराजमान होकर तरह-तरह की बातें सोचता और लोक-कल्याण के लिये क़ानून बनवाता है।"

राजमाता सर कृपाशंकर की बातों में लीन हो गईं। उन्होंने कहा—"स्वामीजी! मेरी बड़ी इच्छा थी कि सब तीर्थ कर आऊँ, पर अब सोचती हूँ कि तीर्थ तो अपने घर में ही है। अपने दरिद्र जनों की सेवा ही सबसे बड़ी ईश्वर-पूजा है। क्या आप यह आज्ञा दे सकते हैं कि मैं भी आपके साथ चलकर उसी गाँव में बसूँ, और जो हो सके, किसानों के लिये करूँ?"

"इससे बढ़कर किसानों के लिये और क्या सौभाग्य की बात हो सकती है कि स्वयं राजमाता उनके बीच में बसें, और उनके दुख-सुख में भाग लें।"

"अच्छी बात है। मैं आपके साथ चौबासा चलूँगी।"

भोजन से निवृत्त होकर सब लोग राजा साहब के बैठने के सुंदर, सुसज्जित कमरे में आए। राजमाता के इच्छानुसार एक सितार मँगाया गया, जिसे बजाकर रुक्मिणी ने एक अत्यंत मनोहर भजन गाया, जिसमें सब तन्मय हो गए।

दोपहर के बाद सर कृपाशंकर, रुक्मिणी और संग्रामसिंह के साथ, चौबासा के लिये रवाना हुए, और लक्ष्मीचंद तथा पद्मा अपने कृषि-फ़ार्म पर गए। राजा साहब उन सबको महल के बाहर तक पहुँचाने आए, और बिदा होते समय कहा—"किसानों को सुखी बनाने के लिये आप जो भी उपाय कर सकते हों, अवश्य करें। मेरे राज्य के सब कर्मचारी आपके साथ सहयोग करेंगे। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपने इस परमोपयोगी कार्य के लिये मेरा राज्य चुना है। शीघ्र ही मैं चौबासा आकर आपके दर्शन करूँगा।"

कुछ दूर तक ये सब लोग सेठ लक्ष्मीचंद की दोनो कारों पर एक साथ गए। जब दोनो के रास्ते अलग हुए, तब सेठ लक्ष्मीचंद, जिनकी कार आगे थी, रुक्मिणी की कार के बराबर लाकर बोले—"रुक्मिणी, मैं तुम्हें

और तुम्हारे पिता को परसों अपने यहाँ आने के लिये आमंत्रित करता हूँ। भूलना मत। आना अवश्य।"

रुक्मिणी कार चला रही थी। उसने कहा—"कोशिश करूँगी।"

पीछे से संग्रामसिंह बोले—"और सेठजी, मुझे नहीं बुलाओगे?"

संग्रामसिंह ने पद्मा की ओर देखा। पद्मा मुस्किराई, और बोली—"आप अवश्य आइएगा। पर शर्त यह है कि अपने बेटे को भी लाइएगा।"

रास्ते अब स्पष्ट रूप से अलग-अलग हो गए, और विशेष बातें न हो सकीं। सेठ लक्ष्मीचंद मूक भाव से जब तक देख सके, रुक्मिणी की ओर देखते रहे, मानो कह रहे थे—रुक्मिणी! मुझे भूलना मत। पर रुक्मिणी का चित्त इधर नहीं था। वह जल्दी-से-जल्दी गाँव पहुँचकर वहाँ के उन नंगे-धड़ंगे बच्चों में खो जाना चाहती थी।

जब रुक्मिणी की कार आँख से ओझल हो गई, तब पद्मा ने सेठजी पर अपना एकमात्र अधिकार समझकर कहा—"इस समय आपको सबसे अधिक अपने केंद्र में रहने की जरूरत थी। मिनट-मिनट पर वहाँ आपकी जरूरत पड़ सकती है।"

पद्मा पीछे की सीट पर बैठी थी, और वहीं से यह बात कह रही थी। सेठजी ने उसकी ओर देखा, और कहा—"पद्मा, आगे आ जाओ।"

---

[१८]

चौबासा अब वह चौबासा नहीं रहा। पतझड़ के बाद वृक्षों में जैसे नवीन पत्तियाँ निकलती हैं, ग्रीष्म के बाद जैसे वर्षा आने पर प्रकृति हरित परिधान धारण करती है, वसंत में जैसे वन-उपवन कुसुमित होते हैं, विवाह के समय नव-वधू जैसे नवीन वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत होकर एक नवीन जीवन में प्रवेश करती प्रतीत होती है, कुछ-कुछ वैसी ही अवस्था अब चौबासा की हो रही थी। सूबा का अत्याचार उस गाँव के लिये वरदान सिद्ध हुआ। जिस दिन उस गाँव में आग लगी थी, और ग्रामवासी घोड़ों की टापों से रौंदे गए थे, उस दिन को आज पूरा एक वर्ष हो गया। चौबासा-निवासी आज उसी दिन की वर्ष-गाँठ मनाने में संलग्न हैं। सर कृपाशंकर के लाख प्रयत्न करने पर भी इस गाँव की यह अभूतपूर्व जागृति समाचार-पत्रों से छिपी न रही, और वह स्वयं भी अप्रकट न रह सके। जिस दिन राजा साहब ने उन्हें पहचाना था, उसके दूसरे ही दिन भारत के प्रमुख पत्रों में यह प्रकाशित हो गया कि सर कृपाशंकर कहाँ हैं, और क्या कर रहे हैं। उसी समय से उन्हें पत्र-प्रतिनिधि परेशान करने लगे थे, और आज तो यह गाँव पत्र-प्रतिनिधियों से भरा पड़ा है। उनसे बचने की जब कोई सूरत न देखी, तब सर कृपाशंकर ने उन सबको एक साथ बैठाकर उन्हें अपना वक्तव्य सुनाने का निश्चय किया।

उनका यह वक्तव्य सुनने से पहले पत्रकारों ने गाँव को एक बार घूमकर देख लेना चाहा, जिससे उनकी बातें समझने में उन्हें कठिनाई न हो। इसके लिये उन्होंने रुक्मिणी को पकड़ना चाहा। रुक्मिणी

से अच्छा गाइड उन्हें मिल भी नहीं सकता था। रुक्मिणी उस समय गाँव के बच्चों को पढ़ा रही थी। एक पेड़ के नीचे उसकी पाठशाला थी। उसकी पाठशाला में लड़के-लड़कियाँ दोनो थे। सब साफ़-सुथरे और स्वस्थ दिखाई पड़ रहे थे। उसका आज का पाठ गेहूँ के ऊपर था। पढ़ाने की सामग्री अजीब थी। एक मिट्टी की तश्तरी में गेहूँ के कुछ दाने थे, दूसरी में कुछ गेहूँ उगे हुए थे। उसके पास ही एक गमले में गेहूँ के दो-तीन हरे पौदे उगे हुए थे। दूसरे गमले में एक पका पेड़ था। उसके पास ही एक तश्तरी में गेहूँ का मसला हुआ डंठल और बाली थी। फिर और-और तश्तरियाँ थीं, जिनमें आटा, सूजी, दलिया, रोटी, पूरी इत्यादि थीं। पास ही एक वर्ग गज के लगभग लंबा-चौड़ा खेत था, जो बिलकुल गेहूँ बोने के लिये तैयार बनाया गया था। इस पाठ को रुक्मिणी ने महीनों पहले से तैयार किया था।

पत्रकार लोग वहाँ आकर चुपचाप खड़े हो गए, और रुक्मिणी का पढ़ाना देखने लगे। रुक्मिणी ने एक लड़के से तश्तरी में गेहूँ के जो दाने रक्खे थे, उन्हें दिखाकर पूछा—"यह क्या है, जानते हो?"

"गेहूँ।"

"किस काम आता है?" उसने दूसरे की ओर दृष्टि फेरी।

दूसरा लड़का उठा। तश्तरी के पास पहुँचा, और कुछ दाने अपने मुँह में रखकर बोला—"इस काम।"

सब लड़के-लड़कियाँ हँस पड़ीं—"ग़लत! ग़लत! जब पेड़ा और जलेबी सामने हो, तब इस तरह का जवाब देना चाहिए। कच्चा गेहूँ कौन खाता है?"

"ठीक! किस तरह खाया जाता है?" रुक्मिणी ने पूछा।

"उसे पीसते हैं। आटा बनाते हैं। रोटी, पूरी, कचौरी और हलुआ बनाते हैं।" बालक-बालिकाओं ने अलग-अलग रक्खी तश्तरियों में चीज़ें दिखलाईं।

रुक्मिणी ने फिर प्रश्न किया—"गेहूँ है क्या?"

एक लड़के ने कहा—"पेड़।"

इस पर सब लड़के जोर से हँस पड़े—"हो-हो-हो! पेड़ के नीचे तो हम सब बैठे हैं। गेहूँ ऐसा कहाँ होता है? उसमें डालियाँ कहाँ हैं?"

दूसरा लड़का बोला—"पौदा।"

कुछ ने उसकी ओर देखा, मानो वे यह कहना चाहते हों कि तुम ठीक कह रहे हो। पर कुछ ने फिर आश्चर्य प्रकट किया, और कहा—"पौदा नहीं, गेहूँ एक तरह की घास है, जिसका पत्ती-डंठल जानवर खाते हैं, और दाना आदमी।"

"गेहूँ कब बोया जाता है?"

"कातिक में।"

"तुम गेहूँ बो सकते हो?"

"हाँ-हाँ।"

दो-तीन लड़के उठे, और उन्होंने बीजों को तैयार खेत में बो दिया।

इसके बाद रुक्मिणी ने गेहूँ के बारे में बहुत-सी बातें बतलाईं। कैसे मनुष्य ने उन्हें पहचाना, कैसे उसकी खेती आरंभ हुई, कहाँ-कहाँ यह होता है, आदि-आदि।

पाठ समझाने पर उसने बालकों को छुट्टी दे दी, और पत्रकारों से बोली—"ये किसानों के बालक हैं, इसलिये इनके पाठों में मैं कृषि-संबंधी विषय अधिक रखती हूँ। जब मैं इस गाँव में आई थी, तब यहाँ सिर्फ़ एक आदमी पढ़ा था। आज आपको ५० सैकड़ा ऐसे स्त्री-पुरुष मिलेंगे, जो काम चलाऊ लिख-पढ़ सकते हैं, और जोड़-बाक़ी जानते हैं। लड़कों को मैं पहले गिनती सिखाती हूँ, क्योंकि इसकी ज्यादा जरूरत पड़ती है, और लिखना-पढ़ना बाद को।"

पत्रकारों ने कहा—"हम आपके इस गाँव की सैर करना चाहते हैं।"

"शौक़ से! आइए।"

रुक्मिणी उन्हें लेकर चली। मार्ग में उसने कहा—"जब हम पहले-पहल इस गाँव में आए थे, तब यह गाँव बहुत गंदा था। जगह-जगह कूड़ा और पाख़ाना-पेशाब पड़ा रहता था। अब ग्रामवासी इन सब चीज़ों को गढ़ों में गाड़कर रखना सीख गए हैं, और उन्हें इनका इस प्रकार खाद बनाकर उपयोग में लाना मालूम हो चुका है।"

कुछ दूर जाने पर वह एकाएक रुकी, और एक मकान के द्वार पर खड़ी होकर बोली—"इस गाँव के लोग पहले कड़ुआ तेल भी बाजार से खरीदकर लाते थे। अब वे स्वयं तेल बनाते हैं। अंदर जाकर देखिए, कोल्हू चल रहा है।"

पत्रकारों ने अंदर जाकर चलते हुए कोल्हू को देखा। जब वे वहाँ से आगे बढ़े, रुक्मिणी ने कहा—"आपके दोनो ओर जो खेत हैं, इनमें कपास बोई गई थी। इस वर्ष इस गाँव के लोग अपनी जरूरत के वस्त्र स्वयं बना लेंगे।" उसने कई एक घरों में कपास के रक्खे हुए ढेर और चलते हुए चरखे दिखाए।

पत्रकारों ने देखा, सब घर यद्यपि कच्ची मिट्टी के हैं, और उन पर छप्पर पड़े हैं, पर वे सब काफ़ी हवादार हैं, और उनमें खिड़कियाँ तथा दरवाज़े भी यथेष्ट हैं। उन्होंने यह भी देखा कि एक स्थान पर चार-पाँच से अधिक घर नहीं हैं, और उन घरों के बीच में एक घिरा हुआ मैदान है, जिसमें स्त्रियाँ बैठ सकती या बच्चे खेल सकते हैं। इसके बाद उसने उन्हें गाँव का कर्घा, गुड़ बनाने का स्थान और ढोरों के रहने की जगहें दिखलाईं। इस प्रकार गाँववालों की जरूरत की ये सब छोटी-मोटी बातें दिखाती हुई वह उन्हें अपने पिता की कुटी में ले आई, और उसके भीतर प्रवेश करने से पूर्व बोली—"इस गाँव में कोई ऐसी वस्तु आपको न मिलेगी, जिसे आप दर्शनीय, नवीन या आश्चर्य-जनक कह सकें, और जिनका आप अपने पत्रों में जिक्र कर सकें। पर इस गाँव की सफ़ाई,

गाँववालों का स्वास्थ्य और उनकी बदली हुई रहन-सहन अवश्य उल्लेखनीय है।"

पत्रकारों ने देखा, सर कृपाशंकर का वह स्वास्थ्य नहीं है, जैसा पहले था, पर वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसन्न दिखाई पड़े। वह एक मोटा वस्त्र पहने उस समय एक कंबल पर बैठे चरखा चला रहे थे। रुक्मिणी ने पास ही दो-तीन कंबल और बिछाए, और सर कृपाशंकर का अभिवादन करते हुए उन पर पत्रकार लोग बैठे।

सर कृपाशंकर ने कहा—"मुझे विश्वास था, मेरी यह मूक भाषा आप समझ लेंगे, और मुझे अपनी ओर से कुछ न कहना पड़ेगा। पर आप लोग ठहरे पत्रकार। आप तो चाहेंगे कि पेड़ आपसे बतलाए कि वह क्यों खिलता है, कोयल आपसे बतलाए कि वह क्यों और क्या गा रही है, नदी आपसे कहे कि उसके प्रवाह का उद्देश्य क्या है? परंतु आज मैं उसी पेड़, उसी कोकिल और उसी नदी की भाँति अपने भावों को कृत्रिम शब्दों द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। यदि आप मेरे हाथ में पड़े इस चरखे की पुकार सुन सकते, यदि आप इस गाँव में गड़े कोल्हू के पटरे पर क्षण-भर बैठ सकते, यदि आप उस सामने गड़ी चक्की में हाथ लगा सकते, यदि आप अपने रहने का मकान स्वयं बना सकते, अपने खाने का भोजन स्वयं तैयार कर सकते, अपने पहनने के कपड़े स्वयं कात, बुन और सी सकते, तो आज हमारा देश इतना दरिद्र न होता। हम दूसरों के कितने मुहताज हो गए हैं, अपने गृह-उद्योग-धंधों को छोड़ देने के कारण हम उस आलसी फ़क़ीर की भाँति अपने घर को उजाड़कर पड़े हैं, जो चाहता है कि कोई राह चलता आदमी उसके मुँह में भोजन डाल दे। हम स्वाधीन होना चाहते हैं। पर हममें बल क्या है? ख़ाली पेट और ख़ाली हाथ से कोई समूह कभी स्वाधीन बना है? विदेशी व्यापार ने मकड़ी के जाले के समान एक अजीब ताना-बाना हमारे देश पर बुन रक्खा है, और उसमें हमारे देश की आत्मा मक्खी के समान पड़ी छटपटा रही है। हम उस ताने-बाने को तोड़ नहीं सकते, पर उससे बचकर

चल सकते हैं। उससे बचना तभी संभव है, जब हम विद्वान्, प्रोफ़ेसर, कवि, लेखक, दार्शनिक न बनकर सिर्फ़ किसान बनें, और उन सब गृह-धंधों को फिर से जीवित करें, जो किसी समय हमारे देश में प्रचलित थे, और जिनकी बदौलत यह मिट्टी की धरती विश्व में स्वर्णभूमि के नाम से विख्यात थी। जब सारे देश में गृह-धंधों का प्रचार हो जायगा, तब विदेशी व्यापार का वह ताना-बाना, जो हमारे गलों को कसता जा रहा है, ढीला पड़कर टूट जायगा, और हम मरने से बच जायँगे। यही मेरा वक्तव्य है, यही मेरा संदेश है। इससे अधिक अब न मैं सोच सकता हूँ, न सोचना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है, मेरी यह बात नगरों के शिक्षित जन भले ही उपेक्षा के भाव से सुनें, और इसका उपहास करें, पर गाँवों की ग़रीब जनता इसका हृदय से स्वागत करेगी, और इस पर अमल करेगी। उसे सिर्फ़ एक नमूना चाहिए, वह मेरे इस गाँव के रूप में उसे मिल जायगा।"

सर कृपाशंकर चरखा चलाते जाते थे, और अपनी बात कहते जाते थे। एकाएक चरखे का सूत टूट गया, और उनकी बात का सूत्र भी वहीं समाप्त हुआ। उन्होंने सूत को फिर जोड़ा, और कहा—"अब आप कृपा-पूर्वक मेरे हृदय की मूक भाषा को सुनें।" वह गंभीर हो उठे, और पूर्ण मनोयोग से चरखा चलाने लगे। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो उनकी सहायता करने के लिये पैंतीस करोड़ भारतीयों ने अपनी बाँहें बढ़ा दी हैं, और उनके चरखे की मूठ को पैंतीस करोड़ हाथ एक साथ मिलकर घुमा रहे हैं।

उस समय पत्रकारों को ऐसा जान पड़ा, मानो सर कृपाशंकर के हाथ में पड़ा यह अजीब यंत्र कल-कारखानों को तोड़ता, बंदरगाहों की रोशनी बुझाता और बड़े-बड़े जहाज़ों को डुबोता हुआ अपने साथ इस पृथ्वी को ही नहीं, ग्रह-उपग्रह और सूर्य, सभी को घुमाता हुआ एक परम प्रकाशमान तारे के समान भारत के गगन में उदित हो उठा है। वे सब

आश्चर्य-चकित हो उठे। उनकी आँखों में वह भारत नाच गया, जब यहाँ जनक-जैसे हरवाहे और कृष्ण-जैसे चरवाहे थे।

उसी समय एक अजीब कोलाहल ने पत्रकारों का ध्यान भंग किया। हज़ारों किसान-स्त्री, पुरुष, लड़के नागल राज्य की जय! राजमाता की जय!! राजा साहब की जय!!! चिल्लाते हुए उस रास्ते से चले आ रहे थे। सर कृपाशंकर ने कहा—"राजा साहब की सवारी आ रही है। चलिए, हम लोग भी उनका स्वागत करें।"

सर कृपाशंकर की यह बात समाप्त भी न हुई थी कि मुखिया संग्रामसिंह वहाँ आ पहुँचे। कंधे पर वह उसी प्रकार अपने लड़के को बैठाले हुए थे। कमरे में आते ही वह बोले—"स्वामीजी, कल मैंने सेठ लक्ष्मीचंद का मीलों फैला कारबार देखा है। मेरी तो आँखें खुल गईं। जी में आता है, वहीं जा बसूँ। सेठजी का कहना है कि स्वामीजी ने तमाम ज़िंदगी सपना देखा है। यह उनका नया सपना है।"

पत्रकारों को ऐसा जान पड़ा, जैसे सर कृपाशंकर ने उन पर कोई जादू कर दिया हो, और यह अजीब देहाती उन्हें झाड़-फूँककर अच्छा करने आया हो। पर इस कोलाहल ने उन्हें अधिक सोचने का मौक़ा न दिया, और वे सर कृपाशंकर के साथ बाहर निकल आए। संग्रामसिंह ने एक पत्रकार के कंधे पर अपने लड़के को बैठालकर कहा—"ज़रा इसे सँभालिए तो, मैं अपनी बीबियों को भी बुला लाऊँ। मुझे क्या खबर थी कि राजा साहब आज ही आ जायँगे।"

बेचारा अजनबी पत्रकार इस व्यवहार के विरोध में कुछ कहने ही जा रहा था कि संग्रामसिंह वहाँ से ग़ायब हो गए, और लड़का ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। अपने पत्रकार मित्र को इस मुसीबत में देखकर शेष सब पत्रकार ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे। रुक्मिणी भी मुस्किराई। पर उसने कहा—"आप लोग यह देख सकते हैं कि यहाँ का जीवन कितना अकृत्रिम है। अपरिचितों से भी यहाँ के लोग इस तरह मिलते हैं, मानो उनके जन्म के साथी हों।"

वह पत्रकार लड़के को अपने कंधे से ज़मीन पर खड़ा करने का प्रयत्न करता हुआ बोला—"बाज़ आया ऐसे जन्म के साथी से।"

पर लड़का उससे लिपट गया, और ज़मीन पर उतरने से उसने साफ़ इनकार कर दिया। उस पत्रकार की मुसीबत और भी बढ़ी, और वह बहुत झल्लाया।

गाँव के बाहर एक बहुत बड़े मैदान में गाँववाले फूल-मालाएँ आदि लेकर राजा साहब का स्वागत करने को जमा हुए। धीरे-धीरे राजा साहब अपनी परंपरा के अनुसार राजसी ठाट-बाट में आते हुए दिखाई पड़े। उनके आगे बैंड बजता आ रहा था। बैंड के पीछे सुंदर नर्तकियाँ मंगल-गान करती आ रही थीं। उनके पीछे राजा साहब हाथी पर सवार थे। हाथी के दोनो ओर घोड़ों पर उनके दढ़ियल सरदार थे, और उनके पीछे सैनिक। उनके निकट आने पर किसानों ने फिर उनकी जय-जयकार की, और उन पर पुष्प-वर्षा की।

इस प्रकार गाँव के बीच से होते हुए राजा साहब दल-बल के साथ वहाँ जाकर रुके, जहाँ पुराना चौबासा था, और जिसे सूबा के सिपाहियों ने जलाया था। वहाँ एक सभा की व्यवस्था की गई थी, और राजकर्मचारियों ने लोगों के बैठने के लिये कई दिन पहले आकर चाँदनी आदि तानी थी। राजा साहब एक ऊँचे आसन पर बैठे, और उनके अग़ल-बग़ल सरदार लोग और इस गाँव के ख़ास-ख़ास आदमी।

सबसे पहले उनके स्वागत में पुरोहित शिवदत्त ने एक सुंदर श्लोक पढ़ा। उसके बाद रुक्मिणी ने एक मनोहर भजन गाया। जब रुक्मिणी गा चुकी, तब सर कृपाशंकर ने खड़े होकर एक प्रभावशाली भाषण दिया। उसका अंतिम अंश इस प्रकार था—

"इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि हमारे राजा को हमारा कितना ध्यान है। अकाल के दिनों में राजा ने अपना कोष खोलकर हमें जीवित रहने के लिये जो धन व्यय किया था, वह आज उस बड़े तालाब के रूप

में लहरा रहा है, और जो छोटे-मोटे अकालों से मोर्चा ले सकता है। राज्य के किसानों पर जो कुछ भी क़र्जा था, उसे राजा साहब ने राज्य का क़र्जा मान लिया है, और वह धीरे-धीरे राजकोष से दिया जायगा। इसके अलावा जिन किसानों को कृषि के लिये नए क़र्जों की जरूरत पड़े, वे राजकोष से उसे भी पा सकते हैं। सबसे बड़ी बात, जो इस राज्य में इधर बहुत दिनों से नहीं हुई, आज होने जा रही है। राजा साहब आज हम सबके बीच में हल चलाकर दिखाएँगे कि कोई काम ओछा नहीं है, सब काम पवित्र हैं। बोलो, राजा साहब की जय!"

एक बार किसानों ने उच्च स्वर से राजा साहब की जय मनाई। इस जय-जयकार के बीच में राजा साहब उठे, और उन्होंने कहा—"प्राचीन काल में राजा का धर्म प्रजा की सेवा करना होता था। भारत की उस परंपरा को मैं तोड़ना नहीं चाहता। मैंने आदेश दिया है कि एक राजसभा बनाई जाय, और उसी की राय से राज्य का सारा काम हो। उस राजसभा में प्रत्येक गाँव का, जिसमें कम-से-कम ३०० आदमियों की बस्ती है, एक व्यक्ति रहेगा। कम बस्तियों के कई गाँव मिलकर अपने प्रतिनिधि चुनेंगे, और अधिक आबादी के गाँव उसी संख्या के हिसाब से प्रतिनिधि चुन सकेंगे। हम सब उसी नियम से बँधकर काम करेंगे। प्रजा मुझे अपना मित्र समझे।"

इसके बाद वह एक खेत में आए, जहाँ पहले से कई हल जुते खड़े थे। एक हल राजा साहब ने पकड़ा, दूसरा उनके एक प्रमुख सरदार ने, तीसरा मुखिया संग्रामसिंह ने। चौथा हल चलाने की प्रार्थना पुरोहित शिवदत्त से की गई। पुरोहित शिवदत्त के मन में पहले तो आया कि इनकार कर दें। जो काम बाप-दादों ने नहीं किया, वह इस चौथेपन में कैसे कर सकते हैं। पर हजारों मनुष्य के मुँह से निकली 'वाह! वाह!' की मदिरा का मजा वह पा चुके थे। उन्होंने बिना किसी वाद-विवाद के अपना हल पकड़ लिया। क़रीब पंद्रह मिनट तक ये चारो आदमी हल चलाते रहे।

उसके बाद राजा साहब ने कहा—"आज की तारीख से मैं घोषणा करता हूँ कि मेरे राज्य में प्रत्येक किसान को, चाहे वह जिस वर्ण का हो, अपने हाथ से अपना हल चलाने का पूरा अधिकार है। जो उसे इस काम के लिये बुरा कहेगा, या जाति से बहिष्कृत करने की कोशिश करेगा, वह दंडनीय समझा जायगा, और उसे राजसभा जो तय करेगी, वह दंड दिया जायगा।"

राजा साहब ने हल छोड़ दिया, और उस ओर बढ़ गए, जिधर वह नदी बह रही थी। उनके पीछे उनके सरदार, सर कृपाशंकर, रुक्मिणी, पुरोहित शिवदत्त और मुखिया संग्रामसिंह आदि भी गए। नदी उमड़ी हुई थी, और मंद गति से बह रही थी। नदी के ऊपर की ओर से उन्हें एक छोटी-सी सुंदर नौका आती हुई दिखलाई पड़ी। इन लोगों ने दूर से देखा कि उसे एक परम सुंदरी स्त्री चला रही है, और एक युवा पुरुष उसकी पतवार सँभाले है।

ये थे सेठ लक्ष्मीचंद और कुमारी पद्मा। रुक्मिणी ने इन दोनो को इस विशेष अवसर के लिये आमंत्रित किया था। इनके समय पर न पहुँचने के कारण उसे चिंता हो रही थी। पर नदी के मार्ग से इन्हें इस प्रकार आते हुए देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

सेठजी ने नाव के क़रीब आकर किनारे लगने पर सबका अभिवादन किया, और पद्मा भी मुस्किराई। सेठजी ने राजा साहब से कहा—"खेद है, मैं बहुत लेट पहुँचा। पर मैं यह अंदाज न लगा सका था कि नाव से कितनी देर में पहुँच सकूँगा।"

"आप कार से क्यों नहीं आए?" राजा साहब ने पूछा।

"वाल्मीकि और विश्वामित्र के समय की याद दिलानेवाले इस तपोवन में, जिसमें राम बनकर स्वयं आप पधारे हैं, पेट्रोल से चलने वाली आधुनिक कार पर आने का साहस मैं कैसे कर सकता था!" सेठजी ने रुक्मिणी की ओर देखा। उसे जान पड़ा, जैसे उनके कथन में व्यंग्य

का पुट है। मन-ही-मन वह कुछ खिन्न हुई, पर उस समय उसने कुछ कहना उचित न समझा।

राजा साहब ने कहा—"अपने देश की प्राचीन महत्ता को क़ायम रखते हुए विज्ञान से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने के ख़िलाफ़ मैं नहीं हूँ। मेरे राज्य की सीमा पर विज्ञान की सहायता से यह नदी बहाकर आपने मेरा बड़ा उपकार किया है। इस प्रकार के उपयोगी आविष्कार मैं पसंद करता हूँ, पर मशीनों की ग़ुलामी मुझे भी सह्य नहीं।"

"किसी चीज़ को बुरा नाम देकर आप उसके महत्त्व को कम नहीं कर सकते। मशीनें आधुनिक संसार की जान हैं। उन्हें हटा दीजिए, आधुनिक संसार मुर्दा और नीरस हो जायगा। जिस सभ्यता को मनुष्यों की कई पीढ़ियों ने बड़ी ख़ून-ख़राबी के बाद विकसित किया है, उसे आप लोग इस प्रकार फूँककर उड़ा नहीं सकते। सुख और शांति की खोज के प्रयत्न में मनुष्य यहाँ तक पहुँचा है। उसे पीछे नहीं लौटाया जा सकता। इस युग में यह संभव न होगा कि चंद आदमी अच्छा-अच्छा खायँ-पहनें और आपकी भाँति हाथी पर चढ़कर चलें, और शेष लोग सिर्फ़ जीवित रहने-भर को खायँ-पहनें। सब मनुष्य वह सुख चाहते हैं, जो एक को प्राप्त है। यह बिना मशीनों और वैज्ञानिक साधनों के संभव नहीं हो सकता, इसलिये मनुष्य को स्वभावतः उधर जाना पड़ेगा। रेल को हटाकर बैल-गाड़ी चलाना, बिजली को बिगाड़कर मिट्टी का दीपक जलाना और पुतलीघरों में आग लगाकर चरखे और करघे खड़े करना राष्ट्र की शक्ति का अपव्यय करना है। पर यह अप्रिय विवाद का अवसर नहीं है। मैं चाहूँगा, एक बार आप लोग मेरा भी कारबार देख लें, तब हम एक साथ मिलकर निश्चय करें कि कौन-सा मार्ग उचित है।"

सेठजी ने राजा साहब और रुक्मिणी को देखा। दोनो ध्यान से उसकी बात सुन रहे थे। उस समय वे दोनो उन्हें एक दूसरे के अधिक निकट प्रतीत हुए, और उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो राजा साहब ने अपना

मुकुट और राजदंड रुक्मिणी के चरणों पर रख दिया हो, और उससे कह रहे हों, मुझे अपनी इच्छाओं का दास बना लो।

सेठजी गंभीर चिंतन में लीन हो गए। क्या स्त्री का प्रेम प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि पुरुष अपनी महत्त्वाकांक्षाओं पर पानी फेर ले, अपने व्यक्तित्व को मिटा दे? उनकी दृष्टि अपने बग़ल में खड़ी पद्मा पर पड़ी। वह भी गंभीर थी, मानो उसकी मूक चितवन उनसे पूछ रही थी—अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को मिटाकर भी अपने व्यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व में मिला देने पर भी स्त्री के लिये यह संभव नहीं कि वह पुरुष के प्रेम की अधिकारिणी हो। ओफ़! पुरुष का हृदय कितना स्वार्थी होता है।

ये दोनो विचार सेठ लक्ष्मीचंद को गले में फाँसी के फंदे के समान कसते-से जान पड़े। उन्होंने संग्रामसिंह की ओर दृष्टि फेरी, और कहा—"ठाकुर साहब, कहिए, आपका लड़का तो मज़े में है?"

संग्रामसिंह ने अपने कंधे पर बैठे लड़के को उनके सिर पर पटक दिया, और कहा—"सेठजी, इसे आप ले लीजिए।"

---

[१९]

सर कृपाशंकर के संपर्क में आ जाने से राजा साहब के जीवन में अभूत-पूर्व परिवर्तन हो गया था। उन्होंने अपने रहने के लिये भी उसी गाँव में एक छोटा-सा हवादार घर बनवा लिया था, और प्रायः उसमें रहा करते थे। राज्य के कार्य से भी वह उतने उदासीन नहीं थे। बाहर से राज्य में बिकने के लिये आनेवाली वस्तुओं पर उन्होंने बहुत कड़ी चुंगी बैठाल दी थी, और राज्य में हाथ की बनी वस्तुओं का वह स्वयं इतना व्यवहार करने लगे थे कि उनकी देखादेखी सभी ने ऐसी वस्तुओं को अपनाना शुरू कर दिया। कंघा, बटन, चाकू, सरौते, बर्तन, टोकरियाँ, कपड़े, कंबल, सुइयाँ, चूड़ियाँ, साबुन आदि-आदि रोज के काम की चीजें गाँवों के लोग बनाने लगे, और इनके आदान-प्रदान से वे आराम के साथ खाने-पीने लगे। किसानों ने यह देख लिया कि केवल खेत से तो पेट नहीं भर सकता, परंतु खेती के साथ इस तरह का कोई-न-कोई काम और किया जाय, तो भोजन मिल सकता है। राजा साहब ने कई स्कूल खुलवाए, जहाँ इन सब वस्तुओं का बनाना सिखाया जाने लगा। राज्य में चीनी का आना एक प्रकार से बंद हो गया, और उसका स्थान गुड़ ने लिया। आटा पीसने की कलें उखड़ गईं, और प्रातःकाल प्रत्येक घर में चक्कियों का प्रभाती गान सुनाई पड़ने लगा। जो किसान राजा साहब का दर्शन हजार कोशिश करने पर भी नहीं कर सकते थे, वे उन्हें अपने घरों में बुलाकर रूखी-सूखी रोटियाँ खिलाने लगे। किसानों की मंडली में राजा साहब इस तरह छिप जाते कि उनके परिचित भी मुश्किल से उन्हें पहचान सकते। राज्य की आय का एक बहुत बड़ा भाग, जो राजा साहब के निजी विनोदों में खर्च

होता था, अब इन उन्नतिशील कामों में खर्च होने लगा, और रियासत में एक आदमी ऐसा न रह गया, जो बेकार या भूखा हो।

राजमाता अपने पुत्र को बहुत प्यार करती थीं। उन्हें इस प्रकार प्रजा-पालन में रत देखकर उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, परंतु अभी उनकी एक इच्छा बनी थी। वह चाहती थीं, राजा साहब का विवाह शीघ्र हो जाय, और वह अंतिम बार—आँखें बंद करने से पहले—राज्य की रानी को भी देख लें। अब तक विवाह के जितने पैग़ाम आ चुके थे, वे सब राजा साहब की ओर से अस्वीकृत किए गए। वह सर्व-गुण-संपन्न पत्नी तो चाहते थे, पर यह भी चाहते थे कि वह पत्नी उन्हीं के समान सादा जीवन व्यतीत करनेवाली हो। ऐसी अनुकूल जीवन-संगिनी का स्थान रुक्मिणी ही ले सकती थी। कई बार उनके मन में आया कि वह रुक्मिणी से अपने हृदय की बात कह दें, पर बात उनके कंठ तक आकर रह गई। संपत्ति, यौवन और शासन के अधिकार ने उनके जीवन को पावस की घटा के समान भरा-पुरा बना रक्खा था, इसमें संदेह नहीं, पर रुक्मिणी उस घन-घटा की चपला थी। उसके अभाव में उन्हें वह जीवन भयावह और दुःखद-सा जान पड़ने लगा। पर उन्हें कोई अधिकार न था कि वह उससे इस प्रकार की कोई बात कहते। वह जानते थे, रुक्मिणी ने सेवा का व्रत लिया है, और अपने चरित्र-बल से उसने इन गाँवों में एक नवीन जान डाल दी है। विवाह के बंधन को वह गवारा न कर सकेगी। अपने हृदय के उफानों पर इस प्रकार के तर्कों के ठंडे छींटे डालते-डालते वह थक-से गए थे, और उनकी मनःस्थिति बड़ी ही शोचनीय हो उठी थी।

उनके हृदय की यह दुर्बलता रुक्मिणी को मालूम न हो जाय, इस उद्देश्य से वह उससे एकांत में बहुत कम मिलते थे, और चौबासा में जब तक रहते, बराबर किसी-न-किसी काम में लगे रहते थे। लोक-सेवा का आनंद उन्हें भी मिल चुका था। उसका परित्याग करके प्रेम और विरह के व्यर्थ चिंतन में समय बरबाद करना उन्हें कुछ सुखकर न प्रतीत हुआ,

और फिर रुक्मिणी को अपनी ओर आकृष्ट करने का उन्होंने लोक-सेवा का मार्ग ही अधिक उपयुक्त समझा।

जिस प्रकार उनकी यह मनःस्थिति उन्हें परेशान किए हुए थी, उसी प्रकार इधर कुछ दिनों से सर कृपाशंकर ज्वर से पीड़ित हो उठे थे। इस वर्ष कुछ पानी बरस जाने और नदी तथा तालाब में पानी बने रहने से गाँव की भूमि और वायुमंडल में कुछ ऐसी नमी आ गई थी कि मच्छड़ बड़ी आसानी से पैदा हो गए, और गाँव के अधिकांश लोग मलेरिया से पीड़ित हो उठे। गाँववालों की उस पीड़ा में सर कृपाशंकर ने भी भाग लिया, और खाट पर लेट रहे।

रुक्मिणी और राजा साहब ने उनसे बहुतेरा कहा कि वह नागल के सरकारी अस्पताल में चलें, पर वह न गए। इस संबंध में उनसे जितनी बातें कही जाती थीं, सबका वह एक ही उत्तर देते थे—"गाँववालों को चिकित्सा की जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, मैं उनसे अधिक नहीं चाहता।"

वह उपवास करते और बिस्तर पर काँपते हुए पड़े रहते। निर्बल इतने हो गए थे कि उनका उठना-बैठना असंभव हो गया था। इस बीच में सेठ लक्ष्मीचंद भी उनके पास कई बार आए, और अपने फ़ार्म पर उनसे चलने की प्रार्थना की, पर सर कृपाशंकर ने उन्हें भी वही कोरा उत्तर दिया।

सर कृपाशंकर ने रुक्मिणी से कह रक्खा था कि उनकी बीमारी के कारण वह अपना दैनिक कार्य-क्रम शिथिल न करे। इसलिये रुक्मिणी नित्य-नियम के अनुसार पाठशाला में जाकर लड़कों को पढ़ाती, और शाम की प्रार्थना में शरीक होती। पर मँगरू अभी बालक था, उसके ऊपर कोई विशेष उत्तरदायित्व भी न था, इसलिये वह सर कृपाशंकर के पास रात-दिन बैठा रहता था, बिलकुल उसी तरह, जैसे कुछ वर्ष पूर्व उसने अपने पिता की परिचर्या की थी। सर कृपाशंकर ने अपने पास उतने ही कपड़े रक्खे थे, जितने ग्रामवासी प्रायः रक्खा करते थे। पर इतने कपड़ों से मलेरिया का जाड़ा छूटना संभव न था।

एक दिन, जब रुक्मिणी स्कूल गई हुई थी, उनका जाड़ा बहुत बढ़ गया था। मँगरू ने घर में जितने कपड़े मिले, सब उन पर डाल दिए, पर उनकी कँपकँपी बंद न हुई। अंत में लाचार होकर वह स्वयं उनके ऊपर लेट रहा। यह व्यवहार उसके लिये नया न था, और भी कई बीमारों को इससे पहले वह अपने बदन का ताप प्रदान कर चुका था। पर सर कृपाशंकर इतने पर भी काँपते ही रहे।

इसी बीच में राजा साहब ने उस कमरे में प्रवेश किया। इधर कई दिनों से वह सर कृपाशंकर की सेवा में बराबर लगे थे। किसी-किसी दिन तो वह उनके बिस्तर के पास रात-रात-भर बैठे रुक्मिणी से बातें करते रह जाते थे। इस सिलसिले में रुक्मिणी से उनकी घनिष्ठता अत्यधिक बढ़ गई थी। उसके हृदय में अपने पिता के प्रति अगाध स्नेह और श्रद्धा का भाव था, और उनकी सेवा में राजा साहब को रत देखकर वह उनकी ओर कृतज्ञता-पूर्वक कैसे आकृष्ट न होती। कभी-कभी तो वह सोचती कि राजा साहब की इस उदारता और कृपा का बदला क्या कभी और किसी प्रकार चुकाया जा सकता है। राजा साहब के उपकारों से वह उऋण नहीं हो सकती। इस बात को वह कई बार राजा साहब से कह भी चुकी थी। पर राजा साहब ने उससे प्रत्येक बार कहा था—"रुक्मिणी, ऐसी बातें कहकर मुझे यह मत याद दिलाओ कि मैं तुमसे ग़ैर हूँ। मुझे अपना सेवक समझो। तुम लोगों की सेवा ही मेरे लिये जीवन है।" इस उत्तर से रुक्मिणी गद्गद हो जाती, और ऐसे अवसरों की कल्पना करती, जिनके उपस्थित होने पर वह राजा साहब के इस ऋण का बदला चुका सकती थी। राजा साहब उसका यह मनोभाव ताड़ गए थे, और आज इस इरादे से यहाँ पहुँचे थे कि रुक्मिणी से अपने मन की बात अवश्य कहेंगे।

पर सर कृपाशंकर को इस प्रकार काँपते और मँगरू को उनके ऊपर इस प्रकार सवार देखकर उनके वे सब मनसूबे पिघल गए, और वह उस सर्वस्व-त्यागी महापुरुष के लिये विशेष रूप से चिंतित हो उठे।

वह सर कृपाशंकर के बिस्तर के निकट गए, और उनके मस्तक पर हाथ रक्खा। मस्तक जल रहा था।

रुक्मिणी आज सबेरे ही पिता की हालत खराब देख गई थी। उसका पाठशाला में जी न लगा। जल्दी-जल्दी सब काम समाप्त करके वह घर लौटी, और अपने पिता को इस दयनीय वेश में देखकर किंकर्तव्य-विमूढ़-सी हो रही।

सर कृपाशंकर ने जैसे प्रयत्न करके आँखें खोलीं, और अपनी पुत्री की ओर देखा। उसके बाद उन्होंने अपनी आँखें ढक लीं। उन्हें एक भयानक, गहरा अंधकार दिखाई पड़ा, और जान पड़ा, जैसे यह अंधकार अब सदैव बना रहेगा। उन्हें मृत्यु से भय नहीं था। वह चाहते थे कि ये आँखें अब मुँदी ही रह जायें, पर रुक्मिणी के लिये वह विशेष चिंतित थे। चाहे जिस कारण हो, उन्होंने यह समझ रक्खा था कि प्रत्येक स्त्री की रक्षा के लिये पुरुष की बलिष्ठ बाँहों की आवश्यकता है। यदि रुक्मिणी विवाहित होती, तो वह निश्चिंत होकर प्राण त्याग करते। पर विवाहित न होने के कारण उन्हें वह सर्वथा एकाकी, अरक्षित-सी जान पड़ी, और उसे देखने के लिये उन्होंने एक बार फिर शक्ति-भर प्रयत्न करके आँखें खोलीं। उस समय उन्हें दो छोटी-छोटी पलकें उठाने में इतना परिश्रम करना पड़ा, जितना हनुमान्‌जी को पर्वत उठाने में भी न करना पड़ा होगा। उनके मस्तक पर पसीने की बूँदें अंकित हो गईं, और साँस का वेग बढ़ गया।

रुक्मिणी दौड़कर पिता के पास पहुँची, और उनके मुख के ऊपर झुक-कर उसने पुकारा—"पिताजी! पिताजी!"

राजा साहब ने उनके मस्तक से अभी हाथ न उठाया था। उन्होंने अनुभव किया कि रुक्मिणी उन्हीं की बग़ल में खड़ी उन्हीं के समान उस वृद्ध बीमार के लिये चिंतित है। जीवन में यह प्रथम अवसर था, जब रुक्मिणी उनके इतना निकट आई थी। उसकी श्वास की गति उन्हें स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी।

सर कृपाशंकर की आँखें अब भी खुली हुई थीं। अपनी पुत्री को

तो उन्होंने तुरंत पहचान लिया, परंतु राजा साहब को न पहचान सके। उन्होंने समझा, उनकी पुत्री के साथ इस प्रकार मिलकर सेठ लक्ष्मीचंद खड़े हैं। उन्होंने कहा—"बेटी, मेरी सब इच्छाएँ पूर्ण हो चुकीं। जीवन के ये अंतिम क्षण हैं। अब आँखें बंद करने से पहले मैं तुझे सेठजी की बलिष्ठ बाँहों में सौंप जाना चाहता हूँ। सेठजी! आप मेरे सामने रुक्मिणी से एक बार और विवाह का प्रस्ताव कीजिए।"

रुक्मिणी अपने पिता की इस निर्बलता पर बहुत अधिक झुंझलाई। पर वह ख़तरनाक स्थिति में पड़े हुए थे, और उस समय उसकी एकमात्र इच्छा यह थी कि उन्हें अधिक-से-अधिक शांति मिले। वह कुछ कहने ही जा रही थी कि राजा साहब बोले—"क्षमा कीजिएगा, मैं सेठ लक्ष्मीचंद नहीं हूँ। मैं राजा विक्रमसिंह हूँ। परंतु यदि आप मुझे यह आज्ञा प्रदान करें, तो मैं अपना बड़ा सौभाग्य समझूँगा, और................" राजा ने रुक्मिणी की ओर देखा।

सर कृपाशंकर ने कहा—"ओफ़्! राजा साहब, मेरा मस्तिष्क इतना निर्बल पड़ गया है कि मैं आपको पहचान नहीं सका। क्षमा कीजिए। मैं जानता हूँ कि आप हमारे लिये सब कुछ कर सकते हैं, परंतु मैं आपके इस सहज उदार भाव का अनुचित लाभ उठाना नहीं चाहता।"

कदाचित् वह यह समझते थे कि राजा साहब ने बात उनके प्रति आंतरिक श्रद्धा के आवेग में आकर कही है। या कदाचित् वह यह नहीं चाहते कि रुक्मिणी का विवाह सेठ लक्ष्मीचंद के साथ न होकर किसी और के साथ हो। राजा साहब निश्चय न कर सके कि सर कृपाशंकर के इस उत्तर का क्या अभिप्राय हो सकता है। पर वह अपने आप पर बहुत लज्जित हुए। उन्होंने अनुभव किया कि मुझे यह बात इस अवसर पर मुँह से न निकालनी चाहिए थी। उन्होंने तत्काल रुक्मिणी से कहा—"रुक्मिणी, मैं अपने शब्दों को वापस लेता हूँ। उनसे तुम्हें कुछ कष्ट पहुँचा हो, तो क्षमा करना। पर मैं जल्दी में सोच न सका कि तुम्हारे पिता को कम-से-कम चिंता हो, इसके लिये क्या करना चाहिए?"

रुक्मिणी ने कहा—"आप व्यर्थ चिंतित न हों। मुझे पूर्ण विश्वास है, आपका ध्येय एकमात्र हम सबकी सहायता करना है।"

सर कृपाशंकर अब भी बेटी की ओर देख रहे थे, जैसे वह उसके मुँह से इस संबंध में कुछ सुनने की प्रतीक्षा कर रहे हों। रुक्मिणी ने कहा—"आपकी जो भी आज्ञा होगी, उसका पालन करूँगी, पर इस समय मेरी एकमात्र चिंता यह है कि आप अच्छे हो जायँ।"

"मैं अच्छा न हो सकूँगा।"

"क्यों न होंगे?" कहते हुए रुक्मिणी उनकी खाट पर बैठ गई, और उनके मस्तक पर हाथ फेरने लगी। मँगरू अब भी उन्हें ऊपर से दाबे था, पर वह इस प्रकार लेटा था कि उसका बोझा उन पर बिलकुल न पड़े। रुक्मिणी ने मँगरू की ओर देखा। उसे जान पड़ा, जैसे पिताजी के मरने के बाद मैं ही अनाथ न होऊँगी, यह भी अनाथ हो जायगा। उसकी आँखों से बड़े-बड़े आँसू निकलने लगे।

राजा साहब से यह दृश्य देखा न गया। उन्होंने कहा—"रुक्मिणी, ऐसी अवस्था में कोई चिकित्सा न करना और व्यर्थ का हठ करना मैं अच्छा नहीं समझता। मैं अपना यह ऋण समझता हूँ कि जैसे हो, स्वामीजी के प्राण बचाऊँ। मैं अभी स्टेट के डॉक्टरों को बुलाता हूँ।" राजा साहब फ़ौरन् बाहर निकल आए।

उन्होंने एक अनुचित बात कह दी थी। उनका रोम-रोम उन्हें कोस रहा था। उन्होंने तुरंत अपने ड्राइवर को नागल जाकर स्टेट के डॉक्टर को लाने का आदेश दिया, और सर कृपाशंकर के मकान के द्वार पर आकर इधर-उधर टहलने लगे। कई बार उनके मन में आया कि भीतर चले जायँ, पर उन्होंने जैसे अपने आपको इसका अधिकारी न समझा। उन्हें जान पड़ा, जैसे उन्होंने वह बात मुँह से निकालकर भीषण अपराध कर डाला है। इस गुरुतर अपराध का क्या प्रायश्चित्त हो सकता है, वह यह सोचने लगे।

इस विचार-धुन में टहलते हुए वह कुछ दूर निकल गए। इसी बीच में उन्हें पीछे की ओर से एक कार के आकर खड़े होने का अनुभव हुआ। उन्होंने घूमकर देखा, एक कार खड़ी है, और उससे सेठ लक्ष्मीचंद एक डॉक्टर के साथ उतर रहे हैं।

संभवतः लक्ष्मीचंद का ध्यान राजा साहब की ओर न था। वह डॉक्टर को लेकर तुरंत अंदर गए। पर राजा साहब ने समझा कि लक्ष्मीचंद ने उनकी उपेक्षा की है। उनका विषाद कुछ-कुछ क्रोध में परिणत हो गया। सर कृपाशंकर के लिये उनके हृदय में बड़ा मान था, और उनके प्रत्येक वाक्य को वह ब्रह्म-वाक्य मानते थे। पर उनकी अपनी पुत्री को सेठ लक्ष्मीचंद के साथ ब्याहने की बात असंगत-सी जान पड़ी। कहाँ भारत के प्राचीन गौरव की याद दिलानेवाली रुक्मिणी और कहाँ पाश्चात्य सभ्यता का विकृत स्वरूप उपस्थित करनेवाला, अर्थ-पिशाच सेठ लक्ष्मीचंद। उन्हें जान पड़ा, जैसे रुक्मिणी उन्हीं की ओर अत्यधिक आकर्षित है, पर अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध वह उनसे विवाह कैसे कर सकती है। उसमें इतना साहस कभी नहीं हो सकता कि वह अपने पिता से साफ़-साफ़ कह दे कि मैं राजा साहब से विवाह करूँगी, लक्ष्मीचंद से नहीं। हिंदू-कन्या साक्षात् गाय के समान होती है। मा-बाप जिसके हवाले कर देते हैं, आँख मूँदकर चली जाती है। रुक्मिणी ऐसी ही हिंदू-कन्या है। राजा साहब के मस्तिष्क में रुक्मिणी का वह वाक्य गूँज उठा—'जो भी आपकी आज्ञा होगी, उसका मैं पालन करूँगी।' और बेचारी कर ही क्या सकती है। और, लक्ष्मीचंद! राजा साहब को जान पड़ा, जैसे उसने सर कृपाशंकर पर जादू कर रक्खा है, और किसी-न-किसी प्रकार वह रुक्मिणी को अपने अधिकार में लाना चाहता है। ऐसी सुंदरी, सुशीला और आदर्श कन्या को ऐसे आदर्शच्युत पुरुष के चंगुल से निकालकर उसे ठिकाने से लगाना भी एक बड़ी सेवा है। वह रुक्मिणी की रक्षा करेंगे। इस मामले में वह अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे। उनका खून खौल उठा। अभी क्षण-भर पहले उनके हृदय में प्रायश्चित्त के जो भाव उमड़ रहे थे, वे सब ईर्ष्या से

प्रचंड क्रोधाग्नि में प्रज्वलित हो उठे। उन्होंने अनुभव किया कि जो बात सर कृपाशंकर से कही थी, उसके लिये लज्जित होने का उनके पास कोई कारण नहीं है। आज तक उनके मुंह से कभी कोई अनुचित बात निकली ही नहीं। सर कृपाशंकर यदि ईश्वर के बहुत निकट हैं, तो वह तो साक्षात् ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, स्वयं ईश्वर हैं। उनके हृदय से ईश्वर बोल रहा है। जो कुछ उसे भला-बुरा कराना है, वह उनके हाथ से करा रहा है। सर कृपाशंकर से भूल हो सकती है, पर उनसे नहीं।

जिस बात के लिये क्षण-भर पहले वह लज्जित हो रहे थे, उसी के लिये अब गर्व करते हुए सर कृपाशंकर के मकान के अंदर दाखिल हुए। उन्होंने देखा, सर कृपाशंकर की चारपाई के बगल में एक दूसरी चारपाई बिछी है, जिस पर सेठ लक्ष्मीचंद और रुक्मिणी, दोनो बैठे हैं, और डॉक्टर खड़ा-खड़ा सर कृपाशंकर की परीक्षा कर रहा है।

राजा साहब को एकाएक उस स्थान पर आते देखकर लक्ष्मीचंद उठ खड़े हुए, और उन्होंने मुस्किराते हुए उनका स्वागत किया। पर राजा साहब सेठजी को रुक्मिणी के साथ इस आज़ादी से बैठे देखकर और भी जल उठे थे। उन्होंने अपने क्रोध को बहुतेरा दबाना चाहा, पर वह न दब सका। वह बोले तो कुछ नहीं, पर उनकी गंभीर मुख-मुद्रा से सेठजी ने अनुभव किया कि उनका इस प्रकार स्वागत करना राजा साहब को पसंद नहीं आया। सेठजी को उनसे कुछ और बोलने का साहस न हुआ। उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा—"आइए।" राजा साहब ने इसका भी जवाब न दिया। वह चुपचाप आकर सेठ लक्ष्मीचंद और रुक्मिणी के बीच में बैठ गए।

अपने और रुक्मिणी के बीच में एक तिनके का भी अंतर सेठजी को सह्य न था, और राजा साहब तो साक्षात् पुरुष एवं उनके प्रति-द्वंद्वी थे। उनका यह व्यवहार सेठ लक्ष्मीचंद को अत्यंत असभ्यता-पूर्ण प्रतीत हुआ। इस गाँव के लोगों के असभ्य व्यवहार वह देख चुके थे, पर यह न जानते थे कि राजा साहब अनाचार की भाँति असभ्यता में भी लोगों के राजा हैं। राजा साहब ने जो अपना राजसी ठाट-बाट छोड़कर त्याग का जीवन ग्रहण किया था, यह सेठजी को सर्वथा ढोंग-सा प्रतीत हुआ, और उन्हें जान पड़ा, जैसे राजा साहब ने यह सब रुक्मिणी को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये किया है। उत्तेजना के प्रथम क्षण में उनके मन में आया कि जेब से पिस्तौल निकालकर राजा साहब को वहीं ढेर कर दें, पर एक प्रिय रोगी की शांति इस प्रकार

भंग करने का उन्हें साहस न हुआ। वह अपना मन मसोसकर रह गए, और कुछ न बोले।

अन्य अवसरों पर राजा साहब और सेठजी में अत्यंत घनिष्ठता-पूर्वक बातें होती थीं। आज दोनो को इस प्रकार मनहूसियत के साथ मुंह लटकाए बैठे देखकर रुक्मिणी को कारण अनुमान करने में कुछ देर न लगी। उसने भी उस समय चुपचाप बैठे रहना ही मुनासिब समझा।

डॉक्टर जब सर कृपाशंकर की परीक्षा कर चुका, तब बोला—"मले-रिया का विष इनके बदन में अत्यधिक व्याप गया है। इस भीषण परि-स्थिति में यहाँ इनकी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि यह फ़ार्म के अस्पताल में किसी प्रकार चलने को राज़ी हो जायँ, तो इनके प्राण बच सकते हैं।"

राजा साहब ने एक ऐसे स्वर में, मानो उनका पूर्ण उत्तरदायित्व उन्हीं पर हो, कहा—"मैंने अपने स्टेट-डॉक्टर को बुलाया है। वह आते ही होंगे। उनसे सलाह करने के बाद तब कोई राय क़ायम कीजिए।"

"अच्छी बात है।" कहते हुए डॉक्टर साहब सर कृपाशंकर की ही खाट पर बैठ गए।

अब कमरे में सन्नाटा छा गया। एकमात्र सर कृपाशंकर की घर-घर चलती हुई श्वास इस सन्नाटे से युद्ध करती हुई उन्हें प्रतीत हुई। वह अत्यंत शिथिल हो रहे थे, और इस संबंध में उनसे सलाह लेने की लोगों ने आवश्यकता न समझी।

स्टेट-डॉक्टर ने भी जब आकर वही राय दी, तब राजा साहब ने कहा—"इन्हें हम अपने स्टेट के अस्पताल में क्यों न ले चलें।" पर सेठ लक्ष्मीचंद के डॉक्टर ने कहा—"हमारा अस्पताल अधिक अप-टु-डेट है। आपकी तो बहुत छोटी स्टेट है, मैंने बड़ी-बड़ी स्टेटों में भी वैसा अप-टु-डेट अस्पताल नहीं देखा।" इस बात को जब स्टेट-डॉक्टर ने भी स्वीकार किया, तब राजा साहब ने कोई आपत्ति न की। सेठजी ने उन्हें भी अपने फ़ार्म पर आने के लिये, शिष्टाचार-वश, निमंत्रित किया। पर राजा साहब ने न-जाने क्या सोचा, और उस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया।

---

[२०]

सर कृपाशंकर की हालत बहुत खराब हो गई थी। शारीरिक कष्ट जो कुछ था, सो तो था ही, उसके अतिरिक्त उनका मस्तिष्क बहुत ही निर्बल पड़ गया था। उन्हें अपना अब तक का जीवन स्वप्न-सा प्रतीत हो रहा था, और न-मालूम कैसे उनके चित्त में यह समा गया था कि वह विलायत में अपरिचितों से घिरे हैं, और भारत लौटना चाहते हैं। बोलने के लिये वह मुँह खोलते थे, पर उनके मुख से शब्द न निकल सकते थे। उनके कान में जो शब्द पड़ते थे, उनका अर्थ वह किसी हद तक समझते थे, पर पूछने पर कुछ बता न सकते थे। पूछनेवाले की ओर वह आँखें फाड़-फाड़कर देखते थे, मानो आँखों की मूक भाषा में कहते थे—जान पड़ता है, जैसे किसी ने मेरी जिह्वा काट ली हो, और उसके स्थान पर चमड़े की जिह्वा लगा दी हो। हाय, अब मैं क्या करूँ!

रुक्मिणी पिता की यह अवस्था देखकर अत्यंत दुखी हुई। उसकी एकमात्र इच्छा थी कि वह रात-दिन उनकी खाट के पास बैठी रहे, पर सेठ लक्ष्मीचंद के इस अद्भुत अस्पताल के अधिकारियों ने उसे उनके पास जाने की सर्वथा मनाही कर दी। उन्होंने कहा—"रोगी वृद्ध है। उसने अपने मस्तिष्क से अत्यधिक काम लिया है, इसलिये वह निर्बल पड़ गया है। यह भी देखा गया है कि अपनी लड़की को सामने देखकर वह विशेष चिंतित हो उठता है, और उसके मस्तिष्क पर अनुचित दबाव पड़ता है। यदि उसके मस्तिष्क को पूर्ण विश्राम न दिया गया, तो संभव है, वह अच्छा ही न हो, और यदि अच्छा भी होगा, तो पागल हो जायगा।"

रुक्मिणी को विवश होकर इन अंतिम दिनों में अपने पिता की सेवा

से वंचित होना पड़ा। उसके अतिरिक्त शेष लोग प्रातःकाल, सात और आठ बजे के बीच में, उन्हें देख सकते थे। इस बीच में चौबासा से नदी पार करके सैकड़ों किसान सर कृपाशंकर को देखने आए, पर निराश वापस लौट गए। सेठ लक्ष्मीचंद, राजा साहब और पद्मा प्रतिदिन उन्हें प्रातः-काल देखने जाते थे, और लौटकर रुक्मिणी से सारा हाल बताते थे।

रुक्मिणी से वक़्त काटे नहीं कटता था। उसका हृदय चौबासा के उन छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं की ओर भी लगा था, जिन्हें उसने, उस गाँव में आने पर, अपना सखा-सहेली बनाया था। मँगरू को भी वह वहीं छोड़ आई थी। उसकी चिंता उसे अलग थी। पर अपने पिता को यहाँ अकेला छोड़कर वह चौबासा जाना भी नहीं चाहती थी। कोई काम न होने से राजा साहब भी ऊब रहे थे, और उनसे भी वक़्त काटे न कटता था। सर कृपाशंकर के लिये लक्ष्मीचंद भी उतने ही चिंतित थे, पर उन्हें अपने डॉक्टरों की बात पर विश्वास था, और उनके पास काम इतना था कि उनका वक़्त मज़े में कट जाता था।

राजा साहब और रुक्मिणी की यह अवस्था देखकर सेठ लक्ष्मीचंद ने उनसे अपना कृषि-फ़ार्म और उसकी व्यवस्था देखने के लिये कहा। सेठजी का मतलब यह था कि इस प्रकार इनका दिल भी बहल जायगा, और ये देखेंगे कि यह नवीन प्रयोग भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। सेठजी ने समय निकालकर उन्हें स्वयं सबेरे-शाम कृषि-फ़ार्म की सैर कराना आरंभ किया।

यह कृषि-फ़ार्म लगभग २५ मील लंबी और ३ मील चौड़ी बेकार भूमि की एक पट्टी पर स्थित था। उत्तर-दक्षिण की लंबाई के बराबर बीचोबीच से एक चौड़ी नहर लबालब भरी हुई बह रही थी। इस नहर से छोटी-छोटी नहरें निकालकर इधर-उधर ले जाई गई थीं। सेठजी ने इस नहर में पड़ा अपना मोटर-बोट तैयार कराया और कहा—"पहले आप इस पर सवार होकर कृषि-फ़ार्म का एक बार सिंहावलोकन कर लें, उसके बाद एक-एक विभाग विस्तार के साथ देखिएगा।"

जिस समय ये लोग नाव पर सवार हुए, लगभग ८ बजा था। राजा साहब और लक्ष्मीचंद सर कृपाशंकर को देख आए थे, और उनकी बीमारी की चर्चा अभी समाप्त नहीं हुई थी। रुक्मिणी ने पूछा—"मलेरिया और रोगी की वाक्-शक्ति से क्या संबंध है, यह मैं नहीं जान सकी। मुझे तो यह साफ़-साफ़ जिह्वा का लक़वा जान पड़ता है, और उसी की चिकित्सा होनी चाहिए।"

लक्ष्मीचंद ने कहा—"डॉक्टरों का कहना है कि मलेरिया का वेग तीव्र होने से प्रायः ऐसा हो जाता है। पर ज्वर उतरने पर मनुष्य की वाक्-शक्ति भी वापस लौट आती है।"

राजा साहब ने कहा—"परंतु प्रधान डॉक्टर का कहना था कि यह अवस्था १२ घंटे से अधिक नहीं होनी चाहिए। अधिक होना ख़तरनाक है।"

रुक्मिणी बोली—"प्रधान डॉक्टर से मैं स्वयं बात करना चाहती हूँ।"

"रास्ते में उनका निवास पड़ेगा। जब तक हम वहाँ पहुँचेंगे, वह आ चुके होंगे।"

रुक्मिणी चुप हो रही।

नहर के दोनो ओर गेहूँ के हरे खेत खड़े थे। इतना दिन चढ़ चुका था, मगर उनकी पत्तियों पर बिखरे ओस के मोती अभी मलिन नहीं हुए थे। प्रकृति शांत और वायु में एक विचित्र ताजगी थी। दोनो ओर नहर के किनारे एक विचित्र प्रकार के श्वेत पक्षी आ जमे थे, जो इनकी नौका देखकर कोलाहल करके, वहाँ से उड़कर और दूर जा बैठते थे, और जब नाव फिर क़रीब पहुँचती थी, तब फिर उसी प्रकार उड़ते थे। उन मुक्त पक्षियों का इस प्रकार जल-स्थल-विहार बड़ा ही भला मालूम होता था। लगभग ३ मील चलने पर गन्ने के उसी प्रकार हरे-भरे खेत दिखाई पड़े। राजा साहब ने देखा, एक-एक खेत मीलों लंबा चला गया है।

सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"ये सब खेत मशीनों की सहायता से जोते और बोए गए हैं। हमारा कृषि-फ़ार्म स्थापित होने से पहले केवल वर्षा-ऋतु में यहाँ थोड़ी-बहुत हरियाली दिखाई पड़ती थी। जिन वैज्ञानिक साधनों का मैंने प्रयोग किया है, उनकी उपेक्षा करता, तो आज इस स्थान पर आपको न इतनी हरियाली दिखाई पड़ती, और न ये सुंदर पक्षी यहाँ कलोल करने आते। इसी प्रकार न मालूम कितनी भूमि बेकार पड़ी है, और उसका इस रूप में प्रयोग हो सकता है। हमारे देश का महत्त्व उसकी उपजाऊ भूमि और कृषि से है। आज इन बातों में वह संसार से पिछड़ा जा रहा है। यह सिर्फ़ इसलिये कि हम आधुनिक साधनों की ओर से उदासीन हैं।"

सेठ लक्ष्मीचंद यह बात समाप्त भी न करने पाए थे कि उन्हें घर्र-घर्र की आवाज सुनाई पड़ी। उन्होंने देखा, सामने नहर पर दोनो ओर से एक पुल के दो टुकड़े-से आगे बढ़े आ रहे हैं। देखते-ही-देखते दोनो टुकड़े आपस में जुड़ गए, और उनके ऊपर से नहर पार करते हुए उन्हें गायों का एक समूह दिखाई पड़ा। बड़ी-बड़ी, हाथी-जैसे भारी-भरकम और मटके-जैसे थनवाली, काली, सफ़ेद और भूरी गाएँ मंथर गति से चली जा रही थीं। राजा साहब ने अपने राज्य की सीमा के अंदर एक भी ऐसी गाय न देखी थी।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"ये हमारी डेयरी की गाएँ हैं। पिछले छ महीने के भीतर ये यहाँ लाई गई हैं। जब ये यहाँ आई थीं, तब ऐसी साफ़-सुथरी और स्वस्थ न थीं। इनकी देख-रेख बड़ी सावधानी से की जाती है। बराबर हरा चारा खाने को पाने और हरियाली के बीच रहने से इनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं है।"

रुक्मिणी को चौबासा की गाएँ याद आईं। उन्हें यह आराम नसीब नहीं है, यह भी उसने सोचा। क्षण-भर को उसके मस्तिष्क में यह विचार नाच गया कि बिना बड़े पैमाने पर खेती किए यह सब संभव नहीं है।

पर इस संबंध में उसने वाद-विवाद करना उचित न समझा। तत्काल उसका ध्यान अपने रोगी पिता की ओर गया। देख तो वह गायों की ओर रही थी, पर उसकी आँखों के सामने उसके पिता की तस्वीर थी।

जब गाएँ पार उतर गईं, तब उसने पुल को फिर उसी प्रकार खुलते देखा। वह बोली—"मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। आप जल्दी उन डॉक्टर साहब के पास चलिए।"

लक्ष्मीचंद ने माँझी को आज्ञा दी, और नौका फिर चल पड़ी। आगे उन्हें केला, पपीता, संतरा आदि फलों के उद्यान मिले, और वृक्षों में बड़े-बड़े फल दिखाई पड़े। वे सब वृक्ष मानो रुक्मिणी से कह रहे थे—विज्ञान वास्तविक है, विज्ञान सुंदर है, विज्ञान सजीव है, और भाग्य के भरोसे जीवन व्यतीत करना स्वयं प्राण तथा सौंदर्य की क़ब्र खोदना है।

पर रुक्मिणी का ध्यान इधर न था। वह सब कुछ देखकर भी कुछ न देख रही थी। उसकी निगाहें इन वृक्षों की आड़ में छिपे उस मकान को खोजने में लगी थीं, जिसमें वह डॉक्टर रहता था।

नौका के कुछ और आगे बढ़ने पर उसे एक भव्य भवन दिखाई पड़ा। अपने चरण पर लेटी नहर के दर्पण में वह अपना गर्वित मुख देख रहा था। रुक्मिणी ने उत्सुकता-पूर्वक पूछा—"यही डॉक्टर का मकान है?"

"नहीं, यह नाचघर है, इसके आगे व्यायामशाला है। उसके बराबर खेल के मैदान हैं। उन मैदानों के अंत में डॉक्टर का गृह मिलेगा। अब बहुत दूर नहीं है।"

व्यायाम और विनोद के इन उपकरणों को देखते हुए ये लोग चले जा रहे थे। राजा साहब ने पूछा—"कोई मंदिर आपने नहीं बनवाया?"

"मंदिर आदि मैं परिश्रमी लोगों के लिये व्यर्थ समझता हूँ। यहाँ दिन-भर के परिश्रम के बाद संध्या-समय आपको मज़दूर विविध विनोदों में अपनी थकान दूर करते मिलेंगे। मंदिर और प्रार्थना से सिर्फ़ उनका

दिल बहल सकता है, जो दूसरों की कमाई पर आलस्यमय जीवन बिताते हैं।"

"ईश-प्रार्थना निर्बल का बहुत बड़ा बल है।" रुक्मिणी ने कहा।

"रुक्मिणी, मेरी तुमसे लड़ाई नहीं है। पर मैं प्रार्थना को भी एक प्रकार का मनोविनोद ही समझता हूँ। पर जिसे अच्छे विनोद प्राप्त हैं, वह ईश-प्रार्थना में क्यों पिसे?"

राजा साहब ने लक्ष्मीचंद की ओर एक तिरस्कार-पूर्ण दृष्टि से देखा, और कहा—"जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता, उसे मैं मनुष्य नहीं, पशु समझता हूँ।"

"ईश्वर के अस्तित्व को कोई नहीं मानता। सब अपना दिल बहलाव करते हैं।"

"ज़रा इधर देखिए। ये सुंदर फूल, ये विविध आकृति की छोटी-छोटी पत्तियाँ, ये सुंदर पक्षी किसने बनाए, और किसने इन्हें विविध रूप-रंग और ये चेष्टाएँ प्रदान कीं?"

"यहाँ आपको जो कुछ भी दिखाई पड़ रहा है, सब मेरी पूँजी का विकास है। इस समस्त प्राकृतिक सौंदर्य और जीवन का श्रेय मुझे है। ईश्वर-पीश्वर को नहीं।"

"यह कहिए कि आप ही ईश्वर हैं, और आपकी पूँजी स्वयं ब्रह्मांड है।"

राजा साहब कुछ उत्तेजित हो उठे, पर उन्होंने अपने आपको सँभाला, और कहा—"विज्ञान हमारे जीवन के रस को सुखाता चला जा रहा है। ईश्वर हो या नहीं, मनुष्य के हृदय में उसका विश्वास और प्रेम अगर न होता, तो वे मानवीय सद्गुण, जिन्हें हम न्याय, क्षमा, सेवा, सहानुभूति आदि नामों से पुकारते हैं, हमें देखने को न मिलते, और हमारा सामूहिक जीवन इतना सुंदर और सरस न होता। मैं अपने राज्य में इस अनीश्वर-

वादी विज्ञान का प्रवेश न होने दूँगा। कम-से-कम भारत में एक ऐसा भूमि-खंड तो रहेगा, जहाँ भगवान् के भक्त पहुँचकर शांति लाभ कर सकें।

लक्ष्मीचंद ने कहा—"आपकी राजधानी में जो सुंदर महल और मंदिर खड़े हैं, उन्हें आपके पूर्वजों ने किसानों के रक्त से मिट्टी सानकर बनवाया है। उन जगहों में जो सेवा और सहानुभूति का आह्वान करने जायगा, वह मूर्ख ही होगा। पर आप कुछ मालपुओं का प्रबंध करेंगे, तो ऐसे मूर्खों की आपकी राजधानी में कमी न होगी। पर यह याद रखिए कि आपके राज्य के किसान मेरे फ़ार्म पर आ बसेंगे।"

राजा साहब ने बात काटकर कहा—"ताकि आप उन्हें अपनी मशीनों से पीस डालें, और उनकी हड्डियों के चूर से इन पाप के अड्डों को चमकाएँ? मेरी रियासत के किसान ऐसे बेवक़ूफ़ नहीं हैं।"

नौका मंद गति से चली जा रही थी। माँझी इस विवाद में लीन था। उसे दोनो की बातें सत्य प्रतीत हो रही थीं। ग़रीब के लिये जैसे नागल-राज्य में बसना, वैसे ही सेठ लक्ष्मीचंद के फ़ार्म में। दोनो में उसे कोई भेद नहीं प्रतीत हो रहा था। दोनो जगह उसे ग़रीब की कमाई से दूसरे मौज उड़ाते हुए-से जान पड़े। अगर राज्य में ग़रीब के दर्शन करने के लिये कुछ मंदिर बने हैं, तो फ़ार्म में उनकी जगह कुछ नाचघर बन गए हैं। बात एक ही है। किसान का उद्धार तो तब है, जब राज्य की व्यवस्था या फ़ार्म के संचालन में उसका भी हाथ हो, उसकी भी राय ली जाय, उसका भी ज़ोर हो। उसके मन में आया कि वह हिम्मत करके अपनी बात कह दे, और देखे कि उत्तर में ये क्या कहते हैं, पर उसका साहस न हुआ। वह अदना सेवक था। स्वामी के समने उसने कभी अपनी ज़बान न खोली थी। वह इसी विचार-सागर में निमग्न होता हुआ नौका-यंत्र को चला रहा था। एकाएक नाव एक किनारे से टकराई, और उलटते-उलटते बची। राजा साहब ने डाँटकर कहा—"देखता नहीं क्या बे?"

लक्ष्मीचंद ने बिगड़कर कहा—"होश में नहीं है क्या?"

रुक्मिणी की समझ में न आया कि क्या हो गया है। माँझी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह सिर नीचा किए चुपचाप नाव चलाता रहा। उसने देखा, इन दोनो प्रकार के मनुष्यों में चाहे जितना मतभेद हो, पर उसे डाँटने में दोनो का मतैक्य था।

राजा साहब और लक्ष्मीचंद का विवाद और भी उग्र होता गया। रुक्मिणी ने दोनो से प्रार्थना की कि वे इस अप्रिय विवाद का अंत करें। इससे कुछ लाभ होने का नहीं, और फिर यह न उपयुक्त समय और अवसर है। अब तक डॉक्टर का घर आ गया था। सेठ लक्ष्मीचंद की पूर्व हिदायत के अनुसार माँझी ने वहाँ नाव लगा दी, और सब लोग उतरकर डॉक्टर साहब के घर गए।

यह घर एक स्वच्छ, छोटा-सा बँगला था, और आराम के समस्त आधुनिक साधनों से युक्त था। डॉक्टर साहब अपनी आराम-कुर्सी पर लेटे सामने रक्खे रेडियो के यंत्र पर कलकत्ते में होनेवाला एक गाना सुन रहे थे।

यह डॉक्टर साहब एक पारसी सज्जन थे, और इनका समस्त जीवन बंबई-जैसे नगरों में बीता था। इनका ख़याल था कि भारतवर्ष के गाँव मनुष्य के रहने लायक़ नहीं हैं, और जब सेठ लक्ष्मीचंद ने एक बहुत बड़ी तनख़्वाह देकर इन्हें अपने फ़ार्म पर बुलाया, तब इन्होंने अपना अपमान समझा। पर जब लक्ष्मीचंद ने बताया कि वह डॉक्टर साहब की रुचि के अनुसार उनके आराम के साधन वहाँ जुटा देने को तैयार हैं, तब यह यहाँ पधारे।

इस मंडली के आने का समाचार पाते ही डॉक्टर साहब उठ खड़े हुए, और अत्यंत शिष्टता-पूर्वक उनका स्वागत किया। सेठ लक्ष्मीचंद ने राजा साहब और रुक्मिणी का उनसे परिचय कराया।

यह जानने पर कि रुक्मिणी सर कृपाशंकर की पुत्री है, डॉक्टर साहब ने उससे तत्काल प्रश्न किया—"आपने अपने पिता को इस प्रकार गाँव

में बसने से रोका नहीं ? सच पूछो, तो ये गाँव पशुओं के भी रहने लायक़ नहीं हैं।"

"इसलिये तो हम गाँव में जाकर बसे थे कि उन्हें मनुष्यों के रहने योग्य बनावें।"

"बेशक ! पर आपको मालूम होना चाहिए कि स्वास्थ्य के आधुनिक सिद्धांतों के अनुसार गाँवों का पुनर्निर्माण किए बग़ैर उनमें बसना पागलपन है।"

"क्या आप समझते हैं कि सब गाँवों को इस प्रकार अस्पताल बना डालना संभव है ? इतनी पूँजी कहाँ से आएगी ?"

"यह संभव नहीं है, तभी तो कहता हूँ कि आपको और आपके पिता को क्या ख़ब्त सूझी कि आप गाँवों में जा बसे।"

"डॉक्टर, तुम कहाँ हो ? जिन गाँवों के लोग पेट-भर भोजन नहीं पाते, जिनके बदन पर यथेष्ट वस्त्र नहीं, वे आराम के आधुनिक सामान कैसे जुटा सकते हैं ? इन सब अभावों में वे जीवित हैं, यही बड़ी बात है। पर क्या इसीलिये उन्हें जहाँ-का-तहाँ छोड़ दिया जाय ? उनके साथ कोई हमदर्दी न रक्खी जाय ?"

"मनुष्य के लिये अपनी रक्षा पहले जरूरी है।"

"डॉक्टर ! मनुष्य मनुष्य न रहेगा, यदि वह केवल अपना ही ध्यान रक्खे। मान लो, तुम्हारे परिवार के लोग एक ऐसे घर में घिर गए हैं, जिसमें आग लगी है, तो तुम क्या करोगे ? घर छोड़कर भाग जाओगे, या साहस के साथ उसमें घुसोगे, और उन्हें बचाओगे ?"

डॉक्टर ने कुछ उत्तर न दिया। केवल सिर उठाकर रुक्मिणी की ओर देखा। रुक्मिणी ने कहा—"यह सब जानते हुए हम गाँव में बसे हैं। हम यह जानना चाहते थे कि किसानों का कष्ट क्या है, और उसे स्वयं अनुभव करना चाहते थे। मेरे पिता इस बीमारी में स्वर्ग सिधार जायँ, तो भी मैं उनके इस कार्य को भूल न समझूँगी। मनुष्य अमर नहीं है। मौत या बीमारी से भागने से मनुष्य बच नहीं सकता। पर उसमें अपने आपको फेंकने से मनुष्य उससे युद्ध करने की क्षमता और उस पर विजय भी प्राप्त कर सकता है।"

"भला, जान-बूझकर कौन बीमार होना चाहेगा ?"

"मान लो, तुम्हारे घर में कोई प्लेग का रोगी है, क्या करोगे ? उसे छोड़ दोगे ? उसकी सेवा न करोगे ? जब यह ख़तरा है कि बीमारी तुम्हें भी लग जा सकती है।"

"उसकी चिकित्सा हम करेंगे, पर ख़तरों से बचकर। रोगी का दुःख हम स्वयं रोगी होकर नहीं, बल्कि उस रोग को दूर करने का उपाय करके कम कर सकते हैं।"

"डॉक्टर ! तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आती। तुम्हारे पास भोजन है, और तुम्हारे भाई के पास नहीं है। तुम उसे अपना भोजन नहीं दोगे ? थोड़ी-सी भूख नहीं बरदाश्त करोगे ? क्या गाँववालों के प्रति तुम अपना कोई कर्तव्य ही नहीं समझते हो ?"

"वे इसी तरह रहते आए हैं, इसी तरह रहेंगे। उनके पचड़े में पड़ना मुझे पसंद नहीं।"

रुक्मिणी को डॉक्टर की बात पसंद नहीं आई। वह कुछ उत्तेजित भी हो उठी। उसने कहा—"सेठजी, मैं ऐसे डॉक्टर से अपने पिता का इलाज नहीं कराना चाहती। मैं उन्हें गाँव वापस ले जाऊँगी। ऐसे हृदय-हीन चिकित्सक के हवाले करने की अपेक्षा मैं गाँववालों के सहानुभूति मिश्रित आँसुओं के बीच में उनका मर जाना अधिक पसंद करूँगी।"

डॉक्टर ने कहा—"मिस शंकर, अपनी बात वापस लीजिए। सर कृपाशंकर के लिये मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ। पर उनके इस कार्य को मैं जिहालत का कार्य समझता हूँ। यह मेरी राय है। इसे रखने और व्यक्त करने का मुझे अधिकार है।"

"और म उस डॉक्टर को डॉक्टर नहीं समझती, जो व्यक्ति को देखकर उसका इलाज करता है, और जनसाधारण के स्वास्थ्य-सुधार की कभी बात नहीं सोचता। यदि पिता की मौत से संसार को यह मालूम हो सके कि गाँवों में किस प्रकार लोग बीमार होकर मरते हैं, और हमारे देश के डॉक्टरों का ऐसी मौतों की ओर ध्यान नहीं है, तो मैं इसे अधिक पसंद करूँगी।"

रुक्मिणी उठ खड़ी हुई, और डॉक्टर साहब के मकान से बाहर निकल आई। जिस आदर्श के पीछे उसके पिता इस स्थिति को पहुँचे हों, उसे जिहालत का आदर्श समझनेवाले डॉक्टर पर उसे बड़ा क्रोध आया। बाहर आकर वह सिसक-सिसककर रोने लगी। उसके पीछे ही राजा साहब और सेठ लक्ष्मीचंद भी निकले। लक्ष्मीचंद ने कहा—"रुक्मिणी, डॉक्टर साहब ने कोई ऐसी बात नहीं कही, जिससे तुम्हें इतना दुखी होने की जरूरत हो। इस प्रकार की बातें तो मैं तुमसे और भी कड़े शब्दों में कह चुका हूँ।"

"ठीक है। पर मेरा-इनका कोई ऐसा घनिष्ठ परिचय नहीं है। मैं इनसे विवाद करने नहीं, अपने पिता की बीमारी का हाल जानने आई थी। इससे कोई बहस नहीं कि गाँव में बसना जिहालत है या बुद्धिमानी। यह अपने-अपने विचार की बात है। पर मैं......"

इसी बीच में डॉक्टर साहब ने बाहर निकलकर अत्यंत शिष्टता-पूर्वक कहा—"मिस शंकर, मैं अपनी ग़लती मानता हूँ। इस समय मुझे यह विवाद नहीं छेड़ना चाहिए था। मैं राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक या नेता नहीं हूँ। मैं कोरा चिकित्सक हूँ, और मुझे अपनी सीमा के अंदर ही बात करनी चाहिए थी। क्या आप कृपा-पूर्वक मुझे क्षमा करेंगे?"

रुक्मिणी ने कहा—"पिता की बीमारी के कारण मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त करने और उस संबंध में तर्क करने का अधिकार है। चित्त स्वस्थ होने पर मैं आपसे इस

विषय में विवाद कर सकती हूँ, पर इस समय तो अगर बता सकिए, तो सिर्फ़ इतना बताइए कि मेरे पिता के अच्छे होने की संभावना है या नहीं?"

"सोलहो आना संभावना है, और बहुत मुमकिन है, कल सबेरे हम आपको उनसे मिलने की आज्ञा दे सकें।"

डॉक्टर के इस एक ही वाक्य से रुक्मिणी की सारी मानसिक अशांति जाती रही, और उसके चेहरे पर प्रसन्नता की एक रेखा दौड़ गई।

डॉक्टर से बिदा लेकर ये सब लोग फिर उसी मार्ग से वापस लौटे, क्योंकि रुक्मिणी और राजा साहब, दोनो और आगे जाने के लिये तैयार न थे।

इन्हें अपने अतिथि-गृह में छोड़कर सेठ लक्ष्मीचंद अपने कार्यालय में आवश्यक कार्य से चले गए। उनके चले जाने पर राजा साहब ने अपनी डाक देखनी शुरू की, और अपने प्राइवेट सेक्रेटरी को बुलाकर राज-काज के संबंध में बहुत-सी हिदायतें दीं। रुक्मिणी अपने कमरे में बंद हो, मस्तक झुकाकर, आँखें बंद करके और हाथ जोड़कर ईश्वर-प्रार्थना में लीन हो गई। ईश्वर-प्रार्थना उसके लिये विनोद नहीं, पाखंड नहीं, उसके जीवन का एक अंग थी। जब उसके पिता जेल में थे, तब इसी के सहारे वह जीवन यापन करती थी। आज जब वह बीमार हैं, तब इसी के सहारे वह धैर्य धारण करने का प्रयत्न कर रही है।

---

[२१]

राजा साहब और सेठ लक्ष्मीचंद में एक दूसरे के प्रति बड़ी ग़लत-फ़हमी उत्पन्न हो गई थी। राजा साहब का यह ख़याल था कि यह सेठ एक भयानक अर्थ-पिशाच है। पूँजी की वृद्धि करना इसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। उनके राज्य की सीमा पर इसने अपने व्यवसाय का विस्तार करके भारी अनर्थ किया है। जल-पूर्ण नहरें, हरे-भरे खेत, दुधार गाएँ, फल से लदे बग़ीचे और उनके बीच में विद्युत्-प्रकाश से जगमगाते हुए नाचघर, व्यायामशालाएँ और अस्पताल दिखाकर यह चाहता है कि लोग इन्हीं चीज़ों को देखते रह जायँ, और इसकी पैशाचिकता को भूल जायँ। अधिक मजदूरी के लोभ में जो किसान स्त्री-पुरुष इसके फ़ार्म में आ बसे हैं, वे इसकी बड़ी-बड़ी मशीनों के कल-पुरजे बन गए हैं। वे अपना पारिवारिक जीवन, दांपत्य जीवन, सामाजिक जीवन, सब कुछ नष्ट कर चुके हैं। यह हरियाली, यह सारा ठाट-बाट उन्हीं किसानों के रक्त से सींचा जा रहा है। बच्चे अपने मा-बाप को नहीं जानते, स्त्री पुरुष को नहीं जानती, और पुरुष स्त्री को नहीं जानता, तथा सबसे बड़ी बात यह है कि ये सब स्वयं परमात्मा को भूल गए हैं। दिन-भर के परिश्रम के बाद जो मजदूरी पाते हैं, वह मनोविनोद के नाम पर इसके फ़ार्म की हवेलियों और नाचघरों में फेंक देते और नशे में सो जाते हैं। वे यह सोच भी नहीं पाते कि उनकी क्या से क्या अवस्था हुई जा रही है। इससे भी बड़े परिताप की बात राजा साहब के लिये यह थी कि रुक्मिणी इतने योग्य, विश्व-विख्यात पिता की पुत्री होकर भी इस अर्थ-पिशाच की ओर आकर्षित थी। और, वह स्वयं आकर्षित न हो, तो भी उसके पिता अपनी पुत्री के

योग्य संसार में इसी एक को ढूँढ़ सके हैं। ओफ़् ! यह शख़्स कितना पाखंडी है।

इसके विपरीत सेठ लक्ष्मीचंद का यह ख़याल था कि यह राजा अत्यंत असभ्य और मूर्ख मनुष्य है। यह उनकी औलाद है, जिन्होंने किसानों की गाढ़ी कमाई छीनकर बड़े-बड़े महल और मंदिर खड़े किए हैं, और उस धन को अपने व्यक्तिगत आनंद-विनोद में व्यय किया है। जिन्होंने सिवा अत्याचार करने के और कुछ जाना ही नहीं, ऐसे परिवार में उत्पन्न हुए इस राजा से जो उदारता और सहृदयता की आशा करेगा, वह सही दिमाग़ का मनुष्य नहीं कहा जा सकता। फिर, अभी कल तक यह जुल्म कर रहा था, किसानों के घर फूंक रहा था, और उन्हें जेल में बंद कर रहा था, तथा इसके सिपाही खुले आम उनका शिकार कर रहे थे। आज यह आदमी सर कृपाशंकर के साथ महात्मा बना फिर रहा है। इससे अधिक पाखंडी संसार में कदाचित् ही कोई ढूँढ़ने से मिले। इससे भी बड़े परि-ताप की बात सेठजी के लिये यह थी कि इस राजा ने यह सब ढोंग रुक्मिणी को प्राप्त करने के लिये रचा है। वह रुक्मिणी, जो उसके हृदय-प्रदेश की रानी है, और जो उसके सिवा किसी अन्य को नहीं वर सकती ! पर इस राजा का दुःसाहस देखो कि वह इस भोली-भाली बालिका को ठगकर अपने ज़नानख़ाने में डालना चाहता है। और, ईश्वर न करे, यदि यह अपने प्रयत्न में सफल हुआ, तो तुरंत ही और भी नए-नए विवाह करेगा, तथा रुक्मिणी का जीवन सदा के लिये दुःखमय बना देगा।

सेठ लक्ष्मीचंद को राजा साहब की शक्ल से इतनी चिढ़ हो गई थी कि उस दिन संध्या को जब रुक्मिणी उन्हें साथ लेकर फिर कृषि-फ़ार्म की सैर के लिये तैयार हुई, तो उन्होंने साथ जाना मुनासिब नहीं समझा। पर रुक्मिणी को ऐसे मायावी राक्षस के साथ अकेले जाने देना और भी ख़तरनाक था, इसलिये उन्होंने पद्मा को साथ कर दिया, और स्वयं कार्या-धिक्य का बहाना करके अपने निजी ऑफ़िस में बैठकर सोचने लगे कि इस मानव-प्रेत से रुक्मिणी का उद्धार कैसे किया जाय।

राजा साहब को प्रसन्नता थी कि शाम की हवाखोरी में सेठ उनके साथ नहीं था। रुक्मिणी कुछ उदास थी, और राजा साहब को जान पड़ा, जैसे वह सोच रही है कि इस सेठ को रुपया अधिक प्रिय है, मेरा साथ उतना नहीं। पर दूसरे ही क्षण राजा साहब ने सोचा, संभव है, रुक्मिणी अपने पिता के लिये चिंतित हो, और उसका ध्यान ही न हो। वह सोचने लगे कि किस प्रकार रुक्मिणी को यह बात बताई जाय। उसी समय रुक्मिणी ने देखा, मीलों लंबा एक गेहूँ का खेत पका खड़ा है, और एक मशीन तेजी से उसे काटती और स्थान-स्थान पर ढेर लगाती चली जा रही है। तीन आदमी उस मशीन को चला रहे हैं, और खेत के कटे भाग में सैकड़ों मजदूर स्त्रियाँ तथा पुरुष बिखरे हैं, तथा उस गेहूँ के पूरों को बाँध-बाँधकर खड़ी बैलगाड़ियों पर रख रहे हैं। उसे खाली और लदी बैलगाड़ियाँ भी आती-जाती देख पड़ीं।

रुक्मिणी ने कहा—"यह तो आश्चर्य-जनक है। नीचे की ओर हमें गेहूँ के जो खेत देख पड़े थे, उनमें बालें भी नहीं निकली थीं, और इधर खेत कट रहे हैं।"

पद्मा ने उत्तर दिया—"इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा हमने यहाँ के वायु-मंडल को अपने क़ाबू में कर रक्खा है। उसे जब जितना चाहें, उतना गर्म या ठंडा बना सकते हैं। ये खेत उन दिनों बोए गए थे, जब गेहूँ गर्मी के कारण उग नहीं सकते; पर तब हमने वायु-मंडल को बहुत शीतल बना लिया था। ये गेहूँ जब कट जायँगे, तब इनमें गेहूँ की ही अभी एक और फ़सल उगाई जायगी।"

राजा साहब ने पूछा—"तब तो आपके यहाँ पाला पड़ ही नहीं सकता।"

"नहीं, खेतों में बिजली के तार बिछा दिए गए हैं। जिस दिन पाला पड़ने की संभावना होगी, उस दिन इन तारों के सहारे हम खेत को गर्म कर देंगे।"

इसी समय उनका ध्यान खेत जोतनेवाली बड़ी-बड़ी मशीनों ने आकृष्ट किया। एक खेत कट गया था, और वह जोता जा रहा था। वाष्प-यंत्र से चलनेवाला यह हल घुटनों नीचे की मिट्टी को खोदकर ऊपर उछालता चला जा रहा था। राजा साहब इस खेत की जोताई और दूसरी मशीन का चलना, जो ढेलों को फोड़ रही थी, देखने में लीन थे।

इधर रुक्मिणी का ध्यान एक भूधराकार मंडपनुमा इमारत ने आकृष्ट किया, जिसमें ऊपर की ओर अगणित नन्हे-नन्हे झरोखे बने थे, और नीचे सिर्फ़ एक द्वार था। इसी तरह की क़रीब दो-दो फ़र्लांग पर बनी सैकड़ों गुंबदें उसे दिखाई पड़ीं। उसके पूछने से पहले ही पद्मा ने कहा—"इस गुंबदमाला को आप इस फ़ार्म का हिमालय समझो। इस नहर में आपको जो पानी दिखलाई पड़ रहा है, और इस पानी की बदौलत जो हरियाली है, वह इन्हीं गुंबदों के कारण है। इन गुंबदों के बनवाने में करोड़ों रुपए व्यय हुए हैं, पर वे सब वसूल हो जायँगे।"

रुक्मिणी ने एक गुंबद को देखने की इच्छा प्रकट की। नौका रोक दी गई, और सब लोग उतरे। गुंबद अंदर से बिलकुल पोला था, और वहाँ बड़ी नमी और अँधेरा था। पद्मा ने एक बिजली का बटन दबाया, जिससे उसके अंदर प्रकाश हो उठा, और तीनो ने देखा, दीवारों के सहारे ऊपर से पानी ढरता चला आ रहा है, और दीवारों पर काई-सी जम गई है। पद्मा ने बताया कि इसकी रचना बड़ी आसान है। ऊपर का भाग काफ़ी ठंडा कर दिया गया है। वहाँ से होकर जो हवा गुज़रती है, वह एकाएक ठंडी हो जाती है, और उसमें जो नमी का हिस्सा है, वह यहीं रह जाता तथा दीवारों के सहारे नीचे आ जाता है। रुक्मिणी और राजा साहब ने दीवारों को ध्यान से देखा। विद्युत्-प्रकाश में दीवारें दर्पण के समान चमक-सी उठी थीं, और उन्हें अपना प्रतिबिंब दिखाई पड़ा।

यह चीज राजा साहब को विशेष रूप से पसंद आई, और मन-ही-मन उन्होंने निश्चय किया कि ऐसे कुछ आकाश-कुएँ मैं भी अपने राज्य में बनवाऊँगा। पद्मा ने कहा—"सेठजी का इरादा ऐसे ही आकाश-कूप

समस्त राजपूताना और सिंध में बनवाने का है। बिना सारे प्रदेश को ऐसा ही हरा-भरा देखे उन्हें चैन नहीं।"

जब ये लोग इस आकाश-कूप के बाहर निकले, तब दिन डूब चुका था, और कोलाहल करते हुए मजदूर-स्त्री-पुरुषों के दल अपने घरों को लौट रहे थे।

थोड़ी ही देर में बिजली की अगणित बत्तियाँ उस काली होती हुई हरियाली में एकाएक जल उठीं, और ऐसा जान पड़ा, जैसे किसी देवता के अदृश्य कर ने वहाँ मणियाँ बिखेर दी हों। इन बत्तियों का जो प्रतिबिंब नहर के पानी में पड़ रहा था, वह बड़ा ही सुंदर दिखाई पड़ रहा था। नहर से पच्छिम की ओर, कुछ दूर पर, एक विचित्र प्रकार का प्रकाश उन्हें दिखाई पड़ा। उस प्रकाश और अन्य प्रकाशों में कुछ भिन्नता थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो दिन के डूबने के पहले ही किसी ने उसका एक टुकड़ा काटकर वहाँ रख दिया हो। पूछने पर पद्मा ने बताया कि वहाँ जो प्रकाश दिखाई दे रहा है, वह वास्तव में दिन ही है। कृत्रिम दिन। उस प्रकाश में वे सब गुण मौजूद हैं, जो सूर्य-प्रकाश में पाए जाते हैं। उसके सहारे हम कुछ खास पौदों को जल्दी बढ़ा लेते हैं, और कुछ खास फल भी जल्दी पका लेते हैं। सबेरे आपने जो वृक्षोद्यान देखे हैं, वे इसी प्रकार बढ़ाए गए हैं।

राजा साहब ने कहा—"वाह रे अर्थ-पिशाच!"

पद्मा बोली—"इस सारे प्रयत्न को आप यह नाम दे सकते हैं। पर इसकी आवश्यकता है। इसके बग़ैर कृषि में भारत संसार में अपना गौरव-शाली स्थान बनाए नहीं रह सकता।"

"यह एक व्यक्ति की संपत्ति है। जनता को इससे क्या? वह तो यहाँ स्वावलंबी किसान से बदलकर परमुखापेक्षी मजदूर बनती जा रही है।" राजा साहब ने गंभीरता-पूर्वक कहा।

पद्मा बोली—"आपकी यह धारणा ग़लत है। सेठजी इस फ़ार्म को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से चला रहे हैं। इसकी आय से वह अपने कोष

की वृद्धि नहीं करना चाहते। वह सिर्फ़ अपना मूल-धन लेंगे, शेष संपत्ति इसी कार्य के विस्तार में लगती जायगी।"

"पर अधिकार तो उन्हीं का होगा?"

"नहीं, वैसे भी इसमें कई हिस्सेदार हैं, और इसके नियम-उपनियम इस प्रकार बन रहे हैं कि जो मजदूर इस फ़ार्म पर काम करेंगे, वे निरे मजदूर न समझे जायँगे। लगातार बीस वर्ष काम कर लेने पर वे इसके हिस्सेदारों की सूची में दर्ज हो जायँगे, और आय का कुछ प्रतिशत उन्हें जीवन-पर्यंत मिलता रहेगा। इसके अतिरिक्त उनके लिये अच्छे मकान और भोजन तथा उनके बच्चों के लालन-पालन की सारी व्यवस्था फ़ार्म की ओर से है। उनकी मजदूरी की दर निश्चित है, पर उन्हें सिर्फ़ उतना दिया जायगा, जो मकान किराए और भोजन से बचेगा। भविष्य के लिये उन्हें चिंता नहीं, क्योंकि तब उन्हें आय का हिस्सा मिलेगा, और वे एक आराम की जिंदगी बसर करेंगे। इस व्यवस्था से मजदूर बहुत प्रसन्न हैं, और फ़ार्म को अपना समझते हैं।"

राजा साहब ने कुछ उत्तर नहीं दिया, पर उन्हें अपना पहले का विश्वास पद्मा के इस कथन से दृढ़ होता प्रतीत हुआ। उन्हें जान पड़ा, जैसे यह सेठ परले दर्जे का मक्कार हो, और मजदूरों की मजदूरी होटल, विनोद और मकान-भाड़े के व्यय के नाम पर काटकर इस व्यापार के अंदर एक और व्यापार खड़ा किए हो। पर उन्होंने कुछ कहना उचित नहीं समझा। वह ताड़ गए थे कि पद्मा पर सेठ का जादू पूरा-पूरा चल गया है। उससे इस विषय में विवाद करना व्यर्थ है।

वह चुप हो रहे, और दूर पर सुनाई पड़नेवाले एक संगीत को समझने का प्रयत्न करने लगे। नाव उसी ओर जा रही थी। गानेवालों का स्वर, नाचनेवालों के पैर के घुंघुरू और दर्शकों की बातें क्रमशः स्पष्ट होती जाती थीं। उस भीड़ के पास पहुँचकर राजा साहब ने नाव रुकवाई, और क्या हो रहा है, यह देखना चाहा।

उन्होंने बिजली के तेज प्रकाश में आगे बढ़कर देखा, कुछ मजदूर-युवतियाँ और युवक कृष्ण, गोपी और राधा बने खुली जगह में उन्मत्त-से होकर गा रहे और नृत्य कर रहे हैं। स्त्री-पुरुषों को इस प्रकार निर्लज्जता-पूर्वक मिलकर नाचते हुए राजा साहब ने योरप में देखा था। भारत में ऐसे दृश्य की कल्पना भी उन्होंने न की थी। पाश्चात्य लोगों का इस प्रकार अंधानुकरण करने की राजा साहब ने बड़ी निंदा की। पर पद्मा ने बताया—"यह नृत्य पाश्चात्य नहीं है। राधा, कृष्ण और गोपी सब अपने ही हैं, और यदि आप अपने राज्य की निम्न श्रेणी की जातियों में ढूँढ़ें, तो आपको यह नृत्य वहाँ भी मिलेगा। इससे ये मजदूर अपनी सारी चिंता और थकान भूल जाते हैं, और इनका स्वास्थ्य बढ़ता है।"

"आह! पद्मा, यदि आप मेरी दृष्टि से भारत को देख सकतीं। निम्न श्रेणियों में यदि यह चरित्र-विनाशक प्रथा प्रचलित भी हो, तो भी इसे इस प्रकार प्रोत्साहन देना और अपने देवी-देवतों का अपमान करना क्षम्य नहीं है।"

"मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखती।" पद्मा ने कहा।

"हरएक चीज़ के दो पहलू होते हैं, और यह अच्छा है कि हम केवल उसे देखें, जो भव्य और सुंदर हो।"

"रुक्मिणी, इस नृत्य का सिर्फ़ एक पहलू, एक उद्देश्य है चरित्र का नाश। जब मैं यह सब देखता हूँ, तो सोचता हूँ, मेरा सूबा क्या बुरा था, जिसे मैंने राज्य से निकाल दिया है, और जिसकी संपत्ति ज़ब्त कर ली है।"

राजा साहब को सेठ लक्ष्मीचंद और सूबा में कोई अंतर न जान पड़ा। उन्होंने कहा—"रुक्मिणी, कुछ भी हो, मैं अपनी आर्य-सभ्यता का यह नग्न उपहास न देख सकूँगा। यहाँ से आगे चलो।"

सब लोग फिर उसी नौका पर सवार हुए, और आगे बढ़े। नहर के बराबर एक सुंदर मार्ग भी बना था। जिस समय ये लोग नाव पर बैठे,

उसी समय एक मजदूर-स्त्री भी उसी खुली नृत्यशाला से उठकर आगे बढ़ी। उसकी गोद में एक बच्चा था। वह उसे चूमती और उससे विविध प्रकार की बातें करती हुई चली जा रही थी। बच्चा बहुत छोटा था, बात नहीं कर सकता था, पर मा को इसकी परवा न थी। वह उससे प्रश्न करती थी, फिर तोतली बोली में स्वयं उत्तर भी देती थी—"बड़े होगे, तो तुम भी इसी तरह नाचोगे?" "इसी तरह ? नातूँगा ! नातूँगा।" स्त्री थिरकती भी जाती थी। वह बड़ी प्रसन्न थी।

उसका स्वर रुक्मिणी को कुछ परिचित-सा जान पड़ा। जब नाव क़रीब आ गई, तब रुक्मिणी को निश्चय हो गया कि यह चौबासा की है, और दयानिधान के छोटे भाई की वही विधवा है, जिसे उसने विषम परिस्थिति में निर्वासित होने से बचाया था। रुक्मिणी ने पुकारा—"कौन, रानी?"

वह स्त्री चौंक-सी पड़ी। रानी कहकर उसे पुकारनेवाला यहाँ कोई न था। चकित-सी होकर उसने नौका की तरफ़ देखा। उसे सुनाई पड़ा—"मैं हूँ रुक्मिनी। तू यहाँ कैसे?"

रुक्मिणी का यह परिचित स्वर कान में पड़ते ही वह दौड़कर नौका के पास आई। रुक्मिणी ने उसे पहचाना। वह भोली-भाली रानी थी, और उसका वही लड़का था। पर यहाँ आकर लड़का स्वस्थ और खूब मोटा-ताज़ा हो गया था।

"मेरे सिवा और कौन हो सकती है, जिसे भरी जवानी में अपना घर छोड़ना पड़े। चौबासा में बिना काम किए पेट न भरता, और दिन-भर खेत में काम करती, तो इस बच्चे को कहाँ छोड़ जाती। तुम्हारे कहने से मैं घर में रहने तो पाई थी, पर घरवाले मुझसे घिनाते ही रहे। मैंने सुना था, यहाँ छोटे बच्चों के रखने का अच्छा इंतज़ाम है, इसलिये यहाँ चली आई। मैं डेयरी में काम करती हूँ। गाय दुहती हूँ, कभी-कभी मक्खन भी निकालती हूँ, और गायों को नहलाती-खिलाती हूँ। उस समय

यह बच्चा बाल-मंदिर में रहता है। वहाँ ऐसे ही बीसों बच्चे आपको मिलेंगे। जितनी सेवा मैं गायों की नहीं करती, उससे अधिक सेवा बाल-मंदिर की दाइयाँ इस बच्चे की करती हैं। दिन-भर के काम के बाद यह मुझे शाम को ६ बजे प्यार करने को मिलता है। फिर मैं इसे दो घंटे अपने पास रख सकती हूँ। आज इसे नाच दिखलाने लाई थी, अब वापस बाल-मंदिर में पहुँचाने जा रही हूँ। वहाँ से लौटकर फिर नाच देखूँगी। यहाँ मैं और यह, दोनो लोक-निंदा से परे हैं।"

राजा साहब ने कहा—"ओफ़्! कितना कृत्रिम जीवन है। नन्हे बच्चे भी यहाँ अपनी मा से अलग रक्खे जाते हैं।"

वह स्त्री बोली—"हाँ! पर यह अच्छा है। एक दिन बाल-मंदिर में सेठजी का उपदेश हुआ था। उनका कहना था कि संतान तो प्रत्येक स्त्री उत्पन्न कर सकती है, पर उसका पालन सब स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं। इसके लिये विशेष शिक्षा की जरूरत होती है। और, जहाँ ऐसी शिक्षित स्त्रियाँ बच्चों की देख-रेख करने को तैयार हों, वहाँ मा-बाप को आँख मूँदकर उन्हें उनके हवाले कर देना चाहिए।"

इसी समय उन्हें पानी में एक बड़े ज़ोर की 'छप' की आवाज़ सुनाई पड़ी। जान पड़ा, जैसे कोई पानी में बड़ी उँचाई से गिर पड़ा हो। यह आवाज नहर से जरा पच्छिम तरफ़ हटकर हुई थी। पद्मा ने बताया—"उधर लोगों के स्नान करने और तैरने के लिये एक गहरा तालाब बना है, उसमें पानी इसी नहर से जाता है। पर रात को तैरने के लिये कौन कूदेगा?"

राजा साहब ने कहा—"पर कूदने की आवाज इस तरह नहीं हो सकती। यह साफ़ किसी आदमी या जानवर के गिरने की आवाज है।"

रानी ने कहा—"आप लोग ठहरिए। मैं जाकर देखती हूँ।"

वह आगे बढ़ी, और तालाब के पास पहुँची। फिर वहीं से चिल्लाई—"दौड़ियो! दौड़ियो!! एक आदमी डूब रहा है!!!"

राजा साहब ने माँझी से कहा—"नाव तालाब में ले चलो।"

पद्मा बोली—"नाव तालाब में नहीं जा सकती। उसमें नाव जाने का रास्ता बहुत तंग है।"

इस पर सब लोग तत्काल नाव से उतर पड़े, और तालाब के किनारे पहुँचे। देखा, सचमुच एक आदमी डूब रहा है। उस समय बिजली की सिर्फ़ दो बत्तियाँ तालाब के दोनो ओर जल रही थीं, उनका प्रकाश इतना था कि वह आदमी पहचाना जाता। पर यह तो स्पष्ट था कि वह आदमी है। माँझी तत्काल तालाब में कूद पड़ा, और पानी में दो हाथ मारकर उस आदमी के पास पहुँच गया। परंतु वह आदमी कुछ ऐसा घबरा-सा गया था कि माँझी से लिपट गया, और उसके सिर पर चढ़ बैठा। माँझी भी डूबने लगा। राजा साहब तैरना नहीं जानते थे। पद्मा अभी तैरना सीख रही थी। रुक्मिणी इस कला में निपुण थी। माँझी को मुसीबत में फँसा देख वह तत्काल पानी में कूद पड़ी, और उसके निकट पहुँची। रुक्मिणी को क़रीब आया देख वह आदमी माँझी को छोड़कर उसी के सिर पर चढ़ गया। पर रुक्मिणी डूबतों के स्वभाव को जानती थी, इसलिये वह तत्काल डुबकी लगा गई, और वह आदमी फिर माँझी को पकड़ने बढ़ा।

शेष लोग किनारे खड़े तरह-तरह के उपाय बताते रहे। अंत में बड़ी मुश्किल से माँझी ने एक हाथ पकड़कर उसे अपनी पीठ पर लादा, और रुक्मिणी ने उसका दूसरा हाथ पकड़ा। इस प्रकार उसे वे किनारे ले आए। तालाब के पास ही एक छोटा-सा हॉल था, जिसमें स्नान के लिये आनेवालों को कपड़े आदि बदलने की सुविधा थी। पद्मा की राय हुई कि उसे उस हॉल में ले चलकर देखना चाहिए कि कौन है। वह आदमी बेहोश न हुआ था, पर कुछ पानी पी गया था, और थककर पस्त हो गया था। माँझी ने उसे उठाकर खड़ा कर दिया, और अपने कंधे पर उसका एक हाथ रखकर उसे उस हॉल की ओर लेकर बढ़ा।

हॉल में पहुँचकर पद्मा ने जैसे ही बिजली का बटन दबाकर उजाला

किया, वैसे ही रुक्मिणी चीख उठी। राजा साहब दौड़कर उसके पास पहुँचे। यह वही मुर्दे के समान भयानक आकृति थी, जिसे उसने कृषि-फ़ार्म से पद्मा के साथ नागल जाते हुए मार्ग में देखा था। यह सूबा था।

सूबा को पहचानते ही वह स्त्री, जो अपने बच्चे को चूमती-चाटती और प्रसन्न होती चली आ रही थी, ग़ुस्से से काँप उठी। उसने कहा—"माँझी, रुक्मिन! इसे फिर पानी में डाल दो। इसी के कारण मुझे देश छोड़ना पड़ा है। इसी ने मुझे इस अधोगति को पहुँचाया है। रुक्मिन! यही वह गीदड़ है, जिसने तुम्हारी इज्ज़त को भी ककड़ी समझकर उसे चबाना चाहा था, पर अपने कर्मों का फल पा गया।"

सूबा ने आँख फाड़-फाड़कर उस स्त्री को पहचानने की कोशिश की, पर पहचान न सका। ऐसी अनेक स्त्रियाँ उसकी पाशविकता की शिकार हो चुकी थीं। वह समझ न सका कि उनमें से वह कौन है। सूबा ने उसकी गोद में बच्चा देखकर पूछा—"यह तुम्हारा ही बच्चा है?"

"दुष्ट! यह तेरी पशुता की निशानी है।"

"आह! पर कितनी सरल और सुंदर!" सूबा ने कहा—"यदि मैं वैसा हो सकता? आखिर वह भी तो मैं ही हूँ। तुम मेरे एक स्वरूप को इतना प्यार कर सकती हो, पर दूसरे को माफ़ नहीं करोगी?"

सूबा को देखकर राजा साहब भी ग़ुस्से से काँप उठे थे। उन्होंने कहा—"वह कोरा तू नहीं है। वह इस स्त्री के धैर्य, साहस और पश्चात्ताप की कहानी है। इसमें संदेह नहीं कि तेरी बर्बरता भी उसमें मिली है, पर इस अबला के आँसुओं ने उसे काटकर बहा दिया है, और वह बालक विशुद्ध सत्यं, शिवं और सुंदरं की प्रतिमूर्ति रह गया है। तू अपने को उसमें नहीं, जहन्नुम में समझ।"

"जहन्नुम भी इतना कठोर नहीं हो सकता। हाय! जिन लोगों ने मुझसे मेरा घर-बार छीना, वे अब इतने कठोर हो रहे हैं कि मुझे एकांत में मरने भी नहीं देते।"

उसकी गिरी हुई आकृति पर रुक्मिणी को कुछ दया आई। वह बोली—"क्या तुमने जो पापाचार किए हैं, उनके लिये तुम्हें दुःख है?"

"दुःख नहीं सह सका, तभी तो मरने के लिये पानी में उतरा। हाय! मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? कहाँ छिपूँ? मेरा पाप कठोर है। मैं लज्जा की चक्की में पिसा जा रहा हूँ, और पश्चात्ताप की आग में सुलग रहा हूँ।"

"तब तुम आत्महत्या मत करो! पश्चात्ताप की आँच से तपकर तुम स्वर्ण बन जाओगे, और संसार में तुम्हारा फिर आदर होगा।"

सूबा ने रुक्मिणी की ओर देखकर कहा—"तुम्हारा यह आशीर्वाद है?"

"हाँ।"

सूबा रुक्मिणी के चरण स्पर्श करने बढ़ा, पर रुक्मिणी ने उसे रोका, और पूछा—"तुम्हारे स्त्री-बच्चे कहाँ हैं?"

"सब इसी फ़ार्म में मेहनत-मजदूरी कर रहे हैं।"

रुक्मिणी ने राजा साहब से कहा—"मेरी एक बात आप मानेंगे?"

"कहो।"

"सूबा का क़सूर माफ़ करो, और इसकी जायदाद इसे वापस कर दो।"

सूबा कड़ककर बोला—"नहीं! निरंकुश राज्य में बसने की अपेक्षा मैं इस फ़ार्म में मेहनत-मजदूरी करके जीवन व्यतीत करना अधिक पसंद करूँगा।"

पद्मा ने पूछा—"इस फ़ार्म के जीवन से तुम्हें इतना संतोष है, तब तुम पानी में प्राण देने क्यों कूदे?"

"जब स्वयं राजा साहब और चौबासा के लोग मुझे यहाँ दिखाई पड़े, तब मैंने समझा, अब मेरी कुशल नहीं। मैंने सोचा, यदि कोई मुझे पहचान

लेगा, तो क्या होगा ! ऐसा न हो, यहाँ से भी निकाला जाऊँ, और बाल-बच्चे मरें। इसलिये मैंने प्राण देना ही ठीक समझा। मैंने बहुत पाप किए हैं। उनका दंड भी तो काफ़ी बड़ा होगा।"

राजा साहब ने पूछा—"तुमने मेरे राज्य को निरंकुश क्यों कहा ?"

"कोई अंकुश होता, तो मैं ये पापाचार कैसे कर पाता ?"

राजा साहब को जान पड़ा, जैसे सूबा का उतना क़सूर नहीं है, जितना उनकी उस राज्य-व्यवस्था का था, जिसे वह बदल रहे और लोकसत्तात्मक बना रहे हैं। उन्होंने कहा—"सूबा, मैं तुम्हें माफ़ करता हूँ। और, अगर देखूँगा कि तुम्हारा चरित्र सुधर गया है, तो तुम्हारी जायदाद वापस कर दूँगा। जाओ, अपना काम करो, और प्राण मत दो।"

सूबा वहाँ से चुपचाप एक तिरस्कृत, दुःखी और अत्यंत दयनीय भिक्षुक के समान, पर हृदय में एक नवीन जीवन आरंभ करने की भावना लिए हुए चला गया। पद्मा ने उस हॉल से फ़ोन करके अपनी कार पर रुक्मिणी के वास्ते कुछ सूखे कपड़े मँगवाए, और माँझी को वहीं बिदा करके सब उसी कार से वापस लौटे।

लौटने से पहले रुक्मिणी ने रानी के बच्चे को गोद में लेकर प्यार किया, और उसे चूमा। रानी ने रुक्मिणी के कान में कहा—"मैंने चौबासा में देखा था कि सेठजी तुम्हें कितना प्यार करते हैं। अभी इनका विवाह नहीं हुआ है, तुम्हारा भी नहीं हुआ है। ईश्वर यह संयोग मिला दे, तो क्या अच्छा हो !"

"धत् पगली !" कहकर रुक्मिणी ने उसे बिदाई दी, और स्वयं कार पर सवार हो गई।

---

[२२]

मुखिया संग्रामसिंह ने पुरोहित शिवदत्त से राय लेकर अपने लड़के का मुंडन कराने का समय निश्चित किया, और इस अवसर पर उन्होंने बहुत बड़ा जलसा भी करना चाहा। अब तक उनके ऊपर जो ऋण लदा था, उसकी जिम्मेदारी राज्य ने अपने ऊपर ले ली थी। मुखिया संग्रामसिंह बाबा आदम के समय से चले आते हुए ऋण से मुक्त हो चुके थे, पर धूम-धाम से लड़के का मुंडन-संस्कार कराने के लिये उन्हें उतने ही धन की जरूरत थी, और उनके घर में एक कौड़ी भी नहीं थी। इसलिये उन्होंने ताज़ा ऋण लेना चाहा। गाँव के अधिकांश आदमियों ने उन्हें समझाया कि इस प्रकार ऋण लेकर उत्सव करने की जरूरत नहीं है। बहुत करो, तो एक ब्राह्मण पुरोहित शिवदत्त को खिला दो, और लड़कों को मिठाई बाँट दो। पर मुखिया की समझ में यह बात न आई। इधर कई वर्षों से उनके घर में कोई जलसा न हुआ था। जब पुत्र का जन्म हुआ था, तब उन्होंने जलसा करना चाहा था, पर हज़ार कोशिश करने पर भी आवश्यक ऋण उन्हें न मिल सकता था, इसलिये वह मन मसोसकर रह गए थे। अब समय उनके अनुकूल था। सर कृपाशंकर के साथ रियासती जेल की यातनाएँ भुगत आने और सेठ लक्ष्मीचंद तथा राजा साहब से मैत्री हो जाने के कारण उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई थी। उनका खयाल था कि इस बार वह साहूकारों से ऋण माँगेंगे, तो उन्हें अवश्य मिल जायगा। उनके घर था, कुआँ था, अच्छे खेत थे और बहुत-सी परती जमीन थी। इस जायदाद के ऊपर जो ऋण उन्होंने लिया था, वह सरकार के मत्थे मढ़ गया था, इसलिये वह इसी जायदाद पर नया ऋण लेने को स्वतंत्र थे।

एक साहूकार से उन्होंने इसी प्रकार की लिखा-पढ़ी की, और कार्य आरंभ करने के लिये कुछ रुपया भी उसके घर से ले आए।

उनकी यह बड़ी इच्छा थी कि इस अवसर पर राजा साहब, सेठ लक्ष्मीचंद और सर कृपाशंकर भी मौजूद रहें। सेठ लक्ष्मीचंद की भाँति ईश-प्रार्थना में उनका विश्वास नहीं था। पर उनकी तीनो पत्नियाँ प्रतिदिन की प्रार्थना में शरीक होती थीं। उनसे मुखिया ने कह दिया था कि वे खास तौर से यह मनाएँ कि स्वामीजी जल्दी अच्छे हो जायँ, जिससे वह भी इस जलसे में आ सकें। लक्ष्मीचंद ने इस अवसर पर आने का वादा कर लिया था। केवल राजा साहब शेष रह गए थे। पर मुखिया का ख़याल था कि वह उन्हें भी राज़ी कर लेंगे।

हर दूसरे-तीसरे दिन आदमी भेजकर वह स्वामीजी का हाल पुछवाया करते थे। जब उन्होंने सुना कि अब वह अच्छे हो रहे हैं, और रुक्मिणी को उनसे मिलने की आज्ञा मिल गई है, तब वह बड़े प्रसन्न हुए और सोचा कि एक बार स्वयं देख आवें, और उन्हें निमंत्रित भी कर आवें।

पर इस तैयारी के सिलसिले में घर में इतना काम था कि वह स्वयं वहाँ न जा सके। उन्होंने मँगरू को भेजा। जब मँगरू लौटकर आया, और उसने बताया कि स्वामीजी अब बिलकुल अच्छे हो गए हैं, और आज फ़ार्म देखने गए थे, तब मुखिया संग्रामसिंह बड़े ही खुश हुए। उन्होंने पूछा—"अबे! यह बता कि वह आवेंगे या नहीं?"

"आवेंगे, मगर......" मँगरू कुछ कहने जा रहा था, पर रुक गया।

"मगर क्या बे!"

मँगरू ने कहा—"स्वामीजी कहते थे कि संग्रामसिंह ग़लती कर रहे हैं। ऋण लेकर इस तरह उत्सव में धन नहीं फूकना चाहिए। और, राजा साहब कहते थे कि राज्य ने उनका पुराना ऋण अपने ऊपर इसलिये थोड़े ही लिया है कि वह नया ऋण लें। उन्होंने आज ही एक हुक्म निकाला

है कि राज्य में बिना लिखाए यदि कोई साहूकार किसी किसान को ऋण देगा, तो लेने और देनेवाले, दोनो अपराधी समझे जायँगे, और उन पर मुक़दमा चलेगा।"

मँगरू की बात के इस अंतिम अंश से मुखिया संग्रामसिंह कुछ चौंके। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि किसानों की भलाई के नाम पर ये नए जुल्म आरंभ हुए। कहाँ सेठ लक्ष्मीचंद का फ़ार्म, जहाँ रोज ही नाच-गाने और उत्सव होते रहते हैं, और कहाँ यह रियासत, जहाँ बरसों में खुशी मनाने के जो मौक़े आते हैं, उन पर भी रोक लगती है। आखिर धन का मतलब क्या है, यही न कि आदमी को जिंदगी में अधिक-से-अधिक सुख मिले। धन जोड़कर मनहूस बने रहने से ऋण लेकर भी आनंद मनाना अच्छा है। पर राजा साहब को कौन समझावे। अफ़सोस यह है कि स्वामीजी भी उसी रंग में रँगे हैं। राज्य ने हमारा ऋण अपने ऊपर लिया, यह तो उपकार किया, पर ऋण के साथ ही वह हमारी होली-दिवाली भी लेना चाहता है, यह तो ठीक नहीं। इस प्रकार तो ऋण से मुक्त होना हमें महँगा पड़ेगा।

संग्रामसिंह यह सोच ही रहे थे कि पुरोहित शिवदत्त वहाँ पधारे। उन्होंने कहा—"एक ही लड़का है। उत्सव निराला होना चाहिए। कुछ नाच-बाच का भी इंतजाम कर रहे हो न?"

"नाच! अरे, जो कर रहे हैं, उसमें भी विघ्न पड़ता दिखाई पड़ रहा है।"

मुखिया संग्रामसिंह ने मँगरू की सब बातें कह सुनाईं।

पुरोहितजी ने कहा—"सब बात में उन्हीं की थोड़े ही चलेगी। मैंने भी शास्त्र पढ़े हैं। बिना नाच के उत्सव पूरा हो ही नहीं सकता।"

संग्रामसिंह ने कहा—"पुरोहितजी, आपकी मदद चाहिए, सब काम हो जायगा।"

दूसरे ही दिन उन्होंने नागल आदमी भेजकर नाच का भी बंदोबस्त कर लिया।

जब मुंडन-संस्कार का एक दिन रह गया, तब सर कृपाशंकर राजा साहब और रुक्मिणी के साथ चौबासा आए। उस दिन की प्रार्थना में और भी भीड़ हुई। आस-पास के गाँवों के भी लोग आए। सर कृपाशंकर बिलकुल अच्छे हो गए थे। पर अभी उनका शरीर बहुत कमजोर था, इसलिये सदा की भाँति उन्होंने किसानों को कोई सदुपदेश नहीं दिया। उनके स्थान पर राजा साहब ने एक छोटी-सी वक्तृता दी। उन्होंने पहले की और अब की हालत की तुलना करते हुए कहा—"यदि आप लोगों ने इसी प्रकार अपने प्राचीन घरेलू धंधों को अपनाना जारी रक्खा, तो किसी को भोजन और वस्त्र का कष्ट न होगा।" इसी सिलसिले में उन्होंने किसानों के ऋण के संबंध में भी कहा, और इस बात पर जोर दिया कि ऋण सिर्फ़ ऐसे कामों के लिये लेना चाहिए, जिनमें पूँजी डूबने का भय न हो, और निश्चित समय पर ऋण चुकाने के बाद भी कुछ धन बच सके। ऋण लेकर शादी-ब्याह करने और नाच-गान में बरबाद करने की उन्होंने बड़ी निंदा की। उन्होंने वहाँ जमा हुए किसानों से कहा कि वे इस बात को हाथ उठाकर प्रतिज्ञा करें कि हम ऋण लेकर जलसा नहीं करेंगे। सब किसानों ने हाथ उठाकर एक स्वर से कहा—"हम ऋण लेकर जलसा नहीं करेंगे।"

सिर्फ़ दो हाथ नहीं उठे। ये दो आदमी थे मुखिया संग्रामसिंह और पुरोहित शिवदत्त।

राजा साहब ने अलग ले जाकर मुखिया संग्रामसिंह और पुरोहितजी से बड़ी देर तक वाद-विवाद किया, पर वह उन्हें अपने पक्ष में न ला सके। तब उन्होंने फिर कहा—"मुझे दुःख है कि मैं मुखिया संग्रामसिंह और पुरोहितजी के हृदय में यह बात नहीं बैठाल सका कि इस प्रकार धन का अपव्यय करना अनुचित है। पर ये नहीं मानते, तो जो मन में आवे, करें। उस दशा में हम लोग सिर्फ़ यह करें कि हम इनके उत्सव में शरीक न हों।"

मुखिया संग्रामसिंह को राजा साहब के इस अंतिम प्रस्ताव से कुछ भय मालूम हुआ। पर उन्होंने अपना जी कड़ा करके कहा—"मैं डरने-वाला नहीं हूँ। मेरे द्वार पर कोई न आवेगा, तो मैं अकेले नाच-गा लूँगा। पर मैं पूछता हूँ, राजा साहब कृषि-फ़ार्म पर क्यों गए थे? वहाँ तो रोज ही नाच-गाने होते रहते हैं। कहीं दस-बीस बरस में हम किसानों को इस प्रकार एक साथ बैठकर खाने-पीने और हँसने-बोलने का मौक़ा लगता है, और राजा साहब हमसे उसे भी छीनना चाहते हैं। सेठजी को तो कहते हैं कि वह किसानों को अपनी मशीनों से बेजान बनाए डालते हैं, पर मैं पूछता हूँ, राजा साहब कौन-सी जान हममें डाल रहे हैं। भले यह मेरा क़र्ज न माफ़ करें, पर मेरे भाइयों को क्यों मना करते हैं कि कोई मेरे द्वार पर न आवे। इस तरह का जुल्म तो सूबा ने भी कभी नहीं किया।"

राजा साहब इस बात का उत्तर देने के लिये खड़े ही हुए थे कि सेठ लक्ष्मीचंद और पद्मा की कार वहाँ आकर खड़ी हुई। बहुत-से लोग सेठ-जी को देखने के लिये उठ खड़े हुए। मुखिया संग्रामसिंह का निमंत्रण स्वीकार करके सेठ लक्ष्मीचंद और पद्मा, ये दोनो भी एक दिन पहले ही वहाँ आ गए थे। सेठजी यहाँ के लोगों के लिये अब अपरिचित व्यक्ति न थे। बहुत-से किसान उनके आश्चर्य-जनक खेत देख चुके थे, और कभी-कभी सोचा करते थे कि यदि ईश्वर उन्हें धन दिए होता, तो वे भी उसी प्रकार खेती करते। इन किसानों के हृदय में सेठजी के लिये स्वामीजी या राजा साहब से कम आदर न था।

सेठजी को आया देख मुखिया संग्रामसिंह आगे बढ़कर उन्हें भीड़ में ले गए, और राजा साहब तथा रुक्मिणी के पास बैठालकर पूछा—"सेठजी, आप कल मेरे दरवाजे पर आएँगे या नहीं?"

"मैं तो आज ही से तुम्हारा मेहमान हूँ।"

"और पद्मा बीबी, आप?"

"मैं भी।"

"देखिए, अब आप लोग राजा साहब के कहने में न आइएगा। यह सब किसानों को मना कर रहे हैं कि संग्रामसिंह के दरवाजे पर कोई न जाय।"

संग्रामसिंह की इस बात पर राजा साहब को हँसी आ गई। और, पद्मा भी अपनी हँसी न रोक सकी। उसने कहा—"पर ठाकुर साहब! यहाँ तो राजा साहब का हुक्म चलता है। यदि वह मना कर देंगे, तो कोई कैसे जा सकता है।"

"तो सेठजी! मैं आपके फ़ार्म में चलकर जलसा करूँगा।"

"मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

सर कृपाशंकर ने इशारे से मुखिया संग्रामसिंह को अपने पास बुलाया, पर संग्रामसिंह ने दूर ही से चिल्लाकर कहा—"बस, स्वामीजी! आप चुपचाप बैठे रहिए। इस मामले में आपकी बात न सुनूँगा। मैंने आपका बहुत कहना माना है, आप एक बात मेरी भी मानिए।" इस पर लोग और ज़ोर से हँसे।

राजा साहब ने कहा—"कुछ भी हो, मैं पेशेवर नाचनेवालियों को अपने राज्य के भीतर अब न नाचने दूँगा।"

पद्मा बोली—"यदि मैं नाचूँ?"

"मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

पद्मा ने मुस्किराकर कहा—"अच्छी बात है। संग्रामसिंह, मैं नाचूँगी।"

"और मेरी तीनों स्त्रियाँ भी नाचेंगी।" संग्रामसिंह ने चिल्लाकर कहा।

"मुझे इस पर भी आपत्ति न होगी।" राजा साहब ने कहा। और, सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"और पुरोहितजी चाहें, तो वह भी नाच सकते हैं।"

पुरोहित शिवदत्त भरे हुए बैठे थे। उन्होंने कहा—"ख़बरदार! जो किसी ने मेरा नाम लिया।"

उन्होंने अपना जनेऊ हाथ में लिया, और कहा—"प्राण दे दूँगा।"

रुक्मिणी उनके पास जाकर बोली—"पिताजी, आप चुप रहिए।"

रुक्मिणी की सरल, स्नेह-सनी बात का पुरोहितजी पर सदा प्रभाव पड़ता था, और वह उसे अपनी ही पुत्री के समान मानने लगे थे। वह चुप होकर बैठ रहे, सभा समाप्त हो गई।

दूसरे दिन सेठ लक्ष्मीचंद के कृषि-फ़ार्म से मजदूर संग्रामसिंह के यहाँ बैंड बजाने आए, और निश्चित समय पर कुमारी पद्मा ने अपना मनोहर नृत्य दिखाया।

जब पद्मा नृत्य में तन्मय हो गई, और उसने एक अत्यंत करुण विरह का संगीत गाया, तब सेठ लक्ष्मीचंद को ऐसा जान पड़ा, जैसे वह उसके प्राणों के साथ खेल रहे हों। उनके हृदय में उसके प्रति अपार सहानुभूति उत्पन्न हुई। वह रत्नाभूषणों से युक्त और बहुमूल्य रक्त वर्ण की रेशमी पोशाक पहने हुए थी। क्षण-भर को वह रुक्मिणी को भूल-से गए, और उनके हृदय-प्रदेश पर पद्मा का अनायास अधिकार हो गया। वह तन्मय होकर उसका नृत्य देखने लगे।

सर कृपाशंकर और राजा साहब इस मजलिस में अपने जीवन के नवीन सिद्धांत के अनुसार न आए थे। रुक्मिणी पद्मा के विशेष आग्रह करने पर आई थी, पर पिता की सेवा-शुश्रूषा के बहाने शीघ्र ही वहाँ से उठ गई।

पद्मा का नृत्य और सेठजी की उस नृत्य में तन्मयता देखकर वह मन-ही-मन कुछ उदास हुई। उसने सेवा और तपस्या का जीवन आरंभ किया था। इस जीवन में इस प्रकार के आमोद-प्रमोद को स्थान न था। क्या अच्छा होता कि सेठजी का भी उसी की भाँति सादा जीवन होता।

उसे जान पड़ा, जैसे पद्मा दूसरे लोक को उससे छीने लिए जा रही है। पद्मा के ऊपर उसे कुछ रोष भी आया, पर वह रोष शीघ्र ही उसी के मन की भाँति मलिन हो गया। उसने मन-ही-मन कहा—जब मुझे विवाह नहीं करना है, तब मैं सेठजी को स्पष्ट उत्तर क्यों न दे दूँ, और यदि वह पद्मा के साथ विवाह करना चाहते हों, तो उन्हें ऐसा अवसर क्यों न दूँ। दूसरे ही क्षण उसने फिर सोचा, पर क्या मैंने उनसे स्पष्ट नहीं कहा कि मैं विवाह न करूँगी।

उसके सामने उसके निर्बल पिता की तसवीर नाच गई। उसे गाँव के अर्द्ध-नग्न, मलिन-मुख पचासों बालक-बालिकाओं का ध्यान आया। क्या इनकी सेवा में जीवन पूर्ण नहीं है। क्या इनकी सेवा में कम आनंद है। जिसके देश में दुःख और दारिद्रय की आँधी बह रही है, जिसके देश-वासी जीवन को भार समझ बैठे हैं, उसे होश रहते विवाह करके अलग गृहस्थी बनाने की क्या जरूरत। कुछ भी हो, वह विवाह नहीं करेगी। वैवाहिक जीवन उस माँझी के जाल के समान है, जो मछली को पहले तो अपनी ओर आकृष्ट करता है, पर बाद को उसे अपना क़ैदी बना लेता है, और उसे दम घुट-घुटकर मरना पड़ता है। वह इस जाल में क्यों पड़े? उसने सोचा, इस संबंध में संकोच से काम न चलेगा। आज ही वह सेठ-जी को स्पष्ट लिख देगी कि वह उसके साथ विवाह करने की आशा छोड़ दें।

सारा गाँव मुखिया संग्रामसिंह के द्वार पर जमा पद्मा का नृत्य देखने में लीन था। केवल रुक्मिणी अकेली उठकर वहाँ से चली आई थी। मार्ग में चारो ओर सन्नाटा दिखाई पड़ा। कई हरे-भरे खेत और झोपड़े पार करने के बाद वह उस ओर मुड़ी, जिधर उसके पिता की कुटी थी। उसके कानों में कृषि-फ़ार्म के बैंड की ध्वनि पड़ रही थी, और उसके पैर जैसे इसी ध्वनि की गति पर उठ रहे थे।

एकाएक उसे जान पड़ा, जैसे कोई उस निर्जन स्थान में मंद स्वर से उसे पुकार रहा हो—"रुक्मिणी! रुक्मिणी!"

उसने दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे दृष्टि दौड़ाकर देखा कि कौन है, पर उसे कुछ दिखाई न पड़ा। वह खड़ी हो गई, और यह बिसूरने लगी कि यह किसकी आवाज़ हो सकती है, और किधर से आ सकती है। एका-एक उसकी दृष्टि उस मकान की खिड़की पर पड़ी, जिसे राजा साहब ने अपने लिये बनवाया था। उसने देखा, स्वयं राजा साहब खिड़की के पास खड़े उसकी ओर एकटक देख रहे हैं।

राजा साहब की दृष्टि से ज्यों ही उसकी दृष्टि मिली, रुक्मिणी कुछ सहमी। उसे भय था, कहीं राजा साहब भी उससे सेठजी की भाँति विवाह का प्रस्ताव न कर बैठें, और उसे विकट स्थिति का सामना करना पड़े। इसलिये वह ऐसे अवसर बहुत कम आने देती थी, जब राजा साहब को उससे कुछ ऐसी बातें कहने का मौक़ा हो। आज जैसे वह धोखा खा गई। क्षण-भर को वह चकित-सी जहाँ-की-तहाँ खड़ी रही।

राजा साहब ने फिर उसे पुकारा—"रुक्मिणी! कुछ देर को मेरी कुटी पवित्र नहीं करोगी? मुझे तुमसे एक महत्त्व-पूर्ण विषय पर बात करनी है।"

यह महत्त्व-पूर्ण विषय क्या हो सकता है? इसे समझने में रुक्मिणी को देर न लगी। कोई बहाना करके आगे बढ़ जाने में उनकी बड़ी उपेक्षा होती, इसलिये साहस करके वह उनके झोपड़े की ओर बढ़ी। अपनी ओर रुक्मिणी को आता देख उन्होंने आगे बढ़कर दरवाज़े पर ही उसका स्वागत किया, और बड़े ही आदर के साथ उसे अंदर ले आए।

राजा साहब के इस ग्राम-निवास का द्वार पूर्व की ओर था। अंदर प्रवेश करने पर पहले एक बड़ा कमरा मिलता था, जो राजा साहब की बैठक थी। इसमें पुआल के ऊपर बाँस की चटाई बिछी थी, और उसके ऊपर एक स्वच्छ कपड़ा बिछा था। दीवारें स्वच्छ और चूने से पुती थीं, और एक दीवार पर सर कृपाशंकर की फ़ोटो टँगी थी। अंदर की ओर इसमें कई दरवाज़े और खिड़कियाँ थीं। इसी से मिला हुआ वह कमरा

था, जिसमें से राजा साहब ने रुक्मिणी को पुकारा था। इस बड़े कमरे से होकर वह उसे उस छोटे कमरे में ले गए। इस कमरे में भी उसी प्रकार आधे भाग में चटाई बिछी थी, और आधे भाग में एक तख्त पड़ा था, जिसके ऊपर एक गद्दा और स्वच्छ चद्दर बिछी थी। एक कोने में एक छोटी-सी मेज़ और दो-तीन कुर्सियाँ रक्खी थीं। इस कमरे की दीवारों पर भी सफ़ेदी के सिवा और कोई सजावट न थी। एक ताक़ पर सिर्फ़ एक घड़ी रक्खी थी, और ताक़ के बराबर ही नागल-राज्य का नक़्शा टँगा था। यह राजा साहब का प्राइवेट कमरा था। इसी में वह सोते और लिखते-पढ़ते थे।

रुक्मिणी एक कुर्सी पर बैठ गई, और राजा साहब दूसरी कुर्सी पर बैठे। कुछ देर तक दोनो चुप रहे। राजा साहब ने उससे एकांत में मिलने पर बहुत-सी बातें कहने को सोच रक्खी थीं, पर आज जैसे वह सब भूल गए। और, रुक्मिणी को ऐसा जान पड़ा, जैसे वह एक अत्यंत अपरिचित स्थान में आ गई है। राजा साहब से बात करने का वह कुछ विषय सोचने लगी, पर जैसे उसे सब कुछ भूल गया हो।

अंत में बड़ी मुश्किल से साहस करके राजा साहब ने कहा—"रुक्मिणी!"

"हाँ।"

"सेठ लक्ष्मीचंद और हम लोगों का मार्ग अलग-अलग है। मैं देखता हूँ कि समय आ गया है, जब हमें इस बात को स्पष्ट कर देना चाहिए, नहीं तो हमारे पवित्र ध्येय को ठेस पहुँच सकती है।"

रुक्मिणी बोली—"यह तो स्पष्ट है ही, और आप इसे कितना स्पष्ट करेंगे?"

"अभी स्पष्ट नहीं है। आज सारा चौवासा जिस नृत्य-गान में लीन है, क्या वह हमारे सेवा-संयम और सादगी के आदर्श के अनुकूल है?"

"धीरे-धीरे लोगों को इन बातों से अपने आप अरुचि हो जायगी।"

"मैं ऐसा नहीं समझता। हम इस गाँव का सामाजिक स्वास्थ्य तभी क़ायम रख सकते हैं, जब तुम सेठजी से मिलना-जुलना बहुत कम कर दो।"

"वह तो वैसे भी कम है। पिताजी बीमार न होते, तो शायद मैं उनके यहाँ जाती भी न।"

"रुक्मिणी! यदि नाराज़ न हो, तो एक बात कहूँ।"

"कहिए।"

"यह पद्मा सेठजी की कौन है?"

"कोई नहीं, उनके फ़ार्म में कार्य करती है।"

"सेठजी इस पर बहुत मुग्ध हैं।"

"शायद।"

"और यह भी सेठजी पर अपना सर्वस्व निछावर किए बैठी है।"

"संभव है।"

"तब ये दोनो आपस में विवाह क्यों नहीं कर लेते?"

"यह तो उन्हीं से पूछने की बात है।"

"रुक्मिणी! मुझे संदेह होता है। मेरा ख़याल है, दोनो पति-पत्नी के रूप में रह रहे हैं। पर ये प्रकट रूप से विवाह क्यों नहीं कर लेते। इनका इस रूप में रहना और हमारे साथ मिलना-जुलना गाँववालों को भ्रम में डाल सकता है।"

रुक्मिणी कुछ उदास-सी हो गई। उसे जान पड़ा, जैसे पद्मा उसके हाथ से सेठ लक्ष्मीचंद को छीने लिए जा रही हो। पर उसने अपने आपको समझाया। इसमें उदास होने की क्या बात है। मुझे तो विवाह करना ही नहीं है। और, मेरा यह चाहना कि सेठजी भी कभी विवाह न करें, अनुचित है, स्वार्थमय है।

उसने मुस्किराने की चेष्टा की । राजा साहब ने कहा—"पर वह पद्मा से प्रकट रूप से कभी विवाह नहीं करेंगे ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि वह तुम्हें भी अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं । यदि वह पद्मा से प्रकट रूप से विवाह कर लेंगे, तो यह कैसे संभव होगा ।"

"वह जानते हैं, खूब जानते हैं, मैं विवाह नहीं करूँगी ।"

राजा साहब ने कुछ आश्चर्य के साथ रुक्मिणी को देखा । उन्होंने कहा—"रुक्मिणी, मैं जो कहना चाहता हूँ, मुझे मौक़ा दो कि मैं कहूँ । मैं तुम्हें प्यार करता हूँ । मुझे पथ-भ्रष्ट होने से बचाने के लिये, इस राज्य की रक्षा के लिये तुम्हें मेरे साथ विवाह करना पड़ेगा । तुम इस राज्य की लक्ष्मी हो । तुम्हें ईश्वर ने इसीलिये यहाँ भेजा है ।"

इतना कह चुकने पर राजा साहब को जान पड़ा, जैसे उन्होंने बहुत बड़े साहस का काम कर डाला हो । उनके इस कथन का रुक्मिणी के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है, वह क्या सोच रही है, बिना इसे जानने की कोशिश किए राजा साहब ने कहा—"रुक्मिणी ! मैं यह मानता हूँ कि इस युग में बहुत कम राजे ऐसे हैं, जो तुम्हारी-जैसी सती-साध्वी स्त्री के हाथ के अधिकारी हों । पर मैं उनमें नहीं हूँ । मेरा राजवंश जितना प्राचीन है, उतना ही अधिक उच्च आदर्शों पर चलनेवाला भी रहा है । मेरे मा-बाप ने मुझे सब बुराइयों से बचाया है । उनकी आरंभ से ही यह इच्छा थी कि मैं प्रजा का सच्चा सेवक बनूँ । उनकी इच्छा ही सर कृपाशंकर को और तुम्हें यहाँ खींच लाई । मेरा खयाल है, ईश्वर ने तुम्हें मेरे ही लिये इस संसार में भेजा है । ऐसा न होता, तो मेरे हृदय में हरगिज-हरगिज तुम्हारे लिये प्रेम का उदय न होता । मेरी नसों में आर्य-रक्त दौड़ रहा है । वह मुझे धोखा नहीं दे सकता । अब तुम्हें छोड़कर मैं अन्य स्त्री की ओर आँख नहीं उठा सकता । यदि तुमने मेरी बात न मानी, तो मुझे संन्यासी होना पड़ेगा, और यह राज्य बिना योग्य उत्तराधिकारी के नष्ट हो

जायगा । इनकार करने से पहले, कुछ भी मुंह से निकालने से पहले यह सोच लो । सांसारिक सुख-भोग की दृष्टि से नहीं, एक राजा, एक राज्य और उस राज्य में बसनेवाले लाखों नर-नारी के हित-अहित को ध्यान में रखते हुए उत्तर दो । विवाह का अर्थ कहीं सांसारिक सुख-भोग होता है, कहीं कर्तव्य-पालन । तुम विवाह से उदासीन हो, क्योंकि तुम तपस्विनी हो । तुम्हें सांसारिक सुख में रुचि नहीं है, पर रुक्मिणी ! एक दूसरा पहलू भी है । वह इतना उपेक्षणीय नहीं है ।"

राजा साहब ने अपने हृदय के सारे भाव उँडेलकर रख दिए । पर रुक्मिणी पर जैसे इसका कोई असर ही न हुआ हो । वह प्रस्तर-प्रतिमा की भाँति बहुत देर तक मौन भाव से पृथ्वी की ओर देखती रही, फिर उसी प्रकार सिर नीचा किए हुए बोली—"आप एक आदर्श-वादी नवयुवक हैं । आदर्श के पीछे आप राजसी सुख और ठाट-बाट को तुच्छ समझते हैं, यह मैं जानती हूँ, इसीलिये मुझे आप पर विश्वास तथा भरोसा है । मैंने अविवाहित ही रहने का व्रत लिया है, और मैं आपसे सहायता की भीख माँगती हूँ । इस व्रत के पालन में आप मेरी सहायता करें ।"

दोनो ने एक दूसरे की ओर फिर देखा । दोनो की आँखों में एक दूसरे के लिये आदर का अपार भाव था । दोनो के हृदय में इतना साहस न था कि वे एक दूसरे की बात को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करें । यदि राजा साहब रुक्मिणी के सौंदर्य से प्रभावित थे, तो वह भी उनके एहसानों से दबी थी । एक विकट स्थिति थी । एकाएक सर कृपा-शंकर ने बाहर से आवाज लगाई—"रुक्मिणी !"

दोनो जैसे सोते से जागे । राजा साहब तेज़ी से द्वार पर आए, और उनके पीछे ही रुक्मिणी भी आ पहुँची, और बोली—"हाँ पिताजी ।"

"ओफ़् ! यहाँ छिपी बैठी है । मैं कब से तुझे ढूंढ़ रहा था ।"

---

[३२]

सर कृपाशंकर अच्छे तो हो गए थे, पर उनकी कमजोरी न गई थी। थोड़ी दूर चलने में भी उनके पाँव थरथराने लगते थे। इसलिये यह सोच-कर कि कहीं वह फिर बीमार न हो जायँ, उन्होंने प्रार्थना में जाना बंद कर दिया था। वह अपनी प्रार्थना अलग करते थे। उसमें राजमाता, राजा साहब, मँगरू और आस-पास के दो-चार लोग और आ जाते थे। रुक्मिणी कहीं जाती थी, तो मँगरू को पिता के पास छोड़ जाती थी।

कभी-कभी ऐसा होता था कि राजमाता इत्यादि सब उनके पास से चले जाते, और उस समय वह और मँगरू, दोनो अकेले रह जाते थे। तब उन्हें यह सूझती थी कि मँगरू को जीविकोपार्जन के लिये कोई छोटा-मोटा काम सिखाना चाहिए।

एक दिन उन्होंने क्या देखा कि मँगरू कहीं से पुराने जूतों की मरम्मत करने का सामान लाया है, और वह उसकी सहायता से एक अत्यंत फटे जूते को ठीक करने में लगा है। उस समय वह कुटी के बाहर जमीन पर बैठा हुआ था। वह ऐसा स्थान देखकर बैठा था कि वहाँ से सर कृपाशंकर को भी देखता रहे। पर वह अपने काम में इतना लीन हो गया कि बजाय इसके कि वह सर कृपाशंकर को देखे, उन्हीं का ध्यान उसकी ओर गया। वह सोने के इरादे से चारपाई पर लेटे थे, परंतु उन्हें नींद न आती थी। एकाएक सेठ लक्ष्मीचंद के फ़ार्म की उन्हें याद आ गई। आँधी जैसे किसी वृक्ष को आंदोलित करती है, वैसे ही उनके हृदय को इस विचार ने अशांत कर दिया कि भारत के उद्धार का कौन-सा तरीक़ा अच्छा है—उनका या सेठ लक्ष्मीचंद का। वह किसी निश्चय पर न पहुँच सके।

यदि उन्हें अपना तरीक़ा बहुत अच्छा जँचा था, तो सेठ का ढंग भी उन्हें वैसा बुरा नहीं जान पड़ा।

फ़ार्म की सैर करके यहाँ आने से पहले इस संबंध में उनसे और सेठ लक्ष्मीचंद से अच्छा विवाद भी हुआ था। वे ही सब विचार उनके मस्तिष्क में फिर से उमड़ रहे थे। वह सो न सके, और बिस्तर पर उठकर बैठ गए। मँगरू पर दृष्टि पड़ते ही जहाँ बैठे थे, वहीं से उसे पुकारा—"मँगरू!"

मँगरू के हाथ उन पुराने जूतों में उलझे थे, और वह पूरे मनोयोग से उन्हें दुरुस्त करने में लगा था। वहाँ बैठे-ही-बैठे उसने वृद्ध कारीगर की भाँति ऊपर को दृष्टि उठाई। सर कृपाशंकर ने फिर पुकारा—"मँगरू, क्या कर रहा है?"

उनकी दृष्टि क्षीण हो चली थी, वह बिना चश्मे के स्पष्ट न देख सकते थे कि मँगरू क्या कर रहा है। मँगरू ने समझा, स्वामीजी उसे बुला रहे हैं। वह तत्काल अपने आसन से उठा, और उनके पास पहुँचकर बोला—"क्या लाऊँ स्वामीजी!"

"तू क्या कर रहा है?"

"जूते सी रहा हूँ।"

"तू जूता सीना जानता है?"

"कभी सिया नहीं, पर अपने चाचा को सीते देखा था। वह कहीं जाते नहीं थे। नीम के पेड़ के नीचे दिन-भर औजार लिए बैठे रहते थे। दिन-भर में खाने-भर को पा जाते थे। मैं उनके पास खेला करता था। अभी बहुत दिन भी तो नहीं हुए, उसी की याद बनी है।"

"तुझ नौसिखिए को अपना जूता बिगाड़ने के लिये किसने दिया है? और ये औजार तुझे कहाँ से मिले?" सर कृपाशंकर मुस्किराए।

"ये मुखिया के जूते हैं। कल्लू चमार को उन्होंने दिखलाया था। उसने मरम्मत कराई बहुत ज्यादा माँगी। तब मैंने उनसे कहा—

'औजार मुझे दिलवा दो, तो मैं मुफ़्त में ठीक कर दूं।' इस पर उन्होंने औजार दिलवा दिए।"

"यहाँ ला, देखूं, कैसे सीता है।"

"यहाँ! आपके कमरे के अंदर!" मँगरू कुछ चौंका।

"बेवक़ूफ़! यहाँ लाने में क्या हर्ज है। जूतों की मरम्मत करना मैं उतना ही पवित्र कार्य समझता हूँ, जितना गंगा-स्नान के बाद गीता-पाठ करना।"

मँगरू को स्वामीजी की बात पर बहुत आश्चर्य हुआ। पर वह जानता था कि वह जो कहते हैं, उसका दूसरा अर्थ नहीं होता। वह तुरंत जाकर सब सामान लाया, और सर कृपाशंकर की चारपाई के बराबर खाली जगह में उसे क़ायदे से फैलाकर बीच में इस तरह बैठ गया, जैसे कोई बहुत अनुभवी कारीगर हो।

मँगरू जूते सीने लगा, और सर कृपाशंकर खाट पर पेट के बल लेट रहे, और पाटी पर हाथ के सहारे ठुड्डी रखकर उसका सीना देखने लगे। उन्होंने देखा, मँगरू चमड़ा तो ठीक काटता है, और टाँके भी ठीक लगाता है, पर उसके टाँके एक-से नहीं होते। उन्होंने लेटे-लेटे कई बार उसे समझाया। पर जैसा वह चाहते थे, वैसा वह न बना सका। तब वह खाट से नीचे आ बैठे, और मँगरू के हाथ से जूता लेकर स्वयं सीने लगे। परंतु बतलाना जितना आसान था, स्वयं करना उतना आसान न था, और उनकी कलाई में दर्द भी होने लगा। मँगरू बोला—"स्वामीजी! आपका सीना तो मुझसे भी खराब होता है।" वह ज़ोर से हँसा—"यह चमार का काम है, चमार ही इसे अच्छा कर सकता है।"

इसी समय वहाँ पुरोहित शिवदत्त और मुखिया संग्रामसिंह ने प्रवेश किया। मुखिया संग्रामसिंह ने जब देखा कि स्वयं स्वामीजी उनका जूता सीने में लगे हैं, तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उनके हाथ से जूता छीनने की कोशिश करते हुए कहा—"स्वामीजी, आप मुझे नरक में भेजने पर क्यों तुले हुए हैं? जब यमराज को मालूम होगा कि मैंने ब्राह्मण के हाथ से जूते सिलाए हैं, तब वह मुझे तुरंत अग्नि-कुंड में डलवा देगा! लाइए मेरे जूते इधर।"

सर कृपाशंकर ने ललकारकर कहा—"ठहरो! डरो मत! मैं मँगरू से ज्यादा ही अच्छा सी सकता हूँ।"

वह ज़ोर से हँसे। इधर मँगरू की स्वाभाविक मुस्कान आज उसके चेहरे पर अंकित हुई थी। उसे जान पड़ा, जैसे वह निरा नालायक़ नहीं है। कम-से-कम एक काम ऐसा है, जो वह स्वामीजी से भी अच्छा जानता है। उसने कहा—"देख लीजिए, स्वामीजी! मेरे टाँके कितने दुरुस्त हैं, और आपने क्या चील-बिलौटा बनाया है?"

सर कृपाशंकर की कलाई में दर्द हो रहा था, और मँगरू का उत्साह भी वह भंग नहीं करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने मँगरू का काम उसके हवाले करते हुए कहा—"बेशक! भाई, तू मुझसे ज्यादा अच्छा जानता है।"

खेल में बाज़ी मारनेवाले लड़के की भाँति मँगरू दूने उत्साह से काम में लग गया। पुरोहित शिवदत्त ने उसे डाँटकर कहा—"अपना सब कूड़ा-करकट यहाँ से हटा।"

फिर उन्होंने सर कृपाशंकर से कहा—"स्वामीजी! आपने इसे बहुत सिर चढ़ा लिया है। इसका परिणाम अच्छा न होगा।"

सर कृपाशंकर ने इन बातों का कोई उत्तर न देकर उन्हें आदर के साथ बैठाया, और उनके आने का कारण पूछा। मुखिया संग्रामसिंह ने कहा—"स्वामीजी! हम लोगों की यह राय हुई है कि हमारे गाँव में भी चंदा करके कम-से-कम एक भाप से चलनेवाला हल मँगवाया जाय। आपने देखा नहीं, वह कितनी गहरी मिट्टी खोदता है, और कितनी जल्दी।"

सर कृपाशंकर अत्यंत गंभीर हो उठे। उन्हें जान पड़ा, जैसे इस गाँव में जो मशीनों का प्रचार नहीं हुआ, उसका कारण यह नहीं है कि गाँववाले उनके विरुद्ध हैं, पर यह है कि वे असमर्थ हैं, खरीद नहीं सकते। ओफ़! मशीनों में कितना आकर्षण है कि मनुष्य जान-बूझकर अपने आपको उनके हवाले करता चला जा रहा है। संग्रामसिंह में विचार करने की बहुत बुद्धि न थी। केवल वह इस बात को कहते, तो सर कृपाशंकर उसे हँसकर उड़ा देते। पर आज उनके साथ पुरोहित शिवदत्त भी थे। सर कृपाशंकर ने पुरोहितजी से पूछा—"पंडितजी! आप इस बात को कैसे कहते हैं?"

"कैसे न कहें। आप और राजा साहब मिलकर नए-नए क़ानून-क़ायदे बना रहे हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय हल नहीं चलाते थे। अब आपने न-मालूम क्या जादू कर दिया है कि मजदूर ढूँढ़े भी नहीं मिलते। अब जो ब्राह्मण-ठाकुर हल न चलाएँगे, वे खायँगे क्या? मजबूर होकर सभी को चलाना पड़ेगा। राजमाता की कृपा से मुझे भी दस बीघा ज़मीन मिली है, पर उसे जुतवाऊँ किससे? इतनी उम्र बीत गई, हल की मुठिया नहीं पकड़ी। अब आपके चरण इस गाँव में पड़े हैं, जो न हो जाय, वही थोड़ा। वह हल जोतनेवाला एंजिन आ जायगा, तो धर्म तो बचा रहेगा।"

सर कृपाशंकर ने एक संतोष की साँस ली। यह तर्क उनके लिये बहुत चौंकानेवाला न था। उन्होंने कहा—

"अपना कार्य अपने हाथ से करने में धर्म नहीं जाता। धर्म-शास्त्र में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि ब्राह्मण अपने घर की सफ़ाई न करे। अपने द्वार पर झाड़ू न लगाए, अपना हल न जोते, अपना जूता न सिए। मैं इन बातों पर विवाद व्यर्थ समझता हूँ। शारीरिक परिश्रम सबके लिये जरूरी है। मेरा तो यह खयाल है कि जो शारीरिक परि-श्रम नहीं करता, उसे भोजन मिलने का अधिकार भी नहीं है।"

पुरोहित शिवदत्त ने कुछ कहने के लिये मुँह खोला ही था कि उन्हें बाहर एक लड़के के रोने की आवाज़ सुनाई पड़ी। संग्रामसिंह ने तत्काल बाहर निकलकर देखा कि रंग-बिरंगे, चमचमाते हुए कपड़े पहने उनका लड़का एक दूसरे लड़के के कंधे पर बैठा दादा-दादा करके रोता चला आ रहा है। उन्होंने दौड़कर लड़के को गोद में ले लिया। उनकी गोद में आते ही लड़का चुप हो गया। पर उसके गालों पर कज्जल फैल गया था, और कज्जल-मिश्रित आँसू अब भी आँखों से बहे चले आ रहे थे।

"बड़ा शैतान है। मेरे बग़ैर एक मिनट भी चुप नहीं रह सकता।" कहते हुए संग्रामसिंह फिर कमरे में आए, और लड़के को सर कृपाशंकर की गोद में बैठालते हुए कहा—"स्वामीजी, यह आपका आशीर्वाद लेने आया है।"

सर कृपाशंकर ने बच्चे को चुमकारा और उसे आशीर्वाद दिया। संग्रामसिंह ने लड़के की कामदार टोपी उतारकर कहा—"स्वामीजी! इसकी खोपड़ी तो देखिए, कितनी बड़ी है। यह ज़रूर बड़ा विद्वान् होगा।"

"पर तुम होने दोगे, तब न!"

"मैं!"

"हाँ, तुम।"

"कैसे?"

"तुमने कच्ची उम्र में इसके बाल कटा दिए, जो इसके सिर को गरमी और सरदी से इस टोपी से अच्छा बचा सकते थे। तुमने इसे यह काग़ज़ी पोशाक पहनाने में जितना व्यय किया, उतने में देशी वस्त्र की कई पोशाकें तैयार हो सकती थीं, जो साफ़ रक्खी जा सकती थीं। आगे चलकर तुम कच्ची उम्र में इसका विवाह करोगे, और मना किए जाने पर भी न मानोगे।"

"स्वामीजी ! आप तो सबको साधू बनाना चाहते हैं। जब आपकी उम्र का होगा, तब यह भी संन्यासी बन जायगा।"

सर कृपाशंकर इस समय बच्चे के पैर में पड़े हुए नवीन जूते देखने में लगे थे। जूते किरमिच के अँगरेज़ी ढंग के बने थे। उन्होंने बच्चे के पैर से एक जूता उतार लिया, और उसकी बनावट पर ग़ौर किया। पर उसका सारा काम मशीन से हुआ था, और जिस कारखाने में वह बना था, उस पर उसका नाम भी अंकित था।

"यह जूता कितने में ख़रीदा संग्रामसिंह !"

"तीन आने में।"

सर कृपाशंकर ने उसी समय मँगरू को भेजकर एक चमार को बुलवाया, जो जूते बना सकता था।

उसके आने पर सर कृपाशंकर ने पूछा—"तुम ऐसा जूता बना सकते हो ?"

"हाँ।"

"कितने में ?"

"कम-से-कम एक रुपए में।"

"यह तीन आने में ख़रीदा गया है।"

चमार सिर थामकर बैठ गया और बोला—"स्वामीजी ! जब मैं छोटा था, मेरे माता-पिता यही काम करके मालामाल हो रहे थे। तब मशीन की बनी चीज़ों का इतना चलन नहीं था। अब तो पेट भरना मुश्किल हो गया है। हमारा रोज़गार हमारे हाथ से छिन गया। हम मशीनों का मुक़ाबला नहीं कर सकते। पंखे की हवा आँधी के सामने नहीं ठहर सकती। बरसात और पिचकारी की क्या होड़ ! रेलगाड़ी और बैल-गाड़ी की क्या दौड़ ! हाथ और मशीन का क्या मुक़ाबला ?"

सर कृपाशंकर ने जब मँगरू को पुराने जूतों की मरम्मत करते देखा था, उनके दिल में यह बात तभी आई थी कि वह मँगरू को जूते बनाना सिखावेंगे, पर चमार की बातें सुनकर वह अवाक् रह गए। उन्हें अपने सारे मनसूबे विलीन होते हुए-से प्रतीत हुए। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—देश इतना ग़रीब है। इतनी सस्ती मशीन की बनी चीज़ों के मुक़ाबले में ये हाथ की बनी चीज़ें, लोग इच्छा रखते भी, न ख़रीद पावेंगे। इसके लिये क्या किया जाय।

उसी समय राजा साहब, सेठ लक्ष्मीचंद, रुक्मिणी और पद्मा का वहाँ आगमन हुआ। ये सब लोग गाँव से आठ मील उत्तर मंगलगढ़-नामक एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान देखने गए थे। वहाँ से लौटने पर सेठ लक्ष्मीचंद और पद्मा को अपने फ़ार्म पर वापस जाना था, इसलिये वे सर कृपाशंकर से बिदा लेने आए थे। मार्ग में ये लोग भी इन्हीं विषयों पर वाद-विवाद करते आए थे। सेठ लक्ष्मीचंद का पक्ष यह था कि आधुनिक युग में समूह को जीवन से जैसा असंतोष हो गया है, वैसा पहले कभी नहीं था। संसार को समूह की असंतोषाग्नि से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति और वर्ग अपने आपको समूह में मिला दें। इसके विपरीत राजा साहब का यह पक्ष था कि व्यक्ति और वर्ग का अस्तित्व संसार से सर्वथा मिटाया नहीं जा सकता, पर प्रेम और सेवा की भावना का अधिकाधिक विस्तार करके व्यक्ति और समूह में सद्भाव उत्पन्न किया जा सकता है। पद्मा सेठजी के और रुक्मिणी राजा साहब के पक्ष में थी।

इस विवाद को ये लोग सर कृपाशंकर के सामने अपने-अपने तर्कों के साथ रखना और इस पर उनकी सम्मति जानना चाहते थे।

परंतु सर कृपाशंकर ने कहा—"मैं इस विवाद का निष्पक्ष जज नहीं हो सकता, क्योंकि मैं इन दोनो पक्षों को बहुत भिन्न नहीं समझता। पर यहाँ मुझसे अधिक विद्वान् और शास्त्र के ज्ञाता पुरोहित शिवदत्तजी बैठे हुए हैं, आप लोग इन्हें जज बना सकते हैं।"

पुरोहितजी अपनी विद्वत्ता की बड़ाई सुनकर अभिमान से फूलकर कुप्पा हो गए; और किस विवाद पर निर्णय देना है, उसे बिना समझे ही राजा साहब को एक श्लोक पढ़कर लंबा-चौड़ा आशीर्वाद देने के बाद बोले—"जो है सो शास्त्र की मर्यादा अब भंग होती जा रही है। आप चारों को मैं अभी किसी विषय पर विवाद का अधिकारी नहीं समझता, क्योंकि आप लोग पूर्ण पुरुष नहीं हैं। आप लोगों के हाथों न यज्ञ सिद्ध हो सकते हैं, और न पितरों को भोग पहुँच सकता है, क्योंकि आप लोग अभी विवाहित नहीं हैं। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये विवाह पहली सीढ़ी है।"

इस पर सब लोग जोर से हँस पड़े। पुरोहित शिवदत्त ने कहा—"यह हँसने की बात नहीं है। इसी से देवता कुपित होते हैं, और हम सबको फल भुगतना पड़ता है।"

फिर सब लोगों ने अट्टहास किया। पुरोहित शिवदत्त कुछ झेंपे, पर तत्काल उन्होंने सर कृपाशंकर से कहा—"क्यों स्वामीजी, झूठ कहता हूँ ?"

"नहीं-नहीं।"

पुरोहित शिवदत्त ने राजा साहब की ओर मुखातिब होकर कहा—"अपराध क्षमा हो, जब आपके पिताजी जीवित थे, तब इतनी बड़ी-बड़ी क्वाँरी लड़कियाँ अविवाहित इस तरह नहीं घूम सकती थीं।"

राजा साहब मुस्किराए।

सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"पुरोहितजी! कृपा करके यह बताइए कि आप इसी पुराने हल-बैल से खेती करना पसंद करेंगे या भाप के एंजिन से; जैसे आपने मेरे खेतों पर चलते देखे हैं।"

"बस, बिलकुल जैसे आपके खेत में चलते हैं। क्या अच्छा हो, यदि श्रीमान् दरबार साहब एक ऐसा ही हल हमारे गाँव के लिये

भी मँगवा दें।" पुरोहितजी ने बड़ी आशा-भरी दृष्टि से राजा साहब की ओर देखा।

सर कृपाशंकर ने मुस्किराते हुए कहा—"सेठजी! अब जरा पुरोहितजी से यह भी पूछ लीजिए कि यह नए प्रकार का हल क्यों चाहते हैं ?"

पुरोहित शिवदत्त ने कहा—"सेठजी पूछ क्या लेंगे? यह जानते हैं। मजदूरी की दर बढ़ाकर इन्होंने रियासत के सारे हलवाहों को अपने खेत में बटोर लिया।" उन्होंने राजा साहब की ओर दृष्टि करके कहा—"हुजूर, क़सूर माफ़ हो। आपसे यह तो न हुआ कि आप उन रियासत के आदमियों को वहाँ से पकड़ मँगावें, उल्टा यह क़ानून बनवाया कि ब्राह्मण-क्षत्रिय हल चलावें। इससे तो यही अच्छा है कि यहाँ भी धुएँ के हल चलें।"

राजा साहब ने कहा—"पंडितजी! मैं चाहता हूँ कि रियासत में आदमी-आदमी में भेद न माना जाय। जीविकोपार्जन के जितने भी कार्य हमारे पूर्वजों के समय से होते आए हैं, उनमें से कोई निंदनीय न समझा जाय।"

"आदमी-आदमी का भेद तो रहेगा ही! आप राजा हैं, मैं प्रजा हूँ। क्या यह भेद कभी मिट सकता है ?"

सर कृपाशंकर ने कहा—"यह भेद नहीं है, व्यवस्था है। भेद उसे कहेंगे, जहाँ एक आदमी को भोजन, वस्त्र और मकान का प्रत्यधिक सुख प्राप्त हो, और दूसरे को दर-दर भूखों भटकना पड़ रहा हो। राजा साहब महल छोड़कर हमारे बीच में आ बसे हैं, और जो हम खाते-पीते-पहनते हैं, वही यह भी खाते-पीते-पहनते हैं।"

सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"ठीक है। यह राजा साहब की व्यक्तिगत उदारता है। पर यदि यह इस गाँव की झोपड़ियों में फिर आग लग-

वाने लगें, और महल में जा बसें, तो इन्हें कौन रोक सकता है। वास्तव में मनुष्यों के बीच के भेद-भाव को विज्ञान ही मिटा सकता है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य के सुख की समस्त सामग्री को जब हम इतनी सस्ती बना दें कि जैसे स्वच्छ वायु और पानी सबके लिये सुलभ है, वैसे ही समस्त वस्तुएँ हो जायँ, तब भेद अपने आप मिट जायगा। जिन देशों में विज्ञान का बोलबाला है, वहाँ ऐसे भेद मिट भी गए हैं।"

क्रमशः यह विवाद बढ़ता गया, और अंत में कृषि का भी प्रश्न उठा। सेठ लक्ष्मीचंद ने कहा—"एक समय था, जब भारत साक्षात् विष्णु के समान समस्त संसार को अन्न देता था। आज वह अपना पेट भी मुश्किल से भर सकता है। कारण स्पष्ट है। हम जीवन की दौड़ में पिछड़ गए हैं। जब संसार में महलों में रहने की, गद्दों पर सोने की, बहुमूल्य वस्त्रालंकार धारण करने की होड़ मची है, तब हम झोपड़ों में रहकर, केवल हल और चरखा चलाकर ही संतोष क्यों करें। हम गाँव के झोपड़ों में रहनेवालों के लिये वे सब सुख संभव क्यों न कर दें, जो शहरों के केवल कुछ धनी व्यक्तियों को प्राप्त हैं। हम गाँवों को ऐसा क्यों न बना दें कि वहाँ पक्के मकान, बिजली, टेलीफ़ोन, पक्की सड़कें आदि शहरों की समस्त सुविधाओं के अतिरिक्त वे सब वस्तुएँ भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हों, जिनका गाँव के जीवन से विशेष संबंध चला आ रहा है। यह सब तभी संभव हो सकता है, जब सब किसान मिलकर पंचायत बना लें, और सामूहिक रूप से खेती करें, चाहे राज्य इस कार्य को अपने हाथ में ले लें, और कृषि का वैज्ञानिक विकास करें, और चाहे मेरे-जैसे व्यापारी केवल अर्थ-लाभ की दृष्टि से, जैसा कि राजा साहब कहते हैं, यह कार्य अपने हाथ में ले लें, और अपना तथा अपने देश का उद्धार करें।"

सेठजी चुप हो रहे। उन्हें जान पड़ा, जैसे सर कृपाशंकर पर उनकी बात का प्रभाव पड़ा है। कुछ क्षण सोचने के बाद वह बोले—"मैंने

इस दृष्टि से किसानों की समस्या पर कभी विचार नहीं किया। मैं जब उनकी ओर देखता हूँ, तो मुझे सिवा हास्य-हीन चेहरों और सूखी हड्डियों के कुछ नहीं दिखाई पड़ता। वे क़र्ज़ से लदे हैं, भूख, ग़रीबी, अशिक्षा और सामाजिक कुरीतियों के शिकार हैं। वे अधढहे झोपड़ों में चिथड़ों में लिपटे अत्यंत निराशा का जीवन बिता रहे हैं। मुझे उनके बीच में जाकर महलों, सड़कों, बिजली, टेलीफ़ोन और नाच-घरों की बात करते दुःख होता है। वे भूखे हैं। सबसे पहले उन्हें भोजन चाहिए। वे नंगे हैं, सबसे पहले उन्हें वस्त्र चाहिए। जो मनुष्य डूब रहा हो, उसे तुरंत पानी से निकालने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसे उबारने के लिये समुद्र में जहाज़ बनाकर डालने में देर लगेगी। रोटी का सवाल पहले हल होना चाहिए, और यह तभी संभव है, जब किसान जिस हालत में है, उसी में शीघ्र-से-शीघ्र जो संभव हो, वह परिवर्तन किया जाय। मैंने इस गाँव में कुछ परिवर्तन किए हैं, और ये ऐसे हैं कि सर्वत्र आसानी से किए जा सकते हैं।"

कमज़ोरी के कारण सर कृपाशंकर हाँफ उठे। रुक्मिणी के हाथ से एक गिलास पानी पीकर फिर बोले—"कल आप हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिए! राजा साहब और बीबी पद्मा, आप भी। मैं देखता हूँ, आपमें और राजा साहब में कुछ ग़लतफ़हमी हो गई है, और मनोमालिन्य बढ़ता जाता है। मैं इसे दूर करना चाहता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप दोनो आदर्श युवक हैं, और मिलकर बहुत कुछ कर सकते हैं।"

---

[३३]

दूसरे दिन सबेरे स्नान इत्यादि से निवृत्त होने के बाद सेठ लक्ष्मीचंद और पद्मा, दोनो अतिथि-गृह से चलकर सर कृपशंकर की कुटी पर आए। राजा साहब पहले ही पहुँच चुके थे, और ऐसा जान पड़ता था, जैसे रुक्मिणी से किसी गंभीर विषय पर बातें कर रहे हों। इन नवागंतुकों के पहुँचने की आहट पाकर रुक्मिणी बाहर निकल आई, और उसने मुस्किराते हुए उठकर स्वागत किया, और जिस कमरे में सर कृपाशंकर सो रहे थे, उससे दबे पाँवों उन्हें उस कमरे में ले गई, जिसमें राजा साहब बैठे थे। इस कमरे से बाहर की ओर जाने का द्वार नहीं था, पर बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ थीं, जिनसे प्रातःकाल का सुखद प्रकाश आ रहा था। पद्मा गहरे नारंगी रंग की नवीन साड़ी पहने हुए थी। सूर्य की किरणें पड़ने से उसकी साड़ी का यह रंग द्विगुणित हो उठा था, और उसकी आभा सारे कमरे में व्याप्त हो उठी थी। फ़र्श पर कुश की सुंदर मजबूत चटाई बिछी थी, उसी पर ये सब लोग बैठे।

बैठते ही सेठ लक्ष्मीचंद ने पूछा "रुक्मिणी! स्वामीजी इतनी देर तक तो कभी नहीं सोते थे।"

"इधर जब से लोगों को मालूम हो गया है कि वह यहाँ हैं, उनकी डाक बहुत बढ़ गई है। बीमारी के बाद कल वह बड़ी रात तक कुछ चिट्ठियों का जवाब देते रहे। मुझे भय है, वह फिर न बीमार पड़ जायँ।"

पद्मा ने कहा—"यह अच्छा है, उन्हें गहरी नींद आ गई है।"

"हाँ, इससे थकावट दूर हो जायगी।" रुक्मिणी ने मंद स्वर में कहा, और सबको एक साथ संबोधित करके बोली—"आप लोग मुझे दस मिनट की छुट्टी दें। इस वक़्त के जल-पान के लिये में थोड़ी-सी दलिया तैयार करना चाहती हूँ, और दूध भी गरम करूँगी।"

पद्मा उठ खड़ी हुई, और अपने हाथ से उसे द्वार की ओर ढकेलती हुई बोली—"चलो, मैं भी तुम्हारी सहायता करूँगी।"

दोनो कमरे के बाहर निकल गईं। अब वहाँ केवल सेठजी और राजा साहब रह गए। दोनो एक दूसरे को घोर पाखंडी और दुष्ट समझ रहे थे। दोनो को एक दूसरे से भय और बेहद अरुचि थी। पर इस परिस्थिति से दोनो विवश थे।

पद्मा और रुक्मिणी के जाते ही, कुछ क्षण न-जाने, क्या सोचने के बाद, राजा साहब ने कहा—"सेठजी!"

"हाँ राजा साहब!"

दोनो ने एक दूसरे की ओर देखा, और मुस्किराने की चेष्टा की। दोनो ने मुस्किराने की चेष्टा इसीलिये की थी कि उससे उनका एक दूसरे के प्रति सद्भाव समझा जाय, पर उनके हृदयों में तो एक दूसरे के लिये तिरस्कार भरा था, इसलिये बुद्धि का यह सहज प्रयत्न हृदय पर अधिकार न पा सका, और दोनो ने एक दूसरे की मुस्किराहट को उन शत्रुओं की कुटिल मुस्किराहट समझी, जो एक दूसरे का प्राण लेने पर तुल गए हों।

राजा साहब ने अत्यंत गंभीरता-पूर्वक आँखें नीची करके कहा—"मुझे आपसे एक बात कहनी है।"

"एक नहीं, दो कहिए।"

"वह दिन बहुत क़रीब है, जब मेरा और रुक्मिणी का विवाह हो जायगा, इसलिये यह उचित होगा कि आप रुक्मिणी से इस प्रकार मिलना-जुलना बंद कर दें।"

राजा साहब के ये वाक्य कान में पड़ते ही सेठजी के बदन में जैसे आग लग गई हो। यह सुनने के लिये वह नहीं आए थे, और न वह ऐसी धृष्टता कभी बरदाश्त ही कर सकते थे। उनके जी में आया कि राजा साहब को गिराकर उनकी छाती पर चढ़ बैठें, और उनका गला दाब दें। उन्होंने राजा साहब को एक तीक्ष्ण दृष्टि से देखा, जैसे शेर अपने शिकार को देखता है। पर राजा साहब पर आक्रमण करने का उन्हें साहस न हुआ। क्योंकि उन्होंने देखा कि उनकी भी बाँहें बलिष्ठ हैं, और छाती कम चौड़ी नहीं है।

सेठजी ने कहा—"रुक्मिणी मेरी है। मेरे शरीर में एक बूँद भी रक्त रहते कोई उसे मुझसे छीन नहीं सकता।" उन्होंने मुट्ठी बाँधी, दाँत पीसकर राजा साहब की ओर देखा।

अब राजा साहब के सुलगने की बारी थी। अपनी रुचि के विरुद्ध इस प्रकार बातें सुनने के वह आदी नहीं थे। उनका रोम-रोम क्रोध से प्रज्वलित हो उठा, और उन्होंने सोचा कि इस आदमी के गले में हाथ डालकर इसे इस पवित्र कुटी के बाहर निकाल दूँ। परंतु सर कृपाशंकर का उन्हें बड़ा ख़याल था। कहीं उनकी निद्रा भंग न हो जाय, उन्हें इसका भी डर था। उन्होंने अपने क्रोध को क़ाबू में किया, और सेठ लक्ष्मीचंद के और निकट जाकर कहा—"आपको रुक्मिणी को सूबा के अपवित्र हाथों से बचाने का गौरव प्राप्त है। मैं आपसे सिर्फ़ एक सवाल करूँगा। यदि रुक्मिणी स्वेच्छा से सूबा के साथ जाती, तो क्या तब भी आप...."

लक्ष्मीचंद ने कहा—"क्यों जाती? कोयल को आपने कभी बबूल के पेड़ पर मँडराते देखा है। आप और सूबा, दोनो को मैं रुक्मिणी के लिये बराबर ख़तरनाक समझता हूँ। मैंने उससे कह भी दिया था कि वह आपकी ओर से सावधान रहे।"

राजा साहब ने अपने उमड़ते हुए क्रोध को दबाने का पुनः प्रयत्न करते हुए कहा—"सेठजी! अच्छा हो कि यह विषय हम और आप भले आदमी की तरह आपस में तय कर लें। रुक्मिणी का स्वभाव आपसे नहीं मिलता—वह प्राचीनता को सुंदर और सुसंस्कृत रूप में देखना चाहती है, आप पूर्ण परिवर्तन के पुजारी हैं। उसकी ईश्वर में आस्था है, आप केवल नृत्य और विनोद से वह कमी पूरी कर लेना चाहते हैं। यदि आपका और उसका विवाह हो भी गया, तो इसका परिणाम किसी के भी हक़ में अच्छा न होगा। दोनो का जीवन दुखी हो जायगा।"

सेठजी ने उत्तर दिया—"आप मेरे बाप नहीं हैं, और न रुक्मिणी के ही। अपना हानि-लाभ हम समझते हैं। परंतु एक मित्र के नाते मैं आपको सलाह दूँगा कि आप इस मामले में न पड़ें। रुक्मिणी की और मेरी पहचान नई नहीं है। वर्षों पहले वह मेरे हाथों में अपने आपको सौंप चुकी है। वह इस संसार में एकमात्र मेरी होकर रहेगी, ऐसी प्रतिज्ञा वह मुझसे कर चुकी है। उसे सबसे बड़ी फ़िक्र अपने वृद्ध पिता की है। उसका ख़याल है कि वह ब्याह कर लेगी, तो उसके पिता की देख-रेख कौन करेगा। वह बड़ी पितृभक्त लड़की है। यह गाँव में आ बसना उसके पिता की एक सनक है। कल उन्हें दूसरी सनक हो सकती है। इसलिये आप यह न समझें कि सर कृपाशंकर आप ही के समान दक़ियानूसी विचार के आदमी हैं, और रुक्मिणी की पिता से भिन्न कोई इच्छा नहीं है। यदि आपने सर कृपाशंकर की वर्तमान सनक से इस समय अनुचित फ़ायदा उठाने की चेष्टा की, तो आप रुक्मिणी का जीवन सदा के लिये नष्ट कर देंगे। यदि वास्तव

में आप कुछ विचार रखते हैं, और आपके हृदय में उसके लिये कुछ भी प्रेम है, तो इस प्रयत्न से बाज़ आवें।"

राजा साहब ने कुछ उत्तेजित होकर कहा—"मैं तो आपका बाप नहीं हूँ, और आप क्या मेरे बाप हैं, जो मुझे इस प्रकार उपदेश देते हैं?"

"उपदेश नहीं देता, सावधान करता हूँ। आइंदा मैं आपके मुँह से ऐसी बात सुनूँगा, तो या मैं न रहूँगा या आप न रहेंगे।" सेठजी ने अपने दाँत पीसे, और जेब में हाथ डाला, यह देखने के लिये कि उसमें पिस्तौल है या नहीं।

राजा साहब ने कहा—"मैं भी आपको सावधान करता हूँ। रुक्मिणी मेरी है। मेरी होकर रहेगी।"

सेठजी आपे से बाहर हो गए, और तत्काल जेब से पिस्तौल निकाल ली, और उसे राजा साहब की छाती के पास ले जाकर, परंतु बहुत धीमे स्वर से, कहा—"ख़बरदार। जो ऐसी बात मुँह से निकाली। यहीं ठंडा कर दूँगा।"

राजा साहब यह जानते थे कि सेठजी अपने पास सदैव भरी पिस्तौल रखते हैं, और मौक़े-बेमौक़े उससे लोगों को डराते भी हैं। पुरोहित शिवदत्त और रेलवे-क्रॉसिंग के प्रहरी पर पिस्तौल तानने की उनकी कहानी वह सुन चुके थे। इसलिये इधर सेठजी का बदला रुख़ देखकर वह भी अपने पास पिस्तौल रखने लगे थे कि पता नहीं, कब उन्हें भी सेठ के इस व्यवहार का सामना करना पड़ जाय।

पर अब इतना समय न था कि वह भी अपनी जेब में हाथ डालकर पिस्तौल निकाल सकें। उन्होंने अपने दोनो हाथों से मज़बूती से सेठ का वह हाथ पकड़ लिया, जिसमें पिस्तौल थी, और उसका रुख़ सामने की खुली खिड़की की ओर कर दिया। इस पर सेठजी को और भी क्रोध आया, और दोनो में एक दूसरे पर क़ाबू करने का प्रयत्न प्रारंभ

हुआ। दोनो की साँसें बड़े ज़ोर से चलने लगीं, और पैरों के नीचे चटाई टूटने और सिकुड़ने लगी। पद्मा और रुक्मिणी, जो इस बीच में दलिया तैयार कर चुकी थीं, और दूध भी गरम कर चुकी थीं, इन चीज़ों को तश्तरियों और प्यालों में लेकर चलीं। एकाएक उन्हें उस कमरे में भेड़ियों के लड़ने का-सा आभास मिला, और वे घबरा उठीं।

उसी समय सेठ लक्ष्मीचंद के हाथ की पिस्तौल छूट पड़ी, और गोली सन्-सन् करती हुई खिड़की के बाहर निकल गई।

पद्मा चीख़ उठी, और रुक्मिणी ने भय-कंपित स्वर में कहा—"अफ़सोस! सेठजी! मैं आपके इस व्यवहार से अत्यंत लज्जित हूँ। आपको मालूम होना चाहिए कि मैं राजा साहब को कम प्यार नहीं करती।"

रुक्मिणी का यह वाक्य सेठ लक्ष्मीचंद के हृदय में छुरी के समान चुभ गया, और वह विक्षुब्ध-से हो उठे। उन्होंने राजा साहब से कहा—"कृपया मेरा हाथ छोड़ दीजिए। मैं अब आप पर वार नहीं करूँगा।"

राजा साहब ने सेठजी को छोड़ दिया, और उनसे ज़रा दूर खड़े होकर कहा—"सेठजी! मैं आपसे डरता नहीं हूँ। इस प्रकार पिस्तौल तानना मैं भी जानता हूँ। किसी पर अचानक वार करना कायरता है। यदि आप वास्तव में बहादुर हैं, तो आइए। मेरा और आपका एक-एक फ़ायर हो जाय।"

राजा साहब ने भी अपनी जेब से पिस्तौल निकाल ली, और सेठजी की ओर निशाना साधा।

सेठजी का क्रोध अभी कम नहीं हुआ था। उनके नथुने फूल और पचक रहे थे। उन्होंने कहा—"आइए।"

पद्मा फिर बड़े ज़ोर से चीख़ उठी। उसके हाथ से वह थाली, जिसमें दूध और दलिया की प्यालियाँ रक्खी थीं, छूट पड़ी, और वह

भागकर सर कृपाशंकर को जगाने पहुँची। गोली दगने की आवाज़ से सर कृपाशंकर पहले ही जगकर चौंक पड़े थे, और यह सोचने में निमग्न थे कि यह दुर्घटना कहाँ घटित हो सकती है। एकाएक पद्मा को घबराया हुआ अपनी ओर आते देखकर उन्होंने परिस्थिति का बहुत कुछ अनुमान कर लिया। वह तत्काल बिस्तर से उठ खड़े हुए, और पद्मा को यह कहते सुना—"जल्दी चलिए, अनर्थ हुआ चाहता है।"

रुक्मिणी ने जब देखा कि राजा साहब और सेठजी, दोनो एक दूसरे की जान लेने पर तुल गए हैं, तब वह अत्यंत चिंतित हो उठी। उस समय उसे और कुछ उपाय न सूझा। वह उनके बीच में जाकर खड़ी हो गई, और जोर से बोली—"यदि आप लोगों को ईश्वर का भय हो, यदि आपके दिलों में मेरे पिता के लिये ज़रा भी सम्मान हो, यदि आपमें ज़रा भी मनुष्यता शेष रह गई हो, तो इस पागलपन के काम से बाज़ आइए। और, यदि आप लोगों का क्रोध किसी प्रकार शांत न हो, तो मुझे अपनी गोलियों का निशाना बनाइए। वास्तव में सारा क़सूर मेरा है।"

सेठ लक्ष्मीचंद एक खिड़की के चरण में दीवार की पुती हुई पटरी पर अंदर की ओर पैर झुलाकर बैठ गए, और बोले—"रुक्मिणी! तुमने मुझे धोखे में क्यों रक्खा?"

"मैंने आपको धोखे में कभी नहीं रक्खा। मैंने आपसे बराबर कहा है, मैं विवाह नहीं करूँगी।"

राजा साहब फ़र्श पर खड़े थे। नीचे मुर्री-चुर्री चटाइयाँ पड़ी थीं। उनका प्रतिद्वंद्वी उँचाई पर बैठे, और वह नीचे फ़र्श पर बैठें, यह उन्हें पसंद नहीं था। इसलिये उन्होंने दूसरी खिड़की पर अड्डा जमाया, और उसी प्रकार पैर झुलाते हुए कहा—"रुक्मिणी! मैं समझता था कि मुझमें और तुममें कोई भेद नहीं है। मैं और तुम, दोनो एक हैं।"

"आप ठीक समझते थे। पर इसका अर्थ यह आपने कैसे लगाया कि मैं आपके साथ विवाह करूँगी। क्या मैंने आपसे स्पष्ट नहीं कहा था कि मुझे विवाह करने की फ़ुर्सत नहीं है।"

राजा साहब चुप हो रहे। उन्होंने सामने देखा, सर कृपाशंकर न-जाने कब से पद्मा के साथ आकर खड़े थे। इन दोनो नवयुवकों को—जिन्हें वह अत्यंत सभ्य, शिष्ट और अपने आदर्शों को अपने प्राणों और किसी स्त्री के प्रेम से भी बढ़कर प्रिय समझनेवाले मान बैठे थे—इस प्रकार पशुता का प्रदर्शन करते देखकर एक विचित्र प्रकार की आंतरिक पीड़ा और विषाद से ढक गए। उनका अत्यंत उदास और गंभीर मुख देखकर राजा साहब को उनसे फिर आँख मिलाने का साहस न हुआ।

उसी समय सेठ लक्ष्मीचंद का ध्यान भी सर कृपाशंकर की ओर गया। उन्होंने कहा—"मुझे दुःख है कि एक भयानक बीमारी से छुटकारा पाते ही आपको इस विषम स्थिति का सामना करना पड़ा! पर यह अनिवार्य थी, क्योंकि आप ही की उत्पन्न की हुई है। मैं आपसे एक बात स्पष्ट पूछ लेना चाहता हूँ। रुक्मिणी का विवाह आप मेरे साथ करेंगे या नहीं?"

"यह बात आप मुझसे पिस्तौल की नोक पर पूछना चाहते हैं?" सर कृपाशंकर ने रोष के स्वर में कहा।

"नहीं।"

"तब पिस्तौल जेब में रखिए।"

लक्ष्मीचंद ने पिस्तौल जेब में रख ली। सर कृपाशंकर ने कहा—"इस मामले में रुक्मिणी पूर्ण स्वाधीन है। पर यदि वह मुझसे राय लेगी, तो मैं उससे कहूँगा कि वह आपके साथ विवाह न करे।"

"कारण?"

"कारण यह कि आपमें क्रोध है। हिंसा की भावना है। विवेक की कमी है। ज़रा भी होश रहते कौन ऐसा पिता होगा, जो अपनी पुत्री को ऐसे पुरुष के हाथों में दे सकता है!"

"क्रोध और हिंसा की भावना, दोनो पुरुष के वे गुण हैं, जिनके कारण आदि काल से स्त्रियाँ उन पर मुग्ध होती आई हैं। ऐसे ही पुरुषों के हाथ में उनकी मर्यादा सुरक्षित रह सकती है।"

"संसार बहुत बदल गया है। यह प्रेम और अहिंसा का युग है।"

"और यह बात आप कहते हैं, जो संसार के साथ बदलना नहीं चाहते। रुक्मिणी मुझसे वादा कर चुकी है कि यदि मैं अपने प्रयत्न में सफल हुआ, तो वह मेरी होकर रहेगी। मेरा खयाल है, मैं बहुत अधिक सफल हुआ हूँ। आप मेरे और उसके बीच में बाधा न बनिए।"

"मैं पहले ही कह चुका हूँ कि रुक्मिणी इस मामले में स्वाधीन है। पर मैं आर्थिक सफलता को कोई बड़ी सफलता नहीं मानता। मैं मनुष्य में चरित्र, प्रेम, सेवा, सत्य और सहानुभूति आदि गुण भी देखना चाहता हूँ।"

"आपका यह प्रश्न किससे है? मुझसे या राजा साहब से?"

"मनुष्य-मात्र से।"

"तब आप ही कृपा करके इसका उत्तर दे लीजिए।"

सेठजी चुप हो रहे, और खिड़की से बाहर की ओर देखने लगे।

राजा साहब ने कहा—"स्वामीजी! जो कुछ हो गया, मुझे उसके लिये दुःख है। पर मैं विवश था।"

सर कृपाशंकर ने पूछा—"आप मुझसे कह चुके हैं कि आप प्रेम और अहिंसा में विश्वास करते हैं।"

"राज्य के कार्यों में और सार्वजनिक मामलों में।"

"पर क्या यह संभव है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में कोई सिद्धांत अख्तियार करे, और सार्वजनिक जीवन में कोई और?"

"यही अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि मनुष्य पूर्ण नहीं है।"

सर कृपाशंकर ने एक दीर्घ निःश्वास ली। उन्होंने कुछ और कहना चाहा, पर कमज़ोर शरीर इस उत्तेजित विवाद का भार सहन न कर सका। उनका सिर घूम गया, और पैर लड़खड़ा-से गए।

रुक्मिणी ने दौड़कर उन्हें पकड़ा, और चुपचाप ले जाकर बिस्तर पर लिटा दिया। सर कृपाशंकर ने अर्द्ध-निद्रित के-से स्वर में कहा—"बेटी! उनके हाथ से किसी प्रकार हथियार ले लो।"

रुक्मिणी तत्काल पिता को लिटाकर फिर उस कमरे में आई। सेठ लक्ष्मीचंद और राजा साहब अलग-अलग खिड़कियों में उसी प्रकार टाँगें झुला रहे थे, और एक दूसरे पर क्रोध से दाँत पीस रहे थे।

रुक्मिणी ने पद्मा के कान में कहा—"तुम सेठजी को फुसलाकर बाहर ले जाओ।"

उस समय सेठजी अपने ऊपर से सारा क़ाबू खो चुके थे। पद्मा को अपनी ओर आते देखकर वह शैतान की-सी हँसी हँसे, और एक ऐसे स्वर में बोले, जो पद्मा के लिये सर्वथा अपरिचित था—"पद्मा! तुम मेरे साथ विवाह करोगी?"

सेठ लक्ष्मीचंद के मुँह से यह बात सुनने के लिये पद्मा न-जाने कितने असफल प्रयत्न कर चुकी थी। वह कुछ चौंकी-सी, और उसने सेठजी की ओर देखा। उनका चेहरा उसे उसी प्रकार भयानक दिखाई पड़ा, जैसे उसने नागल जाते समय रुक्मिणी के साथ एक बार सूबा को देखा था। सेठजी के स्वर में उसे बड़े ही कटु व्यंग्य का आभास मिला।

यद्यपि बात ऐसी नहीं थी। रुक्मिणी की ओर से पूर्ण निराश होने पर उन्होंने पद्मा की ओर उसी प्रकार दृष्टि फेरी थी, जैसे कोई डूबता मनुष्य तिनके का सहारा पकड़ने दौड़ता है। पद्मा की 'हाँ' से उन्हें बड़ी सांत्वना मिल सकती थी, और इस प्रकार वह रुक्मिणी से कह सकते थे—लो! जाता हूँ!! सदा के लिये बिदा!!! पर पद्मा उनके अंतर् का मर्म समझ न सकी। उसने समझा, रुक्मिणी से हताश होने के कारण सेठजी उसे कष्ट पहुँचाकर अपने प्रति किए गए एक स्त्री द्वारा अपमान का बदला दूसरी स्त्री का अपमान करके लेना चाहते हैं। वह घबरा उठी, और भय से काँप गई। उसके मुख से निकल गया—"नहीं।"

सेठजी ने जेब से तमंचा निकालकर पद्मा के पास फेंक दिया, और कहा—"पद्मा! तब लो, मुझे क़त्ल कर डालो। मैं अब किसके लिये जीवन धारण करूँ?"

पद्मा चुपचाप वह तमंचा लेकर वहाँ से चली गई। रुक्मिणी ने राजा साहब से कहा—"कृपा-पूर्वक आप अपना तमंचा मुझे दे दीजिए।"

राजा साहब ने तत्काल उसकी आज्ञा का पालन किया।

अब दोनो तमंचे सर कृपाशंकर के तकिए के नीचे रक्खे थे, और वह चुपचाप आँखें बंद किए गंभीर चिंतन में लीन थे।

पद्मा और रुक्मिणी दो में से एक को फिर उस कमरे में जाने का साहस न हुआ। दोनो सर कृपाशंकर के सिरहाने अश्रु-पूर्ण दृगों से द्वार से बाहर देखती हुई बैठी रहीं।

मुखिया संग्रामसिंह के द्वार पर इस समय भी कृषि-फ़ार्म का बैंड बज रहा था, और सारा गाँव उसमें लीन था। उसकी आवाज़ यहाँ आ रही थी, जो इस समय इन दोनो स्त्रियों को अत्यंत अप्रिय मालूम हो रही थी।

अंत में रुक्मिणी ने कहा—"पद्मा! इस प्रकार बैठने से काम न चलेगा। चलो, हम कुछ खाने-पीने की चीज़ें तैयार कर लें। तब तक उन दोनो महापुरुषों का क्रोध भी ठंडा पड़ जायगा।"

"चलो।"

दोनो युवतियाँ चौके में पहुँच गईं, और फिर चूल्हा सुलगाया। इसी समय मँगरू दौड़ता हुआ अंदर आया। उसे एक साथी लड़के ने खेल में दौड़ाया था। उसके पाँव की फट-फट से सर कृपाशंकर ने आँखें खोल दीं। पूछा—"क्या है मँगरू?"

"कुछ नहीं, स्वामीजी।"

"मेरे पास आ।"

सर कृपाशंकर ने मँगरू को अपने पास बैठाया, और प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ फेरा। फिर उससे बोले—"मेरे साथ दिल्ली चलेगा।"

"हाँ, स्वामीजी।"

"फिर कभी यहाँ लौटकर नहीं आना होगा।"

"नहीं आऊँगा। मेरा यहाँ कौन है।"

"अच्छी बात है। तार का एक फ़ार्म निकाल।"

मँगरू ने बंदर की भाँति खिड़की में झूलकर उसके ऊपर एक पटरी पर रक्खे तार के फ़ार्मों में से एक निकाला।

सर कृपाशंकर उठकर चारपाई पर बैठ गए, और क़लम-दवात मँगाकर उस पर कुछ लिखा। फिर उन लिखे हुए शब्दों को जोड़ा, और उससे पूछा—"तारघर जा सकता है?"

"हाँ, स्वामीजी।"

"कितनी दूर है।"

"चार मील के क़रीब।"

"पैदल चला जायगा।"

"हाँ, स्वामीजी। खेलता हुआ चला जाऊँगा, और कूदता हुआ चला आऊँगा।"

"दिन डूबते-डूबते यहाँ चला आएगा न?"

"उससे पहले।"

"अच्छा, जा।"

बिस्तर के नीचे से उन्होंने दो रुपए निकाले और मँगरू को देकर कहा—"देख, अठारह आने तार में लगेंगे। अभी खाना नहीं बना, जहाँ तारघर है, वहाँ हलवाई की दूकान है न?"

"हाँ, स्वामीजी।"

"बस, वहीं कुछ लेकर खा लेना। और, बाजार में तुमको कोई मन की चीज मिले, तो वह भी खरीद लेना।"

"अच्छी बात है।"

तार और रुपए लेकर मँगरू कमरे के बाहर निकला। बाहर निकलते ही पहली खिड़की पर सेठजी की आँखों से उसकी आँखें मिल गईं। उसने मुस्किराकर कहा—"सेठजी! हम दिल्ली जा रहे हैं। यह देखिए।"

उसने तार का फ़ार्म सेठजी को दे दिया। सेठजी ने उसे पढ़ा। उसमें लिखा था—"मंत्री, ग्राम-सुधार-संघ, दिल्ली। परसों शाम की गाड़ी से दिल्ली पहुँच रहा हूँ। स्टेशन पर सवारी भेजिए। आगे का कार्यक्रम वहाँ आने पर बनाऊँगा। यह समाचार किसी को मालूम न होने पावे। मैं भीड़भाड़ बिलकुल पसंद नहीं करूँगा—कृपाशंकर।"

तार पढ़ते ही सेठजी का क्रोध एकदम शांत पड़ गया। उन्होंने राजा साहब की ओर देखा। वह वैसे ही अकड़े बैठे थे।

सेठजी से तार का फ़ार्म वापस पाकर मँगरू आगे बढ़ा। राजा साहब उसे दूसरी खिड़की पर बैठे मिले। उनसे भी उसने वही बात कही, और वह फ़ार्म दिखलाया। राजा साहब ने भी तार पढ़कर एक दीर्घ निःश्वास ली, और उसी निःश्वास के साथ उनका क्रोध भी शरीर से बाहर निकलकर हवा में मिल गया। उन्होंने सेठजी की ओर देखा। वह उन्हें शांत दिखाई पड़े। मँगरू उनके हाथ से भी वह फ़ार्म लेकर आगे बढ़ा।

थोड़ी देर में रुक्मिणी और पद्मा फिर जल-पान का सामान ले आईं। पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि सेठजी और राजा साहब एक दूसरे से मित्र-भाव से हाथ मिलाए खड़े हैं, और एक दूसरे से कह रहे हैं—"मुझे माफ़ कीजिए। मुझसे बड़ी भूल हुई।"